



दलित दर्शन

दलित दर्शन

संपादक

रमणिका गुप्ता
ज्ञान सिंह बल

सह-संपादक

द्वारिका भारती

नेहा प्रकाशन

दिल्ली-110092

ISBN 978-81-88080-27-4

© रमणिका फाउंडेशन

प्रकाशक

नेहा प्रकाशन

295, बैंक इन्क्लेव, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092

वितरक

शिल्पायन

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032

संस्करण : 2009

मूल्य : 350.00

आवरण-सज्जा : उमेश शर्मा

शब्द-संयोजन : उमेश लेज़र प्रिंट्स, दिल्ली

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-32

DALIT DARSHAN Edited by Ramika Gupta

क्रम

संपादकीय

ककार : दर्शन और विकास के सूत्रधार : रमणिका गुप्ता	7
दलित चिंतन के वैचारिक आयाम : ज्ञानसिंह बल	15

दर्शन, धर्म एवं नैतिकता

स्वतंत्रता, समानता, सामुदायिकता का दर्शन : गेल ओमवेट	47
आख्यानो और स्मृति पत्रों का पुर्नपाठ : रमणिका गुप्ता	75
ब्राह्मणवाद के विरोध के संदर्भ में एम.एन. राय और डॉ. अम्बेडकर के विचार : डॉ. रमेन्द्र	90
दलित नैतिकता बनाम वर्चस्ववाद : ओमप्रकाश वाल्मीकि	96
आदमी की दिशाबोध का हथियार है दर्शन : रमाशंकर आर्य	105
भारतीय वैज्ञानिक परंपरा पर ब्राह्मणवादी प्रतिच्छाया : द्वारका भारती	111

कला

क्या रंगकर्मी शूद्र होते हैं दलितों की कला को देन : चरणदास सिद्धू	121
---	-----

संस्कृति एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद : पृष्ठभूमि, स्वरूप और मंतव्य : ज्ञानसिंह बल	128
एक वैकल्पिक : दलित दृष्टिकोण की आवश्यकता : कांचा इलैया	148
डॉ. अम्बेडकर और व्यक्तिगत स्वाधीनता : दलित दृष्टिकोण : प्रकाश लुईश	168

वैश्वीकरण, दलित एवं समाजवाद

वैश्वीकरण, भारत एवं दलित संस्कृति और व्यक्तिगत स्वतंत्रता :	
सुखदेव थोराट	176
अंबेडकर का राज्य-समाजवाद : आनन्द तेलतुंबड़े	188
अंबेडकरवाद तथा मार्क्सवाद	
अंबेडकर तथा मार्क्सवाद में समन्वय की संभावनाएं : अभय मौर्य	216
डॉ. अंबेडकर एक पुनरावलोकन : थॉमस मैथ्यू	229
इतिहास एवं राजनीति दर्शन	
निर्गुण सन्तों की वाणी : सामाजिक क्रांति : डॉ. तेजस्वी कुट्टिमणी	238
दलित राजनीति का दर्शन : कंवल भारती	248
दासता तथा बंधुआगिरी : मंजीत सिंह	261
अंबेडकर युग में दलित चेतना की छटाएं, परिवर्तन, सुधार या प्रक्रिया की ओर : सुभाष गाताडे	272

सम्पादकीय

ककार : दर्शन और विकास के सूत्रधार

जिज्ञासा के द्योतक क्या, क्यों, कौन, कैसे, कब, कहां ये छः आदिम 'ककार' दर्शन के आधार हैं! कहा जा सकता है कि दर्शन इन छः आदिम जिज्ञासाओं के उत्तर खोजने का प्रयास है और आदिम विकास की कड़ी के सूत्रधार भी यही ककार हैं। जिज्ञासाएं जो आदिमकाल से मानव को उद्विग्न करती रही हैं, के शमन हेतु ही मनुष्य आदिम-सोच के नये आयाम गढ़ते-गढ़ते आदिम से मनुष्य के स्तर तक आ पहुंचा। अपनी इस यात्रा के दौरान वह अपने अनुभव, कल्पना और समाज के विकास हेतु, उसी के अनुरूप सिद्धांत गढ़ता रहा और एक के बाद एक संहिताओं, सभ्यताओं और दर्शन के दरीचे खोलता रहा है।

आदिम ने जैसे ही सोचने की शक्ति हासिल की तो वह 'अस्ति' से परिचित हुआ! और उसे अपने होने यानी 'अस्ति' का भान हुआ और उसने जाना 'वह है' 'जगत् है!' फिर भी उसके मानस में अनेक शंकाएं भिनभिना उठीं। उसने खुद को देखा आकाश को देखा और देखा धरती को! अपने दो रूप नर और मादा भी देखे उसने और मन ने पूछ ही लिया 'क्या हूं मैं, क्यों हूं मैं, कौन हूं मैं?' 'कैसे जन्मा मैं कब जन्मा मैं कहां जन्मा मैं!' 'क्या कोई देगा उत्तर? क्यों देगा कौन देगा?' शंका ने उसे फिर दबोचा 'बताओ! कैसे कब कहां मिलेगा उत्तर!'

क्या, क्यों, कौन, कैसे, कब, कहां, न जाने कितने ही संदर्भों से जुड़ने लगे ये ककार और न जाने कितने प्रश्नों की कितनी कतारें लग गईं इनके प्रमुटेशन और कॉम्बिनेशन से! वह इन प्रश्नों के उत्तर की खोज में निकल पड़ा दौड़ने लगा वह। हांफ गया थक गया पर रुका नहीं वह! ये प्रश्न उसने अपने अस्तित्व पर ही नहीं लगाए, वरन् प्रकृति के हर मोड़ पर, जीवन जीने के हर प्रयास व गति की हर रफ्तार और ठहराव पर लगाए। वनस्पति, हवा, गन्ध, आकाश, बादल, रात-दिन, नदी-पहाड़ और रंग-राग सब उससे कुछ न कुछ पूछने को उत्सुक लगे और वह उनसे पूछने को उत्सुक उत्तर गढ़ने, सोचने, सपनाने और उनके विभिन्न रूपों से नाता जोड़ने लगा।

उसने चारों ओर देखा, इर्द-गिर्द झांका इन्द्रधनुष को मुग्ध होकर ताका उसने

पेड़ों को हवा से झूमते देखा और सुनी उनकी सरसराहट। उसे लगा शायद जंगल कुछ कह रहा है उससे! पर क्या? और इस **क्या** की खोज ने उसे ऐसा दौड़ाया कि वह मीलों-मील, देशों-देश दौड़ता रहा! जंगल-दर-जंगल पार करता, हवा और जंगल की बातें सुनने को बेचैन बादल और बूंद के रिश्ते को जानने को आतुर सूरज और रोशनी की इबारत परछाइयों में खोजने को लालायित पानी और आग की शत्रुता का राज जानने को व्याकुल वह फूल की सुगंध क्यों नहीं पकड़ सकता से आश्चर्यचकित और विस्मित होता रहा। ब्रह्मांड और तारों के साथ घूमती उसकी सोच, गर्मी और सर्दी के रिश्ते तलाशती उसकी देह, प्रश्न-दर-प्रश्न पूछती रही और एक यक्ष प्रश्न बन गई।

वह चल पड़ा! रास्ते में उफनती नदियों ने उसका रास्ता रोका! समुद्र की लहरें उठ-उठ कर उसे बरजने लगीं, सावधान करने लगीं 'मत बढ़ो! आगे खतरा है!'

'क्या खतरा है, क्यों खतरा है, कौन है जो खतरा पैदा करता है, कैसे पैदा हुआ खतरा, कब खतरा हुआ, कहां खतरा है आदि सवालों ने उसके कदम रोक दिए। जंगलों में भीषण आग लग गई! इतनी भीषण गर्मी से कैसे बचे? आखिर क्यों रोकते हैं पहाड़, नदियां और समुद्र उसकी गति? कैसे पार करें इन्हें? आकाश से सफेद बर्फ के पत्थर क्यों गिरते हैं? हम कहां छिपें? कैसे बचें? कब बन्द होंगे ये पत्थर गिरने? प्रश्न-पर-प्रश्न आपस में टकराने लगे।

इन छः **ककारों** की आपसी टकराहट से ही निकला समाधान। नदी ने राह रोकी तो '**कब**' ने ही पूछा 'कब तक इन्तजार करोगे कैसे पाओगे पार इन मुसीबतों से? खोजो! कोई समाधान खोजो!'

और वह सोचने लगा 'बाढ़ में डूबता हूं, आग से जलता हूं, सर्दी में ठिठुरता हूं, रोगग्रस्त हो जाता हूं अंधेरा मुझे डराता है मृत्यु मुझे धमकाती है कैसे लड़ूं इन सब-से? कहां जाऊं, कहां छिपूं कि बच जाऊं?' तभी कहीं से छिपे रूस्तम '**कौन**' ने आकर पूछ लिया '**कौन बचाएगा?**' और मनुष्य का एक दल उस '**कौन**' की खोज में निकल पड़ा जो उसे बचाएगा। शायद खुद पर विश्वास चुक रहा था उसका। वह इंतजार नहीं करना चाहता था। दूसरी तरफ '**कब**' उसे समय को नापना और पलों को गिनना सिखाने लगा। इन्तजार करते-करते जब वह ऊब जाता तो बीते दिनों को गिनने लगता। आने वाले समय का क्यास भी लगाने लगा वह।

'**कब**' ने समय से जूझना सिखाया तो '**कैसे**' ने उसे समाधान के नजदीक ला खड़ा किया। उसने सीख लिया नदियों को पार करना। आग जलानी और बुझानी भी सीखी उसने। उसने आकाश में तारों की दिशा का अन्दाज़ लगाना भी सीखा। उसने सीखा खतरे से बचने का ढंग।

'**कैसे**' ने उसे सिखाया **इज़ाद** करना और आविष्कार के गुर। वह अपनी सुविधा यानी मनुष्य की सुविधा के लिए जुगाड़ जुटाने की फिराक में लग गया। वर्षा

से बचने के लिए छत बनाने लगा तो हाथी को फांसने के लिए गड्ढे खोदने लगा और शेर को मारने के लिए घात लगा कर मचान पर बैठने लगा।

‘कब’ और ‘कैसे’ ने उसे बहुत कुछ सिखा दिया था और यह सब मूर्त था पर अभी भी उसकी जिज्ञासा बाकी थी, शंकाएं बरकरार थीं। शंका ही तो प्रश्नों की जननी होती है न।

‘कैसे’ ने कहा साधन जुटाओ!’

‘जुटा तो रहा हूं, अब कहां जाऊं? कहां से लाऊं वह सब जो मुझे चाहिए?’

शंका ने उकसाया ‘पता करो, जाओ कोशिश करो, समाधान मिलेगा।’

‘कहां पता करूं?’

‘धैर्य रखो!’ अवचेतन मन में कोई बोला ‘कहीं न कहीं समाधान तो मिलेगा ही कुछ जुगाड़ लगाओ।’

बस तब से मनुष्य का कैसे-कब-कहां का समर्थक धड़ा समाधान जुटाने लगा, जुगाड़ बिठाने लगा अपनी दुनिया को सुखी-संपन्न और समृद्ध बनाने के लिए। ‘कैसे, कब और कहां’ उसे मूर्त-जगत् की तरफ ले गए और वह समूह के कल्याण के लिए सिद्धांत गढ़ने लगा। समूह के लिए जीने और मरने लगा। आजादी, भाईचारा और समानता उसके मंत्र बन गए।

सभी आदिम से मनुष्य बने मनुष्यों ने एक दिशा नहीं अपनाई। दो भाग हो गए सोच के। ‘क्या, क्यों और कौन’ का धड़ा जो आकाश और पृथ्वी, जीवन और मृत्यु की पड़ताल करने में जुटा था अनन्त में कहीं खो गया था। कुछ लोग अमूर्त के ध्यान में मग्न हो जंगलों, पहाड़ों पर जा बैठे तो दूसरी तरफ उन्हीं में से कुछ ने अपने ऐश्वर्यशाली भव्य-कक्षों में बैठकर बुद्धि की नाव के पाल खोल दिए। कुछ, अज्ञात-अनन्त में गोते लगाने लगे, जिसे उनकी कल्पना ने गढ़ा था। ‘पृथ्वी क्यों बनी? चर-अचर की उत्पत्ति क्यों हुई? मेरी उत्पत्ति का कारण क्या है? कौन है, जिसने पृथ्वी बनाई? कौन है, जिसने मुझमें श्वास फूँके? मैं कौन हूँ? क्यों पैदा हुआ मैं? क्यों मरता हूँ मैं?’ मरने के बाद क्या होता है? इन प्रश्नों की खोज में वे भूल-भुलैया में खोते चले गए। कुछ पहले ही ‘कौन’ के नेतृत्व में उस कौन-सी अदृश्य-शक्ति की खोज में निकल चुके थे, जो उन्हें निजात दिलाए, बचाए और खतरों से सुरक्षित रखे। कुछ को मृत्यु से डर लगता था। उसका वे सामना नहीं करना चाहते थे। उससे बचने या टालने के उपाय खोजने की बजाय, उन्होंने मृत्यु के बाद की दुनिया सपनानी गढ़नी और खड़ी करनी शुरू कर दी। यह पलायन था। उन्होंने देखा था अपनी देह को नष्ट होते, इसलिए उन्होंने आत्मा को गढ़ लिया, जो उन्हें पुनर्जन्म के सहारे दूसरे जन्म में, दूसरी देह में ले जाएगी। वे इस दुनिया में कष्टों का कारण या समाधान व निदान खोजने की बजाय, पूर्वजन्म में उसके कारण खोजने लगे और अगले जन्म में और अधिक सुख की चाहना पालने लगे। इसलिए उन्होंने

ककार : दर्शन और विकास के सूत्रधार 9

अलग से स्वर्ग और नर्क भी गढ़ लिए। अपने और मित्रों के लिए स्वर्ग शत्रुओं और विरोधियों के लिए नर्क। वे इस दुनिया को भ्रम कहने लगे, माया कहने लगे और किसी अदेखी-दुनिया को सत्य बताने लगे। इस प्रकार मनुष्य के उस अल्पसंख्यक चतुर वर्ग ने खुद को मजबूत करने हेतु अनुशासन के नाम पर एक ईश्वर भी गढ़ लिया, जो उनकी बात नहीं मानने पर उन्हें दण्ड दे। इस अल्पसंख्यक जमात ने समूह के हित की बजाय, व्यक्ति के हित की बात करने वाला दर्शन गढ़ लिया। यह दर्शन बुद्धि-विलासी बनकर अमूर्त में विचरने लगा। मनुष्य गौण हो गया। केंद्र में रह गए ईश्वर, गौड़, अल्लाह या अन्य अदृश्य शक्ति या शक्ति-पुंज !

दरअसल दर्शन के मूल में दो शब्द अस्ति और नास्ति यानी 'है' 'नहीं है' भी, दो निर्णायक अवधारणाओं के द्योतक हैं। इन्हें कई तरीके से व्याख्यायित किया गया है। आध्यात्मवादी-ईश्वरवादी लोग, इसे ईश्वर में विश्वास रखने वालों से जोड़कर आस्तिक कहते हैं और जो ईश्वर को नहीं मानते, उन्हें नास्तिक। यदि इन शब्दों का गहन अध्ययन किया जाए और सही अर्थ लगाया जाए और मनुष्य के संदर्भ में जोड़कर पढ़ा जाए, तो इसका अर्थ 'मनुष्य है मनुष्य के इतर कुछ नहीं है' होगा, अर्थात् मनुष्य के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति नहीं है। मनुष्य ही मनुष्य-जगत् का संचालक है, जो उसका कल्याण कर सकता है और दुनिया को सुखमय बना सकता है। कोई तीसरी शक्ति नहीं। इस सोच के अनुसार ये जगत् है जिसका नेतृत्व मनुष्य कर रहा है लेकिन इसके विपरीत 'क्या, क्यों और कौन' के समर्थक जगत्-मिथ्या कहकर मनुष्य के अस्तित्व को ही गौण कर देते हैं या कहे नकार देते हैं। उनके अनुसार 'अस्ति' यानी 'मनुष्य जो है' वास्तव में वह 'भ्रम है माया है' और 'नास्ति' जो 'नहीं है' यानी जो अदृश्य है या मनुष्य के इतर कोई अन्य तीसरी शक्ति है, वही मनुष्य-जगत् का संचालन करती है। ये जगत्-मिथ्या कहने वाले लोग स्वयं भी अपने निष्कर्षों से आश्वस्त नहीं होते और संभवतः इन्हें खुद पर भी भरोसा नहीं है, इसलिए सुविधानुसार ये बदल भी जाते हैं। ये भक्ति, समर्पण या आस्था जैसे आलंबन के सहारे उस अदृश्य-शक्ति से सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इनका कर्म में विश्वास नहीं है, इसीलिए ये श्रम को महत्ता नहीं देते। इन्होंने तीसरी-शक्ति के रूप में न सिर्फ ईश्वर को गढ़ा बल्कि अपने शरीर के नष्ट होने पर अपने अहम् को जिंदा रखने के लिए आत्मा भी गढ़ डाली और ब्रह्म या ईश्वर की कल्पना कर जगत् को नकारने लगे उस जगत् को जो मनुष्यों का, जीवों का, चर-अचर सबका निवास है जो समूहों से निर्मित है, चंद व्यक्तियों से नहीं।

इस दुविधाग्रस्त सोच वाले लोगों ने अपना संताप दूर करने के लिए हजारों देवता तो गढ़ डाले पर उन्होंने विश्व में मौजूद असंख्य मनुष्यों की शक्ति को नहीं स्वीकारा। उसे नकार दिया और असंख्य देवता खड़े कर दिए करोड़ों योनियां बना दीं और दर्जनों अवतार पैदा कर दिए। उस पर वे पूछने लगे 'कस्मई देवाय हबिसः'

यानी किस देवता के लिए हवन करूं? फलस्वरूप विश्व में जगह-जगह भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न समूहों में भिन्न-भिन्न देवता खड़े हो गये जो अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने हेतु आपस में होड़ लगाने लगे। वे हथियारबंद होकर आपस में लड़ने-भिड़ने लगे और एक-दूसरे को नष्ट करने लगे। मनुष्य के लिए काफिर, मलेच्छ या पगान जैसे शब्द, इन्हीं ईश्वर-भक्तों की देन हैं, जिन्हें ये उनके लिए प्रयुक्त करते हैं, जो इनके ईश्वरों को श्रेष्ठ नहीं मानते। इस प्रकार इन्होंने मनुष्य को बांट दिया ईश्वर के नाम पर।

विडम्बना तो यह है कि इन ईश्वरवादी-अध्यात्मवादी दर्शन के प्रचारक-प्रसारक व मानने वालों ने मनुष्य को निठल्लों, परजीवियों और शोषकों की जमात बना दिया। ऐसे लोग किसी तीसरी-शक्ति के अवतरित होने का इन्तजार करते रहे, जो उन्हें सुख और शांति देगी। वे खुद कुछ करने में विश्वास नहीं करते सब भाग्य और भगवान पर छोड़ देते हैं। बुद्ध के सूत्र 'अप्य दीपो भव' के ठीक विपरीत इन लोगों ने 'जो करेगा मालिक करेगा' अथवा 'मालिक तेरा आसरा' का मंत्र फूंककर साधारण-जन को मूक दर्शकों की जमात बना दिया। इस दर्शन ने उस मालिक तक पहुंचाने वाले बिचौलियों को शक्ति-संपन्न कर उन्हें आम आदमी के शोषण का अधिकार भी सौंप दिया और वर्चस्वाद की नींव रख दी।

अमूर्त सोच का ये धड़ा अमूर्तता में इतना मग्न हो गया कि उसे खुद में ही सब कुछ नज़र आने लगा और वह कह उठा 'अहम् ब्रह्मस्मि', 'मैं ही ब्रह्म हूं' लेकिन उस ब्रह्म में उसने एक अल्पसंख्यक सक्षम वर्ग को ही शामिल किया। उसने कहा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' पर उस वसुधैव में चन्द सबल वर्गों के सिवा बाकी साधारण लोग प्रवेश नहीं पाए। वे खुद को श्रेष्ठ मानने लगे! कुछ तो अपनी पूरी की पूरी नस्ल को ही श्रेष्ठ मानने लगे और कुछ अपनी जातियों और कबीलों को। इस विचारधारा के लोगों ने एक दर्शन गढ़ा जो मनुष्य को श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, ऊंचा-नीचा कहने लगा, सुपरमैन और कमजोर का दर्जा देने लगा और सक्षम ही जियेगा के सिद्धांत पर कमजोरों तथा तथाकथित अश्रेष्ठों और निम्न लोगों पर वर्चस्व जमाने की अपनी प्रवृत्ति को अपनी अधिकार सीमा में ले आया। दर्शन और धर्मशास्त्रों ने इस वर्चस्व के अधिकार पर अपनी मोहर लगा दी और सक्षम को कमजोर का शोषण करने का अधिकार दे दिया।

यह दर्शन और धर्म के गठबन्धन का नतीजा था जिसका तर्क और न्याय से कोई वास्ता नहीं था। जबसे दुनिया बनी है, यही बहस चल रही है। पहले दुनिया बराबर थी, बाद में वर्चस्ववादी सोच के लोगों ने उस पर कब्जा कर लिया। आज इन्हीं वर्चस्ववादियों से मुक्ति की, आजाद होने की जंग जारी है, जिसके लिए भाईचारा बनाना यानी सामुदायिक होना आवश्यक है और सबको बराबर मानना भी जरूरी है। जब तक भाईचारा नहीं होगा, समानता लाने के लिए सब प्रयास विफल

होंगे और समानता तभी होगी, जब सब आजाद होंगे और आजाद वही होंगे जो सबको अपने समान मानेंगे, मिलजुल कर समुदाय हितार्थ रहेंगे न कोई किसी से नीचा, न कोई किसी से ऊंचा।

अमूर्त-सोच ही वह **आध्यात्मवादी-सोच** है जो दर्शन को धर्म के जाल में फंसाती है या ये कहें कि दर्शन जब धर्म से मेल करता है तो वह **आध्यात्म का मुखौटा पहनकर अंधविश्वासों और करिश्मों को हथियार बनाकर सुपर-पावर से जोड़ देता है और मनुष्य-मनुष्य में विभेद करने लगता है**। वह अन्याय और बर्बरता का हथियार बन जाता है, यह इतिहास-सिद्ध है। आज तक विश्व में बर्बरता की प्रायः जितनी घटनाएं घटी हैं, वे धर्म, ईश्वर और आध्यात्म के नाम पर ही घटीं या उसके वर्चस्व के कारण। यह विभेदकारी सोच मनुष्य में श्रेष्ठता-बोध जगाकर, उसे अपने लिए विशेष सुविधाओं और साधनों को प्राप्त करने की ललक जगाती है और मनुष्य को दो दर्जों में बांट देती है एक ऊंचा दूसरा नीचा। वह सुविधाओं और अधिकारों को तराजू पर तोलने वक्त डंडी मारकर अपने लिए अधिक अधिकार हथिया लेता है और दूसरों को जीने के मूल अधिकारों से भी वंचित कर देता है। वह श्रेष्ठता की तरफ सतत बढ़ने के चक्कर में साधारण को अपना साधन और शिकार, दोनों बना लेता है और शोषण को अपना अधिकार। परिणाम होता है **‘वर्चस्व का दर्शन’**। भारत और यूनान और कुछ हद तक जापान की सभ्यताओं ने इसी श्रेष्ठता वाले दर्शन को पोषित किया। धर्म को सर्वोपरि मानने वाले मुस्लिम, ईसाई या हिन्दू देश भी ऐसी वर्चस्ववादी मुहिम में शामिल रहे हैं।

ठीक इसके विपरीत समूह के हित में **‘कैसे, कब और कहां’** के ककार विश्व-कल्याण की बात करते थे। उन्होंने मनुष्य-मात्र के कल्याण की बात कही। कमजोर को भी जीने का हक है, कोई ऊंचा-नीचा नहीं, कोई श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ नहीं, अगर बराबर अवसर मिलें तो सब बराबर हैं और यह दर्शन, सबको बराबर अवसर देने की मुहिम में विश्वास करता है। वर्चस्व जमाने के लिए किसी पर **दादागिरी** नहीं, भ्रम फैलाने के लिए कोई **ईश्वर** नहीं, इस जन्म के पाप अगले जन्म में शरीर धारण कर भुगतने के लिए कोई **आत्मा** नहीं। मनुष्य जन्मेगा तो मरेगा भी। मृत्यु के बाद कोई दुनिया नहीं। मृत्यु के बाद की दुनिया के लिए न इस जन्म का सुख नकारो और न ही उस जन्म के लिए किसी बिचौलिए को दान-दक्षिणा देकर स्वर्ग में अपना स्थान आरक्षित कराओ। अंधविश्वास की नहीं, **तर्क** की सुनो चमत्कार नहीं **तथ्य** और **सत्य** पर विकास करो। दर्शन की यह दूसरी दिशा है, जो वैज्ञानिकता पर आधारित है।

हालांकि इस दूसरी दिशा के कुछ चिह्न ईसा से पहले बुद्ध के समय या उससे भी पहले लोकायत या चार्वाक या कई अन्य धर्मों, धर्मों व सभ्यताओं में मौजूद थे, जिन्हें आध्यात्मवादियों ने नष्ट कर दिया था। **आध्यात्मवादी दर्शन** के पोषक

अल्पसंख्यक थे और जब-जब अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक पर अपना वर्चस्व जमाने और नेतृत्व करने पर आमादा हुआ है, उसने हर हथकंडे अपनाए हैं। तर्क को ताक पर रखकर उसने आस्था, चमत्कार और धर्म का सहारा लिया और बहुजन समूह का नेतृत्व और सत्ता हासिल की और अपनी सुविधानुसार उसे संचालित किया। इसलिए साधारणजन में जब भी कोई विद्वान या विद्रोही पैदा हुआ, उसे या तो इन अल्पसंख्यक आध्यात्मवादी शासकों ने नष्ट कर दिया अथवा जनता को बिमूढ़ बनाकर जनता द्वारा ही उन्हें पत्थरों से मरवा कर हमेशा के लिए चुप करा दिया और उनमें उभर रही नेतृत्व की क्षमता को समाप्त कर दिया। भारत में चार्वाक और यूरोप में गेलिलियो का मारा जाना और जॉन आफ आर्क का ज़िंदा जलाया जाना, जैसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

इन दो विपरीत सोचों के बीच भी मनुष्य ने सामंजस्य की कोशिश की और कई दर्शन गढ़े। इनमें कुछ का पलड़ा भाव-प्रधान आध्यात्मवादी अमूर्त दर्शन की तरफ झुका जो सृष्टि की उत्पत्ति के कारण खोजने, मृत्यु के बाद जीवन के लिए आत्मा, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य या कयामत के बाद जन्मत, दोख या हैवन्-हैल को आधार बनाकर, जिसका कोई प्रमाण नहीं ऐसे अदृश्य ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में जुटी है। यह सोच बुद्धि-वैभव की दुनिया में स्वयं भी मशगूल है और आम लोगों को भी भ्रम में जीने के लिए भरमाती और मोहती है।

दूसरी तरफ कुछ का पलड़ा पदार्थवादी, तर्कपरक वैज्ञानिक सोच पर आधारित कल्याणवादी, समतावादी, समूहवादी और आजादी की समर्थक सोच की तरफ झुका है। इस पुस्तक में इन्हीं दो विपरीत दर्शनों और उनके बीच की समन्वयवादी कड़ियों का अध्ययन, डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रतिपादित दलित-दर्शन को केंद्र मानकर किया गया है। दरअसल दलित-दर्शन समूह का दर्शन है, मानव का दर्शन है व्यक्ति का नहीं। हालांकि वह व्यक्ति की आजादी को भी मान्यता देता है लेकिन समूह के कल्याण को प्राथमिकता देता है। इस कल्याण के पीछे वैज्ञानिक सोच है, जो मनुष्य को केंद्र में मानकर उसके हित की बात करती है, किसी तीसरी-चौथी अदृश्य व अज्ञात शक्ति अथवा किसी अमूर्त अस्तित्व या अस्तित्वों को वह नहीं स्वीकारती।

दरअसल औद्योगिक युग के आने के बाद ही जब सामंतों और राजघरानों का वर्चस्व टूटा और पूंजीवाद का वर्चस्व बढ़ा तो आम आदमी की मजदूर के रूप में दरकार पड़ी, तब मनुष्य-केंद्रित सोच ने जोर पकड़ा। उन्नीसवीं, बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने जोर पकड़ा और विज्ञान ने ईश्वर और आध्यात्म का तिलिस्म तोड़ा। हालांकि वह पूरी तरह नहीं टूटा, अभी बहुत कुछ बाकी है। फिर भी यह टूटा नहीं तो दरका जरूर है। इस औद्योगिक क्रांति के बाद ही वर्तमान रूप में मनुष्य-केंद्रित दर्शन का विकास हुआ।

संत-दर्शन में 'ईश्वर की नज़र में मनुष्य बराबर है', के भजनों से हटकर

‘मनुष्य मनुष्य की नज़र में बराबर हो’ की गंभीर और निश्चित चेतावनी से भरी आवाज़ ने जोर पकड़ा। फ्रांस की क्रांति ने मनुष्य की आजादी, भाईचारे और बराबरी की बात की और आम आदमी को शोषण के गर्त से निकालकर सतह पर ला खड़ा किया और आदमी को आदमी होने का अहसास दिलाया। रूस में कार्ल मार्क्स के साम्यवादी दर्शन को साकार करने के लिए लेनिन के नेतृत्व में जारशाही साम्राज्य को उखाड़कर सर्वहारा की सत्ता की स्थापना की और राजशाही की पूरी साम्राज्यवादी व्यवस्था को उलट कर, साधारण सर्वहारा के हाथ में सत्ता सौंप दी। अमेरिका में गुलामों की मुक्ति के लिए गृहयुद्ध हुआ और गुलाम-प्रथा के अंत की मुहिम ने एक पड़ाव पार कर लिया। अमरीका में काले लोगों के आत्मसम्मान का संघर्ष वाशिंगटन टी. कूकर एवं किंग मार्टिन लूथर ने छेड़ दिया। इसी बीच विभिन्न उपनिवेशित देशों (भारत समेत) के मुक्ति-संग्राम शुरू हुए और उन्हें मुक्ति मिली। हिटलर-मुसौलिनी संचालित द्वितीय विश्वयुद्ध की हार से, नीत्से की सुपरमैन और हिटलर के आर्यों के श्रेष्ठ होने की नस्लवादी अभियान की हार हो चुकी थी। इन सारे संघर्षों की कड़ी के रूप में ही भारत में डॉ. अम्बेडकर द्वारा चलाया गया दलित-मुक्ति का संग्राम था, जिसके तहत समानता, भाईचारा और आजादी की मुहिम चली। इस मुहिम ने आम आदमी के समर्थक उस दूसरे दर्शन की धारा को मजबूत किया।

भारत में आज मुख्यतः दो ही दर्शन आमने-सामने हैं एक तरफ मनु/नीत्से का सुपरमैन, नस्लवाद और ब्राह्मणवाद पर आधारित आध्यात्मवादी विभेदकारी दर्शन तो दूसरी तरफ समता, भाईचारा और आजादी पर आधारित साम्यवादी, समाजवादी, फुले-अम्बेडकरवादी और बौद्ध-दर्शन। मनुष्य-केंद्रित सोच वाले इन दर्शनों का लक्ष्य एक है यानी समता, भाईचारा और आजादी। हां इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों या प्राथमिकताओं पर मतभेद जरूर है पर मनुष्य और उसका कल्याण ही इनका केंद्र बिन्दु है।

डॉ. ज्ञान सिंह बल की व्यापक व सम्यक् दृष्टि के कारण ही दलित दर्शन जैसे गहन विषय पर प्रस्तुत पुस्तक को सम्पादित कर प्रकाशित करने की हम हिम्मत जुटा पाए। द्वारका भारती ने संपादकीय सहयोग देकर तथा कई आलेखों का पंजाबी से हिन्दी में अनुवाद करके इस प्रयास को संभव बनाया, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। अकील कैस ने लेखों का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करके, हमारा जो सहयोग किया, वह अकल्पनीय है। इनके बिना यह कार्य संभव ही नहीं होता। हम उनका अभिनंदन करते हैं। इस प्रयास में दिनेश जी ने जो सार्थक भूमिका निभाई उसके लिए धन्यवाद शब्द छोटा है।

दलित चिन्तन के वैचारिक आयाम

ज्ञान सिंह बल

दलित-आंदोलन का सरोकार सिर्फ भारत की हदों तक ही सीमित नहीं रहा, इसकी अनुगूंज अब भारत की सरहदों को भी फलांग कर एक वैचारिक-आंदोलन का स्वरूप धारण कर चुकी है। इस वैचारिक-आंदोलन की पृष्ठभूमि में जो शक्तियां कार्यरत हैं वे दलित-साहित्य व चिंतन से ही प्रभाव ग्रहण कर रही हैं, यद्यपि शोषण के खिलाफ जूझने की प्रेरणा वह अन्य स्रोतों से भी प्राप्त करती हैं। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि दलित-चिंतन अम्बेडकरी-विचारधारा से ही तमाम किस्म की वैचारिक-ऊर्जा ग्रहण करता है। डॉ. अम्बेडकर के कुशल नेतृत्व में ही इस आंदोलन ने स्वभाव व चरित्र प्राप्त किया है तथा एक सुदृढ़ शोषण-रहित मानवतावादी समाज की स्थापना की नींव रखी है। 'बुद्ध या कार्लमार्क्स' नामक अपने आलेख में डॉ. अम्बेडकर, दलित-दर्शन का मनोरथ निश्चित करते हैं। उनके अनुसार "The function of philosophy is to reconstruct the world and not to waste its time in explaining the origin of the world" अर्थात् "दर्शन शास्त्र का कार्य विश्व को पुनःनिर्मित करना है, न कि अपना समय यह बताने में ही बर्बाद करते जाना है कि यह संसार कैसे आरंभ हुआ।" भारत में अछूतों, शूद्रों तथा औरतों के शोषण के इतिहास ने यह प्रमाणित कर दिया है कि शोषण के कारण सिर्फ आर्थिक ही नहीं बल्कि सामाजिक-धार्मिक तथा सांस्कृतिक भी होते हैं। भारत के इतिहास तथा संस्कृति की गहन समझ के कारण ही अम्बेडकर ने ब्राह्मणवाद को भारतीय समाज को जटिल बनाने तथा भारतीयों की अधिकतर समस्याओं के लिए जिम्मेदार माना। भारतीय इतिहास के बोध के मद्देनजर इस व्यवस्था को अम्बेडकर अति-विस्तृत धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अर्थों में परिभाषित करते हैं। इसी कड़ी में वे पूंजीवाद तथा ब्राह्मणवाद को मजदूरों के दो दुश्मन घोषित करते हुए अपना मत व्यक्त करते हैं कि "सिर्फ आर्थिक-शोषण समाप्त होने के कारण ही अद्विजों को द्विजों के तुल्य कदापि नहीं समझा जाएगा बल्कि पूर्ण मानववादी समाज की व्यवस्था के लिए ब्राह्मणवाद को नेस्तनाबूद करना ही आवश्यक होगा अन्यथा आर्थिक इंकलाब सिर्फ आर्थिकतावाद में ही परिवर्तित होकर रह जाएगा।" डॉ. अम्बेडकर की प्राथमिकता भारतीय सामाजिक परिवर्तन के एजेण्डे में

‘ब्राह्मणवादी व्यवस्था का समूल नाश’ शामिल करना था क्योंकि इतिहास के प्रति विशेषज्ञों की धारणाओं को वे रद्द कर रहे थे। इसके विपरीत महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा उनके समकालीन राष्ट्रीय नेता तथा अन्य बुद्धिजीवी भारतीय इतिहास की उच्च जातीय वर्ग-चेतना के आधार पर ही भारतीय समाज का मूल्यांकन करते थे। डॉ. अम्बेडकर की समझ (Approach) थी कि “वर्गों में बटे समाज को सामाजिक पायदान के निचले स्तर पर बैठे लोगों के दृष्टिकोण से समझना होगा चूंकि वे सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेत थे। यही उनकी (अम्बेडकर) आत्मा की आवाज़ थी और यही सत्य है।” (रूडोल्फ सी. हृदय, मेनस्ट्रीम (अंग्रेजी) जुलाई 1, 2000)

चूंकि डॉ. अम्बेडकर ब्राह्मणवाद को वैदिक परंपरा के तर्क-पूर्ण परिणाम के तौर पर समझते थे तथा इसी आधार पर प्रस्तुत करते थे, इसलिए वे ब्राह्मणवाद की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण-वर्ग तथा ब्राह्मणी व्यवस्था को भिन्न-भिन्न रूपों में देखते थे। उन्होंने स्पष्ट किया कि “मैं इस शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों के अधिकारों व सुविधाओं के रूप में नहीं कर रहा हूँ, जो उनको समुदाय के रूप में प्राप्त हैं। मैं इन अर्थों में ब्राह्मणवाद को परिभाषित नहीं कर रहा हूँ। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की भावना से विहीन होने से है। ब्राह्मण यद्यपि इसके सृजक हैं लेकिन आज इस भावना का अस्तित्व सभी वर्गों में मौजूद है, यहां तक कि ब्राह्मणवाद आर्थिक-क्षेत्र को भी प्रभावित करता है। निम्न जातियों में तो यह और भी अधिक सुदृढ़ रूप में मौजूद है।” (दी टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी, 1938) वर्णाश्रम, धर्म तथा आत्मा-परमात्मा में विश्वास, इस ब्राह्मणवादी-अवधारणा की मुख्य विशेषताएं हैं तथा इस अवधारणा को चिरस्थायी बनाने में बराबर वैदिक, ब्रह्मांडीय विज्ञान (Vedic cosmology) तथा उपनिषद्क-रहस्यवाद (Upanishadic Metaphysic) की भूमिका रही है। साधारणतया इसे वेदांत-दर्शन के नाम पर जाना जाता है। वेदांत का अर्थ है वास्तविक ब्रह्मांड तथा शुद्ध-चेतना भिन्न-भिन्न नहीं हैं। प्राकृतिक-घटनाक्रम आदि सभी परम-आत्मा के ही प्रतिबिंब हैं। इस ब्रह्माण्ड में समाज की संपूर्ण काया जिन प्राकृतिक आदेशों के अनुरूप निर्मित हुई है, वे हैं वर्ण, जाति, नर-नारी, असमानता, अस्पृश्यता, नैतिकता आदि। ये सभी इन ब्रह्मांडीय-आदेशों के अधीन हैं। आत्मा, ब्रह्म, चतुर्वर्ण, कर्म, पुनर्जन्म तथा मुक्ति आदि आदर्श सभी अटल व अवश्यम्भावी हैं। रामायण, महाभारत, गीता जैसे अनेक धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) एवं अर्थशास्त्र तथा आदि-शंकराचार्य जैसे व्यक्तित्व इस परम्परा को सुदृढ़ करने में संलग्न रहे हैं। इस परम्परा द्वारा दादागिरी (हैगेमोनिक) संस्कृति की बानगी को प्रभावित करने में निभाई अहम् भूमिका को डॉ. अम्बेडकर चित्रित करते हुए कहते हैं कि “यह तत्व भारतीय आर्थिकता को भी पूर्णतया प्रभावित करते हैं। पिछली एक सदी से इस वैदिक-परंपरा को आधार बना कर भारत को हिन्दू परंपरा का आधार मान कर ही, विश्व में भारत को हिन्दू पहचान देने के प्रयास होते रहे हैं तथा ब्राह्मणवादी सामाजिक धार्मिक-व्यवस्था को भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतीक

घोषित किया जा रहा है। इस स्थिति का तार्किक विवेचन यही किया जा रहा है कि यह व्यवस्था भारत के संपूर्ण विकास में कोई व्यवधान नहीं डालती तथा भारतीयों में शांति, प्रेम-भावना तथा सहनशीलता कायम रखती है। स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी, अरविंदों, वीर सावरकर तथा जवाहरलाल नेहरू आदि भी इस कथित भूमिका का यशोगान करते रहे हैं।” गांधी कहा करते थे कि “The calling of Brahmins as spiritual teacher and a scavenger are equal and their due performance carries equal merit before god and at one time seems to have carried identical reward before man”. (See Gail Onvedt **Budhism in India, P. 252**) अर्थात् ब्राह्मणों के आध्यात्मिक गुरु का कार्य व भंगियों द्वारा हाथ से पखाना साफ करने के कार्य का एक जैसा महत्व है क्योंकि परमात्मा की दृष्टि में दोनों कार्य एक समान हैं तथा दोनों का फल भी एक समान ही मिलता है।

हम पहले ही जवाहरलाल नेहरू द्वारा इतिहास के बारे में व्यक्त विचारों की चर्चा कर चुके हैं। उनके द्वारा की गई ब्राह्मणवाद की व्याख्या के अनुसार तथा उसकी विशेषताओं के यशोगान के अनुरूप तो जाति-व्यवस्था ने भारतीय समाज में एकता बरकरार रखने में एक वृहत भूमिका निभाई है और यह भी कि जातियों का अस्तित्व भारतीय लोकतंत्र में कोई खतरा प्रस्तुत नहीं करता। उनके तर्कानुसार वैदिक विचारधारा से प्रेरित राष्ट्रवाद उदारता पर आधारित है, जिसमें सभी जातियों के लोग संगठित होकर देश के विकास में अपना योगदान करने की सामर्थ्य रखते हैं। जवाहर लाल नेहरू तो यहां तक घोषित करते हैं कि ब्राह्मणवादी परंपरा में ‘श्रमण’ परंपरा समा गई है। स्पष्ट है कि पंडित नेहरू भारतीय दार्शनिक परंपरा में मौजूद समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृत्व के तत्वों से युक्त वैज्ञानिक व तार्किक दार्शनिक धारा को एक प्रकार से खारिज करते हुए नज़र आते हैं। जवाहर लाल नेहरू के यह उद्गार यहां हू-ब-हू प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा, जो निम्न प्रकार हैं In the ages since the Aryans had come down to what they called Aryavarta or Bharat Varsha, the problem that faced India was to produce a synthesis between this new race and culture and the old race and civilization of the Land. To that the mind of India devoted itself and it produced an enduring solution built on the strong foundation of a joint Indo-Aryan culture. Other foreign elements came and were absorbed. They made little difference... (after periodic invasion). The reaction was essentially a nationalist one... That mixture of religion and philosophy, history and tradition, custom and social structure, which in its wide fold included almost every aspect of the life of India and which might be called Brahmanism or Hinduism that

became the symbol of nationalism. It was indeed a national religion with its appeal to all those deep instincts—racial and cultural, which forms the basis everywhere of nationalism today.

अर्थात् जब आर्य लोगों ने आर्यव्रत या भारतवर्ष में प्रवेश किया तो यह समस्या प्रस्तुत हुई कि नई नस्ल तथा संस्कृति और मूलनिवासी नस्ल के लोगों और उनकी संस्कृति के मध्य संयोजन कैसे बनाया जाए। इस समस्या पर चिंतन-मनन करके भारत ने अति सुदृढ़ नींव पर आधारित संयुक्त इण्डो-आर्यन संस्कृति का सृजन किया, जिसने विदेशी-तत्वों को भी समायोजित कर लिया क्योंकि इनके प्रवेश के कारण भारतीय-संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। उल्टे इसकी प्रतिक्रिया बहुत ही राष्ट्रवादी किस्म की थी। ... धर्म तथा दर्शन, इतिहास तथा परम्परा, रीति-रिवाज व सामाजिक ढांचे का यह मिश्रण, जिसमें लगभग भारतीय जीवन का प्रत्येक पक्ष शामिल था और जिसे ब्राह्मणवाद या हिन्दूवाद (**Hindusm**) कहा जाता है, राष्ट्रवाद का प्रतीक ही बन गया था। वस्तुतः यह राष्ट्रीय धर्म ही था जिसका स्रोत नस्ली व सांस्कृतिक प्रवृत्तियां ही थीं जो प्रत्येक स्थान पर आज के राष्ट्रवाद का आधार होती हैं। (देखें बृजरंजन मणि की 'डीब्राह्मनाइजिंग हिस्ट्री' पृ. 35)।

जवाहरलाल नेहरू ने हिन्दुत्ववाद में केंद्रीय मान्यता प्राप्त घटक धर्म को भी बहुत महत्व दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि “यह संकल्प ब्राह्मणों की देन है तथा यही भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रतीक भी है। जवाहरलाल नेहरू जो कि पश्चिमी-सभ्यता में मौजूद व्यक्तिगत-स्वतंत्रता से भली-भांति अवगत थे, यह भूल बैठे थे कि हिन्दू संस्कृति में मौजूद ‘धर्म’ शब्द में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें वर्णानुसार ही व्यक्ति को अपने कर्तव्य पालन की व्यवस्था का आदेश है। ‘धर्म’ की व्याख्या बहुत से मनीषियों ने की है। ‘धर्म’ मानव के चार जीवन-उद्देश्य, यथा धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष निर्धारित करता है। आजकल यद्यपि ‘धर्म’ शब्द को हिन्दू-धर्म से चस्पान करके इसको धर्म-निर्पेक्ष जैसे अर्थ देने का प्रयत्न किया जा रहा है परन्तु आदिकाल से इनके अर्थ ब्राह्मण से ही जुड़े हुए हैं।” वास्तव में ‘धर्म’ का संबंध सदैव ही कर्म तथा पुनर्जन्म से संबंधित रहा है। कर्म, धर्म, पुनर्जन्म धर्म-शास्त्रों ने इन्हें सर्वव्यापक नैतिक कानून (**Universal moral order**) के तौर पर मान्यता दी है जो संपूर्ण-ब्रह्मांड तथा समाज को एक सूत्र में पिरो कर रखता है। भारतीय दादागिरी (हेजेमानिक) की संस्कृति में ‘धर्म’ को हिन्दू धर्म की आत्मा का दर्जा प्राप्त है। यह नैतिक व सामाजिक नियमों-सिद्धांतों का पालन है। हिन्दूवाद की यह केंद्रीय अवधारणा है। गाय-पूजन, वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था, इसमें एक आवश्यक तत्व के तौर पर शामिल है। भारतीय इतिहास पर नज़र डालते हुए यह जानकारी मिलती है कि श्रमणवादी मतों ने इसी ब्राह्मणी धर्म का बहुत ही पैनपन से विरोध किया था। बौद्धों ने तो एक बार ब्राह्मण व क्षत्रियों

को पराजित कर भागने पर विवश भी कर दिया था तथा अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इन मतों में शामिल थे जैन, बौद्ध, तांत्रिक, चार्वाक तथा कई विदेशी-तत्व जैसे शाक्य, यवन, तुर्क, मंगोल, आजीवक व सांख्य आदि।

“सामाजिक दर्जाबंदी के निम्न वर्ग परन्तु उक्त-पंथों से दूर कबीले तथा जाति-संबंधों से बाहर के लोगों में अछूतों की भिन्न विश्वास-प्रणालियां, कर्मकांड तथा रिवायतें थीं। इनको वनवासी कहा जाता था जिनमें निषाद्, शाबर, भील, मलिंद तथा अन्य और सैकड़ों वे लोग थे जो समाज के निम्न वर्ग से आते थे। चंडाल, डोम तथा इस प्रकार के अन्य कई लोगों का वर्णन साहित्यिक सूत्रों में आता है। इनके अपने-अपने धर्म थे, अपने-अपने पूजा-स्थल व देवी-देवता थे। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के अनुसार इन मतभेदों व भिन्न-भिन्न हुए मतों को बरकरार रखने के लिए ही ‘धर्म’ की अवधारणा को केंद्रीय बिंदु बनाया गया था। इस अवधारणा के अनुरूप ही, किसी भी व्यक्ति के सामाजिक-कर्तव्य व रीति-रिवाज उसकी जाति, वर्ण तथा धार्मिक आस्था से ही तय किये जाते थे। यह कर्तव्य जातिगत पद के अनुसार परिवर्तित भी होते रहते थे।” (देखें, ज्ञानसिंह बल, भारतीय समाज का धर्म निरपेक्षीकरण (पंजाबी), पृ. 16-17)

इस धर्म की अवधारणा की सामाजिक-मान्यता ने भी शूद्रों, औरतों तथा अछूत वर्गों को सदियों से अस्पृश्य की स्थिति में रखे जाने में अहम् भूमिका निभाई। डॉ. राधाकृष्णन तथा जवाहरलाल नेहरू भी यूनानी-दार्शनिक अरस्तु की भांति अपने श्रेणीबद्ध कुलीन-चरित्र से छुटकारा नहीं पा सके थे। इसी वैदिक ब्राह्मणवादीय वैचारिक नश्वर के प्रभाव के चलते ही जवाहर लाल नेहरू ने डॉ. अम्बेडकर द्वारा समर्थित हिन्दू कोड बिल का ऐन मौके पर समर्थन करने से अपना हाथ खींच लिया था, जबकि यह सर्वविदित है कि अंबेडकर ने उनकी वैज्ञानिक विचारधारा तथा लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से प्रभावित होकर तथा उनके ही कहने पर भारतीय स्त्री को उसके प्राथमिक मानवीय अधिकार सुरक्षित करने के उद्देश्य से बिल तैयार किया था। ज्योतिबा फुले तथा डॉ. अम्बेडकर इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था को शोषण-आधारित तथा राष्ट्र व विश्व के विकास में एक सशक्त अवरोध समझते हुए, इसके दार्शनिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक कारकों को नेस्तनाबूद करने की एक आवश्यक शर्त बताते हैं। यह दलित-चिंतन का एक उल्लेखनीय व अहम् पहलू है।

भारतीय इतिहास में वर्णों की परस्पर घृणा के कारण, समय-समय पर हुए भीतरी संघर्ष के प्रायः अनेक संदर्भ मिलते हैं। इस दौरान वर्णों में परस्पर युद्ध भी हुए। बहुत से ग्रंथ भी रचे गए। ब्राह्मण-ग्रंथों के मुकाबले में उपनिषदों की रचना हुई, जो कि जाप-तप, कर्मकांडों, यज्ञ-अनुष्ठानों, पशुबलि आदि के विरोध में थे। युद्ध भी निरंतर होते रहे। पहले ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में युद्ध चलता रहा परन्तु बौद्ध धर्म के आने से यह युद्ध ब्राह्मणों तथा निम्न वर्गों के बीच भी हुआ। इन युद्धों की एक

महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि “जब निम्न-वंशों व वर्णों के संघर्ष की दिशा कुलीन-वंशों की ओर बढ़ने लगी तो ब्राह्मण और क्षत्रिय मिल कर उसका मुकाबला करने लगे। बीच-बीच में ब्राह्मण इस मौके का लाभ उठाकर अपने पुराने शत्रुओं के विरुद्ध भी उस ताकत का मुंह फेर देने लगे। इसका एक सशक्त उदाहरण नंद-वंश का इतिहास है, तो दूसरा कौटिल्य का अर्थशास्त्र।” (विस्तृत रूप में जानने के लिए देखें भगवतशरण उपाध्याय की पुस्तक ‘भारती समाज का तत-निखेड़’ (पंजाबी में रूपांतरित) पंजाब बुक सेंटर, चंडीगढ़ पृ. 29 से 37)

वास्तव में जनसाधारण द्वारा पाली भाषा का प्रयोग तथा संघ का निर्माण भी ब्राह्मणों की वर्णाश्रम व्यवस्था पर किए गए ऐसे ही सफल आघात थे, जिससे ब्राह्मणों की भाषा तथा वर्णव्यवस्था दोनों ही प्रभावित हुए। इसके फलस्वरूप समाज में नव-विकास का विचार भी अस्तित्व में आया, जिसने बहुत हद तक समाज का स्वरूप भी परिवर्तित कर दिया। यदि बुद्ध भी अपने प्रचार में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते तो यह तय है कि उनके अनुयायी भी ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि ही होते। प्रचार भाषा पाली होने के कारण जनसाधारण, विशेषतया निम्न वर्ग उनका अनुयायी हो गया। उनके संघ में ऊंच-नीच के अंतर के बिना प्रवेश मिलना शुरू हुआ, तो ब्राह्मणों की तुलना में क्षत्रियों के अतिरिक्त कई अकुलीन निम्न-वर्ग के लोग भी उनके साथ हो लिए। मुमकिन है कि बुद्ध के धर्म-प्रचार का यह मनोरथ न भी रहा हो परन्तु इसका परिणाम यही हुआ। विरोध की यह नई लहर यद्यपि सिर्फ ब्राह्मण-विरोधी थी परन्तु उसकी दिशा कुलीनवंशीय ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों के विरोध की ओर हो सकती थी। सामाजिक द्वंद्वतात्मकता में और भी पैनापन आ गया था। (वही, पृ. 28) इस सामाजिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप सिंहासन भी पलटते रहे। शूद्रों ने भी नंद व पालों के नेतृत्व में अपना राज्य स्थापित किया। दोनों ही वंश शूद्र भी थे और बौद्ध भी। इस स्थिति का सीधा-सादा परिणाम हुआ ब्राह्मण धर्म का निर्बल होना, जिस कारण वर्णव्यवस्था को भी आघात पहुंचा। इसके बावजूद ब्राह्मणों ने इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने धर्म को पुनर्स्थापित करने हेतु अभियान जारी रखा। इस स्थिति में “गीता के रचयिता ने देखा कि यदि ब्राह्मण न रहा तो क्षत्रिय भी नहीं रहेगा, फलतः उसने सांख्य व वैशेषिक का, न्याय व योग का तालमेल कायम किया क्योंकि गीता चौकस भागवत् धर्म का ग्रंथ था, जिसका केंद्र क्षत्रिय था। उसका देवता गैर-ब्राह्मण कृष्ण था। यह धर्म ऐसे तो वेदों तथा कर्म-कांडों का विरोधी बना रहा परन्तु था यह बहुत ही चौकस धर्म। एक रणनीति के तहत इसने जनसत्ता के अंधड़ से बचने अथवा उसे दूर रखने हेतु एक बार फिर गीता में उसके अन्त्यय संबंधों में वर्णाश्रम धर्म की पुनर्व्याख्या कर दी। इन्होंने लिखा कि ब्राह्मण का धर्म पढ़ना-पढ़ाना, क्षत्रिय का प्रजापालन, वैश्य का कृषि तथा शूद्र का इन तीनों वर्णों की सेवा करना है।” (वही, पृ. 33-34)

भागवत् गीता की इस भूमिका को लेकर डॉ. अम्बेडकर इसके दो पहलुओं को उभारते हैं। पहला पहलू है गीता के रचयिता की ओर से वर्णव्यवस्था को दार्शनिक आधार प्रदान करना तो दूसरा सांख्य-दर्शन के त्रिगुण सिद्धांत के प्रारंभिक अर्थों को बिगाड़ कर प्रस्तुत करना है। डॉ. अम्बेडकर के ही शब्दों में “गीता द्वारा प्रस्तुत हिन्दू समाज-दर्शन को मैं रद्द करता हूं। गीता सांख्य-दर्शन के त्रिगुण सिद्धांत पर आधारित है, जो मेरे मतानुसार कपिल के दर्शन का निर्मम विकृत स्वरूप है। इस विकृतिकरण द्वारा ही गीता ने जाति-व्यवस्था, वर्ण तथा वर्ग-आधारित असमानता को हिन्दू सामाजिक जीवन का कानून बना दिया है।” (डॉ. अम्बेडकर का 3 अक्टूबर, 1954 को आल इंडिया रेडियो में दिया गया भाषण) इस विकृति को सही अर्थों में समझने के लिए सांख्य-दर्शन के त्रिगुण सिद्धांत की व्याख्या और उसका विस्तार समझना जरूरी है। सांख्य दर्शन के संस्थापक दार्शनिक कपिल हैं। सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति की क्रियाशीलता ने ही इस सृष्टि को जन्म दिया है। प्रकृति में तीन गुण मौजूद हैं “सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। प्रकृति में इन तीनों गुणों का संतुलन जितनी देर तक कायम था, संपूर्ण ब्रह्मांड निर्जन था। इस संतुलन के टूटते ही प्रकृति क्रियाशील अवस्था में आ गई अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड पल भर में ही जाग उठा।” दार्शनिक कपिल का यह भी विचार है कि सृष्टि का प्रत्येक जीव इन गुणों से सराबोर है तथा ये गुण ही प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति निर्धारित करते हैं। समय व स्थिति के अनुसार प्रत्येक मानव के जीवन में प्रत्येक गुण का प्रभाव घटता-बढ़ता रहता है अर्थात् कोई विशेष गुण किसी भी व्यक्ति में जन्मजात नहीं होता। ‘प्रकृति’ निःसंदेह ‘पुरुष’ के स्पर्श से ही क्रियाशील होती है परन्तु सांख्य-दर्शन के त्रिगुण का मनोरथ यह कदापि नहीं था कि इस आधार पर वर्णाश्रम-प्रणाली को उचित ठहराया जाए। दार्शनिक कपिल त्रिगुण सिद्धांत को संपूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति की व्याख्या के आधार पर ही विकसित करते हैं। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार भागवत्-गीता ने त्रिगुण सिद्धांत को विकृत कर ब्राह्मण-वर्ण में सतो-गुण, क्षत्रिय वर्ण में रजो-गुण, वैश्य में तमो-गुण में तथा शूद्र में सेवा-भावना के अस्तित्व को घोषित करके इन्हें जन्मजात-गुणों का दर्जा दे दिया। इस सिद्धांत ने ही वर्णाश्रम-धर्म को दार्शनिक सुदृढ़ता देकर इस दर्जाबंदी को भारतीयता प्रधान वर्चस्ववादी यानी दादागिरी (Hegemonic) की संस्कृति का मुख्य आधार बनाया है। यह नुक्ता भी महत्वपूर्ण है कि यदि प्रकृति तीन-गुणों से ही सुसज्जित है, तो चातुर्वर्ण्य वर्ण-व्यवस्था को इसके आधार पर कैसे उचित ठहराया जा सकता है? इस दार्शनिक पहेली को हिन्दू धर्म-शास्त्रों तथा ग्रंथों के टिप्पणीकारों व व्याख्याकारों ने सुलझाने का प्रयास क्यों नहीं किया? यह प्रश्न सदियों से ही एक पहेली के रूप में आज के दार्शनिकों को चिढ़ाता चला आ रहा है।

सांख्य-दर्शन अति-प्राचीन दर्शन है। औपनिषद्क-शिक्षा के विरोध तथा

प्रतिक्रिया के रूप में ही इस दर्शन का आविर्भाव हुआ है क्योंकि इसका स्वरूप प्रत्यक्षवादी था। सांख्य, वैशेषिक तथा न्याय-दर्शन ने सर्वप्रथम भारत में तर्क तथा भौतिकवाद की नींव रखी थी। इन्होंने, त्रुटियों के बावजूद संसार का वास्तविक रूप देखा और चित्रित भी किया था। डॉ. अंबेडकर तथा एम.एन. रॉय ने कपिल ऋषि को क्रमशः तर्कशील व पदार्थवादी दार्शनिक की संज्ञा दी है। ऐसे दर्शन को विकृत करने का मनोरथ संपूर्ण भौतिकवादी व बुद्धिवादी-दार्शनिक-परम्परा में तमाम किस्म की आशंकाएं उत्पन्न करना था। वास्तव में ऐसा हुआ भी। डॉ. अम्बेडकर का दार्शनिक-मनोरथ इस त्रिगुण सिद्धांत को उसका प्रारंभिक यानी मूल अर्थ प्रदान करके, सांख्य-दर्शन को एक बुद्धिवादी (**Rational**) दर्शन के रूप में चिह्नित करना और उसे वैचारिक-पटल पर स्थापित करना है। हो सकता है कि यह दुरुह हो लेकिन न होने पर यह एक अति महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध होगा। दलित-चिंतन की दृष्टि में भी यह एक बहुत महत्वपूर्ण बिन्दु है, जो कि उन बुद्धिजीवियों तथा विद्वानों से विशेष ध्यान की मांग करता है, जो इस जगत की भौतिक (**Material**) दृष्टिकोण से व्याख्या करके, उसे परिवर्तित करने का दम भरते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने भागवत् गीता द्वारा त्रिगुण सिद्धांत को विकृत करने तथा उस विकृति को वैचारिक-अंश बनाने के प्रयास का विरोध करके, वर्णाश्रम को प्रदान किए दार्शनिक आधार को चुनौती देने का एक प्रशंसनीय कार्य किया है। दर्शन की दुनिया में इसे सदा याद रखा जाएगा। बाबा साहेब ने गीता-दर्शन के आधार पर वर्णव्यवस्था के औचित्य के तर्क को एकदम रद्द किया है।

प्रसिद्ध विद्वान एम.एन. रॉय तथा डॉ. अम्बेडकर ने वेदांत दर्शन को भारतीय दर्शन के पांव जकड़ने वाला एक आध्यात्मिक तथा विचारवादी पृष्ठभूमि वाला दर्शन घोषित किया है। तथागत बुद्ध की दार्शनिक व सामाजिक-क्रांति के पश्चात्, भागवत्-गीता की रचना का मुख्य उद्देश्य वेदांत-दर्शन की पुनर्स्थापना करके, उसे वैचारिक-धरातल पर सुदृढ़ करने का एक सफल प्रयास कहा जा सकता है। एम. एन. रॉय तो स्पष्ट शब्दों में घोषित कर चुके हैं कि भारतीय-फासीवाद की जड़ें गीता के ईश्वरीय-दर्शन (**Divine Philosophy**) में मौजूद हैं। वे लिखते हैं “Incidentally, it may be mentioned that the roots of philosophy of fascism can be traced in the Divine Philosophy of Geeta i.e with all Powers others (**Bibhutes**) on earth are the powers of God. This philosophical Fascism is not a new phenomena, nor is it correct to say that Fascism has no philosophy. Fascist philosophy is the logical outcome of spritual way of life, the logical connection between the doctrine preached in the Geeta and Fascist neo-Hegelian metaphysical conception of state is easily percieved”. (**M.N. Roy, Philosophy of Fascism P.**

12) अर्थात् यह अंकित करना प्रासंगिक होगा कि फासीवादी-दर्शन की जड़ें गीता के ईश्वरीय/दैवी, दर्शन में देखी जा सकती हैं। इस दर्शन के अनुसार इस पृथ्वी पर मौजूद सभी शक्तियां (**Bibhuties**) ही ईश्वर की शक्तियां हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि दार्शनिक तौर पर फासीवाद कोई नवीन घटनाक्रम नहीं है। न ही ये सही है कि फासीवाद में कोई दर्शन ही नहीं है। फासीवादी दर्शन आध्यात्मिक जीवन-पद्धति की एक तार्किक परिणति है। गीता द्वारा प्रचारित इस सिद्धांत तथा फासीवादी नई दादागिरि (**New Hegelian**) पराभौतिक आधारित राज्य की अवधारणा के बीच यह तार्किक संबंध प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है।

उन्होंने कहा “The Hindus ideal society as prescribed by Hindu religion has acted as a most demoralising and degrading influence on Hindu society. It is Nietzsche in form and essence. Long before Nietzsche was born, Manu had proclaimed the Gospel, which Nietzsche sought to preach. It is a religion which is not intended to preach liberty, equality and fraternity. It is a gospel which proclaims the worship of Superman—The Brahmin by the rest of the society. It propounds that the superman and his class alone are born to live and rule. Others are born to serve them and nothing more. They have no life of their own to live and right to develop their own person”. (**B. R. Ambedkar writings+ speeches, P. 218**) अर्थात् इस आदर्श हिन्दू धर्म द्वारा निर्धारित हिन्दूवादी सामाजिक अवधारणा ने हिन्दू समाज पर अत्यंत ही अनैतिक एवं अपमानपूर्ण प्रभाव डाला है। इस आदर्श का सारांश तथा स्वरूप नीक्षियन है। जो सिद्धांत नीत्से ने 20वीं सदी में प्रचारित किया, वही सिद्धांत मनु ने बहुत समय पहले प्रचारित किया था। हिन्दू धर्म ऐसा धर्म नहीं है जो कि स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की भावना का वाहक हो। यह चाहता है कि संपूर्ण समाज सुपरमैन (**ब्राह्मण**) की पूजा में लगा रहे। यह घोषणा करता है कि सिर्फ ब्राह्मण को तथा उसके वर्ग को राज्य करने व रहने का अधिकार है अन्य तो मात्र सेवा के लिए उत्पन्न हुए हैं और वे अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने का अधिकार नहीं रखते। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू धर्म यथार्थ का आदर्शीकरण करता है और आदर्श का यथार्थीकरण। (**It idealises the real and realises the ideal**) यह हीगल के चर्चित वाक्य “आदर्श (**काल्पनिक**) ही यथार्थ है और यथार्थ ही आदर्श (**The ideal is the real and the real is the ideal**) अर्थात् जो कुछ भी अच्छा या बुरा दृष्टिगोचर होता है, वह उसी ईश्वर का ही रूप है और जो भी उस ईश्वर का रूप है, वह अच्छा ही अच्छा है वह बुरा हो ही नहीं सकता। यही ‘गीता’

का भी आदर्श वाक्य है, जिसे प्रसिद्ध विद्वान डी.डी. कौसंबी ने एक ऐसे दैवी-गान की संज्ञा दी है, जिसे ब्राह्मण सदैव ही ऊंची-जातियों के लिए गाते रहे हैं। वे इसे ब्राह्मणों के मुख से अन्य वर्गों, जैसे स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों आदि तक पहुंचाते रहे और ये वर्ग इन्हीं दैवी-गानों से प्रेरित भी होते रहे। **(Brij Ranjan Mani, Debrahmanising History, P. 63)** भागवत् गीता का आदर्श जाति आधारित सामंतवादी व्यवस्था है, जिसे भक्ति द्वारा विशेष रूप में प्रचारित व प्रसारित किया गया। *“यह जानना महत्वपूर्ण है कि गीता के प्रभाव का वही समय था जिस दौरान एक ओर लड़ाकू ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना होती है तथा दूसरी ओर बुद्धधर्म का पतन होता है। गीता से पूर्व जब बौद्ध धम्म का बोलबाला था तो समूचे समाज में एक नव-उत्साह था तथा सभ्यता एक फूल की भांति खिली हुई थी। गीता के उपरांत समाज में जो भी था वह तो था ही, साथ में आर्थिकता में ठहराव, संकीर्ण-दृष्टि, घातक जातिगत पिछड़ापन तथा सामंतवाद का बढ़ता हुआ प्रभुत्व आदि भी आ गया था।”* **(Brij Ranjan Mani, Debrahmanising History, P. 63)**

स्पष्ट है कि गीता का कर्मयोग व्यक्तिगत-स्वतंत्रता को नकारता है अर्थात् यह व्यक्तिगत-स्वतंत्रता पर आधारित नहीं है, जैसा कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान बाल गंगाधर तिलक से लेकर अरविंदो, महात्मा गांधी, राजगोपाल आचार्य तथा डॉ. राधाकृष्णन जैसे व्यक्तित्व अपनी-अपनी की गई व्याख्याओं द्वारा प्रचारित करने का प्रयास करते रहे हैं। इससे पूर्व ऐसा ही प्रयास आदि शंकराचार्य, रामानुज, ज्ञानेश्वर, माधव, वल्लभ भाई पटेल तथा निंबार्क जैसे चर्चित व्यक्तित्वों ने भी किया था। गीता का कर्मयोग व्यक्ति के जाति-आधारित कर्तव्यों की ओर ही झुका हुआ रहा है। इस तथ्य से कौन इंकार कर सकता है कि गीता यह आदेश देती है कि जातिगत-व्यवसाय को तिलांजलि देना तथा अंतर-जातीय विवाह करना सबसे बड़ा जुर्म है, चूंकि जातियों का समन्वय नर्क की तरफ ले जाता है और परिवार एवं जातीय मूल्यों को नष्ट करता है। **(There is no greater crime than abdicating ones birthbased accupation and marying outside ones caste, because mixing of caste leads to nought but hell and destroys all family and caste values)** आज भी देखा जा सकता है कि गीता-पंथी लोगों तथा संस्थाओं का जाति-व्यवस्था को तोड़ने का कोई ऐजेंडा नहीं है। ऐसा होना भी असंभव है क्योंकि श्री कृष्ण स्वयं ही यह घोषणा करते हैं कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के सृजक वे ही हैं। इस घोषणा को एक बहुत बड़ी निधि घोषित किया गया है। गीता के निष्काम कर्म-सिद्धांत ने औरतों व श्रमिक-वर्ग को सदियों से बहिष्कार की स्थिति में बनाए रखा है। गीता का यही सामाजिक आदेश, भारतीय समाज के घोषणा-पत्र व प्राकृतिक स्वभाव में रूपांतरित हो चुका है। इसको सुदृढ़ता प्रदान करने में ब्राह्मणवादी दार्शनिक परंपरा में आदि शंकराचार्य का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

शंकराचार्य का दर्शन 'अद्वैतवाद' तथा 'मायावाद' के तौर पर जाना जाता है। आदि शंकराचार्य का विचारवाद उनकी ओर से उपनिषदों, भागवत् गीता, बादरायण-सूत्रों पर आधारित भाष्यों द्वारा हम तक पहुंचता है। इसमें कोई शंका नहीं कि आदि शंकराचार्य एक अदभुत प्रतिभा के स्वामी थे, जिन्होंने मात्र 32 वर्ष की उम्र में ही अपने वैचारिक-तत्व (अद्वैत-वेदांत) को संपूर्ण भारत में फैला दिया था। शंकराचार्य ने विचारवादी दर्शन को जो विशेषता प्रदान की है, यह उसका ही कमाल है परन्तु यही कमाल एक दुखांत में भी परिवर्तित होता है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद भारतीय विचारवादी परंपरा का शिखर है। उपनिषदों का आत्मवाद, यद्यपि इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि है, परन्तु शंकराचार्य धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों द्वारा प्रचलित सामाजिक-बंधनों का मंडन लगातार करते जाते हैं। शंकर जहां वास्तविक यथार्थ (वर्तमान-जगत्) को भ्रम घोषित करते हैं, वहीं वे 'ब्रह्म' को 'परमार्थ-सत्य' कहते हैं। बाहरी जगत का तो उनके लिए जैसे कोई आस्तित्व ही नहीं है। बाहरी जगत की तुलना आदि शंकर उस रस्सी से करते हैं जो दूर से सर्प का भ्रम पैदा करती है। जैसे मानव रस्सी को सांप समझ कर जकड़ बैठता है, उसी प्रकार मनुष्य वास्तविक सत्य को वास्तविक-जगत् समझ बैठता है तथा इसमें ग्रसित होकर पानी में घुस जाता है। 'ब्रह्म' के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है तथा मुक्ति प्राप्ति यानी ब्रह्म मिलाप ही मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है।

आदि शंकराचार्य के दार्शनिक तत्व 'ब्रह्मवाद' का वास्तविक मनोरथ भारतीय-दर्शन परम्परा में मौजूद वैज्ञानिक परम्पराओं को विकसित होने से रोकना है वह इसमें सफल भी हुआ है। एक ओर शंकराचार्य बौद्ध-दर्शन की तार्किक परिपाटी को दुर्बल करने में एक अहम् भूमिका निभाते हैं तो दूसरी ओर वे 'न्याय-वैशेषिक' के दार्शनिक-तत्व 'आरंभवाद' तथा सांख्य-दर्शन के दार्शनिक तत्व 'परमाणुवाद' को झुठलाने चले जाते हैं। शंकराचार्य इन सिद्धांतों के स्थान पर 'विवरतवाद' (Vivarat Vad) का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, जिसके अनुसार कारण-कार्य या कारणता द्वारा परिवर्तन सिर्फ भ्रमात्मक परिवर्तन ही कहा जा सकता है। जबकि 'आरंभवाद' (असत्य-क्रियावाद) के अनुसार कार्य (Effect) वास्तव में एक नवीन-वस्तु होती है, सिर्फ कारण का ही रूप-भेद नहीं होती जैसे कि दही, दूध से बिल्कुल भिन्न होता है। इसी प्रकार पनीर, दूध व दही से भिन्न वस्तु होता है या जैसे वृक्ष से लकड़ी बनती है, जो वृक्ष से अलग होती है क्योंकि लकड़ी बेजान होती है। परिणामस्वरूप (सत्य-क्रियावाद) के अनुसार कार्य पूर्व से ही कारण में मौजूद होता है, अर्थात् नवीन-रूप कारण की अंतर-निहितता का ही एक प्रकट रूप होता है, जैसे कि मिट्टी से बना एक कलात्मक बर्तन मिट्टी में अंतर्निहित है। यह दोनों सिद्धांत व्यापक-परिवर्तन को दर्शाते हैं क्योंकि इनकी धारणा है कि अकारण कुछ भी घटित नहीं होता, यह वैज्ञानिक विमर्श कहलाता है परन्तु शंकराचार्य का विवृतावाद इन सभी सिद्धांतों का खंडन करके भारत

की वैज्ञानिक-परम्पराओं की सुदृढ़ता तथा विकास की संभावनाएं ही समाप्त करने में प्रयासरत रहा है। शंकराचार्य के लिए 'ब्रह्म' किसी परिवर्तन का कारक बन ही नहीं सकता क्योंकि वह तो **परम-सत्य** है और वास्तविक-जगत में जो कुछ भी घटित होता है वह वास्तव में सत्य ही नहीं बल्कि यह सब कुछ भ्रमात्मक भी है जिसको परिवर्तन कहा ही नहीं जा सकता है।

माक्सवादी विचारक डी.पी. चट्टोपाध्याय के अनुसार भारतीय विचारवाद का एक शक्तिशाली पक्ष है, तर्कविधि (**Reasoning**) को जनसाधारण में लोकप्रिय होने से रोकना। शंकराचार्य यही कार्य आठवीं सदी में करते हैं। वे तर्कविधि को ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया में कोई महत्व नहीं देते। इसके विपरीत वे तर्कशक्तियों की घोर निंदा करते हैं। इसके पीछे कारण यह है कि तर्कशास्त्री, विधि-वेत्ताओं व स्मृतिकारों की दलीलों का विवेकपूर्ण-खंडन करते हैं। शंकराचार्य को यह स्वीकार नहीं है क्योंकि वे तो स्मृतिकारों तथा धर्मशास्त्रियों द्वारा सृजित सामाजिक व कानूनी नियमों को उचित ठहराते हैं। शंकराचार्य मनुस्मृति में अंकित सामाजिक-नियमों को वेद-आधारित मानते हैं। उनके अनुसार जो भी मनु ने कहा है वह जनसाधारण के लिए एक दवाई है। शंकराचार्य का दृढ़ मत है कि वेद-निहित रहस्य अत्यंत सूझ-बूझ का परिचायक है जो कि अनादिकाल से 'ब्रह्म' का अविनाशी-ज्ञान कहलाता है, जबकि तर्कविधि अविश्वसनीय तथा अल्पकालीन-ज्ञान का बोध कहलाती है। स्पष्ट है कि जहां सांख्य-दर्शन के त्रिगुण सिद्धांत को भागवत् गीता ने विकृत करके प्रस्तुत किया है, वहीं शंकराचार्य ने बौद्ध, न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य-दर्शन की बुद्धिवादी व वैज्ञानिक परंपराओं को पल्लवित होने में अवरोध खड़े किए। वेदांत तथा अद्वैत-वेदांत की इस संपूर्ण-भूमिका का संज्ञान लेते हुए, डॉ. अम्बेडकर ब्राह्मणवादी दार्शनिक, साहित्य तथा सांस्कृतिक-स्रोतों को रद्द करने की जीवटता दिखाते हैं। वास्तव में बाबा साहब ऐसा करके भारतीय लोकतांत्रिक तथा प्रगतिशील परम्पराओं को और भी सुदृढ़ करने में अपनी प्रशंसनीय भूमिका का निर्वाहन करते दिखाई पड़ते हैं।

बाबा साहब से पूर्व भी ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, ताराबाई शिंदे तथा रमाबाई द्वारा ब्राह्मणवादी-व्यवस्था का खंडन किया जा चुका है। ज्योतिबा फुले की सांस्कृतिक तथा राजनैतिक अवधारणाएं बहुत ही मुखर हैं। उनका मत था कि *“ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध (राजनैतिक अधिकारों के लिए संघर्ष) देश को पूर्ण स्वतंत्र कराने के लिए आवश्यक नहीं है, जाति-पाति तथा अस्पृश्यता के विच्छेदन के लिए संघर्ष भी उतना ही आवश्यक है।”* फुले ब्राह्मणवादी व्यवस्था को (**ब्राह्मणवादी-साम्राज्य**) भारत के उजले भविष्य के लिए एक बहुत बड़ा खतरा मानते थे। उनके अनुसार इस व्यवस्था की जड़ें हिन्दू धर्म-शास्त्रों में हैं, जो कि जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता को ईश्वरीय-शक्ति प्रदान करते हैं, जिस कारण इस प्रकार की

व्याधियों को एक विलक्षण-स्वरूप प्राप्त हुआ। फुले ऐतिहासिक परंपरा के सृजन में एक अहम योगदान डालते हैं। फुले 'ब्रह्म', 'विष्णु' तथा इनके अवतारों तथा राक्षसों के परस्पर युद्ध को बुराई तथा अच्छाई का प्रतिनिधित्व करती हुई ताकतों के द्वंदात्मक रूप को प्रस्तुत करते हैं। हिन्दूवाद की कर्मकांडीय जीवन-पद्धति तथा इससे संबंधित कथनों को मूलतः खंडित करते हैं। फुले उत्पादन-संबंधों को नजरअंदाज नहीं करते, कुनबी-औरत की उत्पादक कृति को वे अपनी कविता में स्वीकारते हुए कहते हैं कि कुनबी-औरत खेतों में श्रम, घर की रसोई तथा बच्चों का पालन-पोषण करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हुए बेगारी भी करती है। अर्थात् वह ब्राह्मणों तथा ऊंची-जातियों के घरों में गंदा कूड़ा-कर्कट तथा बच्चों की देखभाल का काम एक परंपरागत बंधन के तौर पर ही करती है। दूसरी ओर ब्राह्मण औरतों को, वे एक सामाजिक-परजीवी के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मण औरत घर में बेकार रहती है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन-प्रक्रिया में उसका कोई योगदान नहीं है। यह औरत कभी भी शूद्र बच्चों की देखभाल नहीं करती और न ही उनके प्रति उसके दिल में स्नेह उमड़ता है, जैसा कि कुनबी औरत अपनी भूमिका निभाती है। फुले ने हिन्दू-मूल्यों को रद्द करके एक 'सार्वजनिक सत्य धर्म' के नाम के मूल्यों पर आधारित नव-जीवन यापन शैली का सृजन किया। यह एक संयुक्त समाज है, जिसमें परिवार एक खुली इकाई है तथा ऐसे समाज में एक मुसलमान, एक इसाई, एक बौद्ध तथा एक सर्व-जन्म-धर्मी संगठित होकर समान रूप से स्वतंत्रता वातावरण में रह सकते हैं। फुले की यह नवसमाज की अवधारणा लोकतांत्रिक व सैक्यूलर-समाज पर आधारित है।

रमाबाई ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'स्त्री-पुरुष तुलना' में हिन्दू मर्द-प्रधान समाज के मूल्यों पर कठोर वैचारिक आक्रमण किए हैं, जिसके चलते उन पर भी हिन्दू समाज द्वारा आघात पहुंचाए गए। रमाबाई ने हिन्दू पहचान को तिलांजलि देकर जोरदार-ढंग से भारतीय नारी के गौरव को कायम रखने हेतु कहा "जो भी निष्पक्षता से हिन्दू-संस्कृति तथा साहित्य की अध्ययनात्मक समीक्षा करते हैं, वे मनु जैसे विधिवेत्ता को कदापि भूल नहीं सकते, जिसने अपनी संपूर्ण सामर्थ्य औरतों को विश्व की दृष्टि में एक घृणित प्राणी के तौर पर पेश करने में ही खर्च कर दी...। मैं पूर्ण सत्य व ईमानदारी से कह सकती हूँ कि मैंने संस्कृत साहित्य में ऐसी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी, जो नारी की संवेदनाओं के प्रति इस प्रकार की घृणास्पद भावना फैलाती हो।" इसी संदर्भ में रमाबाई आगे कहती हैं "कितने आश्चर्य की बात है कि पांच पतियों के होते हुए भी द्रौपदी को कर्ण राजा की नीयत से घबराहट होती है। इस दशा में सत्यवती और कुंती की मनोदशा कैसी रही होगी? एक को अपने शरीर की दुर्गंध भगाने के लिए ऋषि के आदेश का पालन करना पड़ा तथा दूसरी को धार्मिक-मंत्र का पालन करना पड़ा। अजीब किस्म के हैं ये हिन्दू धार्मिक

देवी-देवता तथा ऋषि?" प्रचलित स्त्री-धर्म का ब्यौरा तिलांजलि देने को उत्साहित करते हुए ताराबाई शिंदे स्त्री-धर्म का ब्यौरा प्रस्तुत करती हैं और कहती हैं "स्त्री-धर्म क्या है? एक ही पति के प्रति अंधी व अनंत वफादारी, उसकी इच्छा के अनुसार ही सदा व्यवहार हेतु तत्पर रहना... वह पति चाहे उसे (पत्नी को) पीटे, गालियां दे, वेश्या से भोग-विलास करे, शराब पीये, घर-बाहर लुटा दे, रिश्वत ले परन्तु वह जब घर पहुंचे तो पत्नी उसकी देवता की तरह पूजा करे, जैसे कृष्ण ग्वालिनों से माखन चुरा कर लौटा हो। इस प्रकार के पतिव्रत-धर्म को खत्म कर देने के पक्ष में और भी अनेक तर्क अंकित किए जा सकते हैं।" पितृ-वंश प्रणाली के इस स्तंभ (पतिव्रता) के दोहरे मापदंड पर वे चोट करती हुई दृढ़ता से लिखती हैं "सावित्री एक औरत ही थी, जो यमराज की अदालत में अपने पति का जीवन बचाने हेतु पहुंच गई थी। चलिए, यह तो छोड़िए, क्या आप किसी मर्द का नाम ले सकते हैं जो कभी इस मार्ग पर चला हो? यदि पति की मृत्यु के पश्चात् औरत अपनी पवित्रता व अस्तित्व गंवा बैठती है तथा उसको एक दोषी की भांति अंधेरे में ही अपना शेष जीवन व्यतीत करना पड़ता है, तो क्या पुरुष भी अपनी दाढ़ी कटवाते हैं तथा एक सन्यासी की भांति शेष जीवन गुजारते हैं? यदि किसी देवता ने मर्दों को पत्नी की मृत्यु के दस दिनों उपरांत ही दूसरी औरत घर ले आने का प्रमाणपत्र जारी किया है तो मुझे दिखाया जाए।" ये दोनों साहित्यकार औरतें इस साहित्यिक सत्य पर अटल रहीं कि हिन्दू पुराण मान्यता प्राप्त धार्मिक-ग्रंथ नहीं हैं बल्कि वे कपोल-कल्पित कथाओं पर आधारित साधारण पुस्तकें हैं, जिनका उद्देश्य मर्दों का औरतों पर अपना वर्चस्व कायम रखना है तथा मर्द-औरत के संबंधों को ईश्वरीय-मान्यता की मोहर लगवाना है। उनका दृढ़ विश्वास था कि वे पुस्तकें व ग्रन्थ जिनमें धर्मशास्त्र, महाकाव्य, पुराण व इसी तर्ज या प्रकार का आधुनिक साहित्य भी शामिल है औरतों के चरित्र के बारे में दो प्रकार का नकारात्मक नज़रिया प्रस्तुत करता है। ऐसी पुस्तकों के अनुसार "That women of high and low caste as a clan were bad, very bad, worst than demons, as unwholy as untruth and that they would not get Moksha as Men could." अर्थात् औरत उच्च जाति की हो या निम्न जाति की, वे औरत होने के नाते ही बुरी होती हैं! बहुत बुरी! राक्षसों से भी बुरी! झूठ से भी बढ़कर अपवित्र और यह भी कि वे पुरुषों की तरह मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारी नहीं हो सकतीं। इस प्रकार की धारणा का खण्डन बुद्धिवादी-दर्शन में मिलता है, जो श्रमण परम्परा का मुख्य स्रोत है।

इसी परम्परा को मजबूत करते हुए बाबा साहेब अम्बेडकर ने अपने सामाजिक दर्शन की व्याख्या तीन सूत्रों में दी स्वतंत्रता, समता और भाईचारा। दलित-चिन्तन का आदर्श समाज का नवनिर्माण इन्हीं तीनों सिद्धांतों के आधार पर करना है। गीता ने सांख्य-दर्शन के त्रिगुण सिद्धांत को भी विकृत किया है। इस त्रिगुण सिद्धांत का मूल

अर्थ भी हमें यानी दलित चिन्तकों को ही प्रदान करना है और सांख्य दर्शन के बुद्धिवादी सिद्धांत को वैचारिक पटल पर प्रस्थापित करना भी उन्हीं का दायित्व बनता है।

2

भारतीय-दर्शन व सांस्कृतिक-परंपरा में सदैव दो प्रकार की वैचारिक-धाराएं बनी रही हैं। वस्तुतः इन्हें दो-परंपराओं का विभाजन कहना ही सटीक रहेगा। यह विभाजन वैदिक-समय में भी मौजूद था। पूर्व-वैदिक में भी इसके अस्तित्व के स्रोत स्थलों की संभावनाओं के स्वर हमारे कानों में पड़ते हैं। ये वैचारिक-प्रणालियां या परंपराएं हैं **ब्राह्मणिक** तथा **श्रमणिक**। इन दोनों परंपराओं का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। **श्रमण** शब्द संस्कृत-भाषा के **‘श्रम’** शब्द से पनपा है जिसका अर्थ है **श्रम करना**, **अर्थात् हाथों से कार्य करना**। प्रारंभ में धार्मिक वृत्ति के स्वामी व्यक्ति या फकीर को **श्रमण** कहा जाता था। पालि भाषा में श्रमण शब्द का प्रयोग किसी ऐसे **‘त्यागी’**, **‘एकांतवासी’** या तपस्वी-व्यक्ति के लिए किया जाता था जो **‘जीवन’** की परिभाषा की तलाश में मग्न रहता था। ऐसे लोग बेघरों का सा जीवन व्यतीत करते हुए जंगलों में रहते थे तथा वहां से जो कुछ भी जीवन-निर्वाह हेतु प्राप्त होता था, उससे जीवन-यापन करते थे। खान-पान हेतु जो कुछ भी उपलब्ध होता, उसी पर वे निर्भर रहते। दूसरी ओर ब्राह्मणवादी विचारों के वाहक गृहस्थ थे वे अपना ज्ञान गुप्त रखते थे। जनसाधारण को वे लोग विद्या-दान (**वैदिक-ज्ञान**) भी नहीं देते थे। जीवन, कर्म, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य आदि विषय इन वैचारिक-प्रणालियों के केंद्रीय-विषय होते थे। ब्राह्मणी-परंपरा के अनुसार पाप-पुण्य की व्याख्या, व्यक्ति के वर्णाधारित व्यवसाय का पालन या अवज्ञा कर्म पर आधारित था। **वर्णाश्रम** का पालन **पुण्य** था और इसकी अवज्ञा **पाप**। पालनकर्ताओं को स्वर्ग की प्राप्ति का फल तो अवश्य था परन्तु निम्न जातियों को ऐसा करने पर अगले जन्म किसी ऊंचे वंश में जन्म लेने की प्रक्रिया निर्धारित थी। **पुण्य** करने वाले को समाज में सम्मान प्राप्त होता था। **पापी** व्यक्ति को समाज की दृष्टि में गिरा हुआ असामाजिक-तत्व घोषित किया जाता था तथा उसे समुदाय से विलगता का दंश सहना पड़ता था। मुख्य तौर पर **ब्राह्मणी-परंपरा**, वर्णाश्रम-धर्म, वैदिक विचारधारा की पालक तथा **श्रमण-परंपरा** वैदिक-विचारधारा व वर्णाश्रम-धर्म की विरोधी थी। एक समय यह विभाजन स्पष्ट रूप में उभरा, जब वैदिक ब्रह्मांडीय-रहस्यवाद का विरोध तथा इसका रूपांतरण प्रस्तुत करने वाले लोग बड़े पैमाने में लघु-मत **श्रमण-परंपरा** में आ शामिल हुए हैं। इसकी पृष्ठभूमि में गौतम बुद्ध **‘श्रमण गौतम’** में रूपांतरित हो जाते हैं। जैन वाङ्मय में महावीर को भी श्रमण विशेष रूप से संबोधित किया जाता है। बौद्धों, जैनों के अतिरिक्त आजीवक, लोकायत, तंत्र-मत आदि भी **श्रमण-परंपरा** के पालक थे। अजित केशकंबली व सांख्य-दर्शन के संस्थापक दार्शनिक कपिल भी **श्रमण परंपरा** के समर्थक कहे गए

हैं। **श्रमण-परंपरा** व संस्कृति के सामर्थ्य को सटीक-अर्थों में समझने के लिए इसकी कुछ विशेषताओं को समझना अनिवार्य है। ये विशेषताएं हैं

1. श्रमण-परंपरा के पक्षधरों सभी मतावलम्बियों को वैदिक, श्रुति व स्मृतियों को मान्यता देने की मनाही।
2. पशुबलि की मनाही
3. श्रमण मत की शिक्षाओं के अनुसार द्विज तथा अद्विज जातियों में कोई विभाजन नहीं। इन मतों में कोई भी छोटा-बड़ा, उच्च-निम्न सम्मिलित हो सकता था।
4. इन मतों के संस्थापक पूजनीय व्यक्ति नहीं थे अर्थात् वे स्वयं को **अवतार** नहीं मानते थे और ना ही कहलाते थे।
5. अहिंसा तथा परस्पर-सौहार्द आवश्यक गुण थे।
6. इन मतों के संस्थापकों ने संस्कृत जैसी भाषा को अपनी शिक्षाओं का माध्यम नहीं बनाया बल्कि जनसाधारण की भाषा में ही अपनी बात कहने का प्रयत्न किया, जैसा कि बौद्धों ने पालि-भाषा का प्रयोग व अन्य मतों ने भी अपने क्षेत्र की स्थानीय उप-भाषाओं को प्रयुक्त किया। इसी कारण जनसाधारण इन मतों में सम्मिलित हो सके।
7. इन मतों ने ब्राह्मण-मतों की तरह, जिन्होंने श्रमण-मतों का प्रभाव समाप्त करने हेतु इनके अनुयाइयों के प्रति कठोर नीति अपनाई थी, अपने विरोधियों पर किसी भी प्रकार का अत्याचार नहीं किया।
8. श्रमण-मत धर्मांतरण को उत्साहित करते थे बल्कि कहना यह चाहिए कि ऐसा इनके अनुयाइयों का प्रबल विचार था क्योंकि ब्राह्मणवाद की परिधि में रहकर उनके लिए अपनी स्वतंत्र पहचान का निर्माण करना असंभव था। यही कारण था कि निम्न जातियों के लोग ही श्रमण-मतों में धर्मांतरित हुए।
9. श्रमण-मतों ने ब्राह्मणवाद में मौजूद **‘धर्म’** की अवधारणा या व्याख्या को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इस अवधारणा के अनुसार व्यक्ति का कार्यक्षेत्र उसके वर्ण (**जाति**) के आधार पर ही निर्धारित होता है। श्रमण धारा मूलतः इसके एकदम विरुद्ध थी।
10. श्रमण-मत की अति महत्वपूर्ण विशेषता जिसका यह विश्वास था कि **सांसारिक-सत्य** के बाहर ऐसी कोई **परम् सत्ता** नहीं है जिसे ब्राह्मणी-धारा में **‘ब्रह्म’** या **‘स्व’** कहा जाता है तथा ब्राह्मणी-मतों में जिसे केंद्रीय-स्थान प्राप्त है। ब्राह्मणी सामाजिक-साहित्य (**मनु-स्मृति, अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत तथा गीता आदि**) तथा उपनिषदों का दार्शनिक सारांश ही **आत्मवादी दर्शन** है। श्रमण-मतों का किसी ऐसे

अ-पदार्थक 'स्व' (Non Material self) तथा दूसरी दुनिया (परलोक) में कोई विश्वास नहीं है।

बौद्धकाल से पूर्व लोकायत, सांख्य, जैनमत, आजीवक-दर्शन आदि वैचारिक प्रणालियां वैदिक विचारधारा से भिन्न मानव व सृष्टि की उत्पत्ति, सामाजिक-दर्शन तथा नैतिकता के प्रति अपना-अपना मत प्रकट कर चुकी थीं। जैनियों का तो समाज में व्यापक प्रभाव था। इसी प्रकार 'लोकायत' भी जहां-जहां थे, अपनी-अपनी दृष्टि से ब्राह्मणों की विचारधारा का विरोध करते थे तथा व्यक्तित्व-स्वतंत्रता के प्रश्नों को उभारते थे। अन्य वैचारिक-प्रणालियां भी सहज रूप में समानता तथा स्वतंत्रता हेतु भरपूर सामाजिक माहौल सृजित करने में अपनी भूमिका निभा रही थीं। इनमें एक दुर्बलता भी थी। संगठित रूप में विरोध और प्रकटीकरण की असमर्थता, इनकी एक बहुत बड़ी दुर्बलता थी। शायद इनमें परस्पर तालमेल का अभाव रहा हो। बौद्धों ने इस कार्य को भली-भांति सम्पन्न किया। तथागत के नेतृत्व में बौद्ध-लहर देश व विदेश में निरंतर फैलती गई। गौतम बुद्ध ने अपने मुख्य तीन दार्शनिक सिद्धांतों के बल पर वैदिक-विचारधारा की पोल खोली। ये सिद्धांत थे अनित्यवाद (हर प्रकार के हालात तथा प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है), प्रतीत्य समुत्पाद (अकारण कुछ भी नहीं घटता, प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है) तथा अनीश्वरवाद अर्थात् आत्मा का कोई वजूद नहीं होता न ही ईश्वर नामक अस्तित्व है, जिसको सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान तथा कण-कण में विद्यमान कहा गया है। बुद्ध, वर्णाश्रम-आधारित नैतिकता के स्थान पर सामाजिक-नैतिकता या आज के संदर्भ में नैतिकता को सांस्कृतिक-रूपांतरण के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। यह चारों तत्व आदिकालीन बुद्धवाद के मूल सिद्धांत हैं। बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरांत बौद्धों के दो समूह पनपे हीनयान और महायान। हीनयान प्रारंभिक बुद्धइज्म के नियमों में किसी भी प्रकार की ढील देने को तैयार नहीं था जबकि महायान बुद्धइज्म के प्रचार व प्रसार हेतु बहुत से परिवर्तन करने को तत्पर था और उन्होंने परिवर्तन किए भी। इन परिवर्तनों के कारण ही महायान की व्याख्या करते हुए नागार्जुन 'शून्यवाद' की दार्शनिक अवधारणा को सृजित करते हैं, जो बाद में शंकराचार्य आदि की दार्शनिक अवधारण 'ब्रह्मवाद' के समानांतर चर्चा का विषय बनती है। इसके उपरांत गुह्य-तंत्र-यान, सहजयान तथा काल-चक्रयान जैसे मत अस्तित्व में आते, हैं जो कि आद्य-बौद्ध मत का प्रारंभिक स्वरूप एकदम बदल डालते हैं। इन मतों के अनुयायी यद्यपि वैदिक-श्रुति व स्मृति का विरोध लगातार करते रहे लेकिन जिन प्रश्नों को बुद्ध सदैव नकारते रहे, उन प्रश्नों पर सरगर्म चर्चा भी होने लगी। आद्य बुद्धइज्म में 'अणु दीपो भव' जैसा विधान था परन्तु अब इन मतों में गुरु की पदवी उभारी गई तथा जो बुद्धइज्म तर्क-परंपरा पर आधारित था, इन मतों ने तंत्र-मंत्र का एक विशेष प्रकार का रहस्यवाद सृजित किया, जिसमें सिद्धियों-साधनाओं का तंतुजाल प्रमुखता से उभरा। इसी के परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास में जो कुछ

भी घटा, वह हमारे सामने है।

इसकी पृष्ठभूमि में दलित-चिंतन के लिए जड़ें तलाशना बहुत ही आवश्यक व कठिन कार्य था। यह कार्य बाबा साहेब ने बखूबी किया है। इसी कारण **अम्बेडकर-दर्शन** को **दलित-दर्शन** की ऊर्जा माना गया है। इसकी पृष्ठभूमि में ही हमें दलित-चिंतन के क्षेत्र में बुद्धिज्म के महत्व को आत्मसात करना होगा। अम्बेडकर ने भारतीय-समाज के पुनर्निर्माण के लिए उस दार्शनिक धारा को चुना जिसका आधार **बुद्धिवादी** के साथ-साथ **लोकतंत्रीय** था। डॉ. अम्बेडकर के धर्मांतरण की उद्घोषणा का बहुत विरोध हुआ जो आज भी हो रहा है। इसके विरोधियों में **माक्सवादी** विचारधारा रखने वाले बुद्धिजीवी तथा राजसी कार्यकर्ता ही नहीं बल्कि, कई दलित-बुद्धिजीवी, साहित्यकार व राजनैतिक नेता भी हैं। हिन्दूवादी घोषणा करते हैं कि, मानवता से जुड़ा हुआ आर्थिक-समस्याओं का समाधान धार्मिक-उपायों द्वारा कदापि संभव नहीं हो सकता, आर्थिक-आवश्यकताओं की पूर्ति, आर्थिक-साधनों के समान वितरण द्वारा ही हो सकती है। उनका मत है कि अम्बेडकर ने बुद्धधर्म अपनाकर एक तरह से **पलायनवादी** परंपरा को उत्साहित किया। **माक्सवादियों** का एक मत यह भी है कि, **मूलभूत-ढांचा गिराए बिना** दूसरा अन्य कोई ढांचा निर्मित नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार **नव-आधार-ढांचा** लोकतंत्रीय तत्वों को खुद निर्मित करेगा, चूंकि ऐसा होना निर्धारित है, इतिहास में द्वंद्ववाद द्वारा ऐसा होते आया है। कहने का अर्थ यह है कि माक्सवादियों के लिए लोक-पक्षीय सांस्कृतिक धरातल निर्माण करने के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं है। माक्सवादियों की इस अवधारणा के उत्तर में डॉ. अम्बेडकर की मान्यता है कि, *वर्तमान सामाजिक ढांचा नेस्तनाबूद किए बगैर आधारभूत ढांचा परिवर्तित नहीं किया जा सकता।* उन्होंने 27 सितम्बर, 1929 में अपनी मराठी पत्रिका '**बहिष्कृत भारत**' में '**सर्वप्रथम शिखर, फिर आधार**' शीर्षक नामक लेख में कहा था *"यदि लेनिन भारत में जन्मे होते तो वे सर्वप्रथम जातिवाद व अस्पृश्यता को समाप्त करते। ऐसा किए बगैर वे अपना इंकलाब का चिंतन कभी भी प्रस्तुत न करते।"* इसी प्रकार वे आधारभूत ढांचे निर्माण-ढांचे की अवधारणा को चर्चा का विषय बनाते हुए 25 जून, 1938 के जनता समाचार पत्र में अपने द्वारा लिखित संपादकीय में स्पष्ट करते हैं *"आधार-ढांचा कोई ईंट-सीमेंट का भवन नहीं है। आर्थिक-संबंधों के आधार पर धार्मिक, सामाजिक तथा राजसी संस्थाओं का जो निर्माण किया जाता है, वह भी उतना ही सत्य है जितना कि आधारभूत ढांचा। यदि हम आधारभूत-ढांचे को परिवर्तित करना चाहते हैं तो, जो भवन इस पर निर्मित किया गया है, उसे गिराना आवश्यक होगा... यदि हम समाज के आर्थिक-संबंधों में परिवर्तन चाहते हैं तो वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक तथा निर्माण-ढांचे की अन्य संस्थाओं को नेस्तनाबूद करना ही होगा।"* (देखें, **Gail Ombet, Buddhism in India, Sage Publication Pages 256-257**)

भारतीय-इतिहास का मूल्यांकन करते हुए अम्बेडकर पाते हैं कि ब्राह्मणवादी विचारधाराएं, जो कि सदैव राज करती रही हैं, अन्य राजनैतिक शक्तियों से गठबंधन करके अपने दादागिरी या कहें कि **वर्चस्ववादी-चरित्र** को कायम रखती रही हैं। बर्बर-युग में विदेशियों का शासन रहा है, फिर मुस्लिम शासक तथा इसके उपरांत ब्रिटिश साम्राज्य का दौर रहा। इन सबमें ब्राह्मणवाद का बोलबाला हमेशा ही कायम रहा। भारत के इस विशिष्ट-वर्ग ने शासकों का साथ देकर अपनी सर्वोच्चता कायम रखने में हमेशा सफलता पाई है। जिस प्रकार से हिन्दूवाद का निर्माण ब्रिटिश-साम्राज्य के दौरान हुआ, उसमें पश्चिमी-इतिहासज्ञों तथा बुद्धिजीवियों की एक विशेष भूमिका रही है, जो आज हमारे सामने **‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’** के रूप में उभरी है। नेहरू, गांधी, अरबिंदो, स्वामी विवेकानंद, डॉ. राधाकृष्ण आदि चर्चित व्यक्तित्व किसी न किसी रूप में इस राष्ट्रवाद बनाम सांस्कृतिक-तूती को उत्साहित करते रहे हैं। मार्क्सवादी व समाजवादी सिर्फ ब्रतानवी-शासन व साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष तथा वर्ग-संघर्ष को ही प्राथमिकता देते रहे हैं। उनकी दृष्टि में ब्राह्मणवाद, देश व समाज के नवनिर्माण के लिए कोई खतरा नहीं था।

बाबा साहेब तथा उनसे पूर्व फुले, दलितों, पिछड़ों, आदिवासियों तथा औरतों के भविष्य के प्रति चिंतातुर दिखाई देते हैं, इसलिए वे ब्राह्मणवादी परंपरा को उखाड़ देने को आतुर थे। वे भारतीय इतिहास-बोध के समक्ष ब्राह्मणवादी परम्परा के रूपांतरण के रूप में **श्रमण परंपरा** की पुनः व्याख्या करके नव-स्वरूप में प्रस्तुत करने की ओर प्रतिश्रुत थे। उन्होंने अपने गहन-अध्ययन तथा जीवन के लगभग 40-50 वर्षों के अनुभव के उपरांत बुद्धिज्म को चुना। इसके साथ ही उन्होंने दार्शनिक कपिल के विचारों को नया अर्थ प्रदान किया, ताकि भागवत् गीता के रचयिताओं द्वारा जो सांख्य-दर्शन के त्रिगुण-सिद्धांत को बिगाड़ा गया था, की सही-व्याख्या करके, पुनः लोगों के समक्ष रखी जा सके। हम पहले भी वर्णन कर चुके हैं कि डॉ. अम्बेडकर का **नव-बुद्धिज्म**, तीनों ही प्रचलित परंपराओं से भिन्न है। यह परंपराएं हैं **हीनयान, महायान** तथा **वज्रयान**। डॉ. अम्बेडकर बुद्धिज्म को पुनर्जीवित ही नहीं करते बल्कि उसकी मौलिक व्याख्या भी करते हैं। **‘धम्म’** के सिद्धांतों को और समृद्ध व सुदृढ़ बनाकर समकालीन वैचारिक-परम्परा का नया मार्ग प्रशस्त है। यही कारण है कि डॉ. अम्बेडकर बुद्धिज्म को **नवयान-बुद्धिज्म** की संज्ञा देते हैं। क्रिस्टोफर कचीन ने **‘व्यस्त बुद्धिज्म’ (Engaged Buddhism)** का विशेषण लगा कर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि अम्बेडकर की बौद्ध परंपरा पलायनवादी नहीं है यह संसार के नवनिर्माण के लिए आवश्यक नैतिक-सिद्धांतों का कोड (**Ethical code**) है, जिसके आधार पर मानवीय संबंध बनाने में सहायता मिलती है। मानव-सभ्यता जिस पड़ाव पर पहुंच चुकी है इसके बाद अब उस बर्बरता की ओर नहीं लौट सकती जहां सब कुछ स्वतंत्र था। नव-मानव का निर्माण मानववादी

सांस्कृतिक-पैटर्न विकसित किए वगैरे असंभव है। ऐसा मानव रूस में नहीं बन सका। इसलिए यह नैतिक-संहिता आवश्यक ही नहीं, पवित्र भी है। इस संहिता की पारदर्शी-महत्ता (**Trancendental Value**) है। यह नैतिक-संहिता ‘धम्म’ की केंद्र-बिन्दु है। ‘बुद्ध और उसका धम्म’ नामक ग्रंथ में अम्बेडकर ‘धम्म’ और ‘धर्म’ का अन्तर स्पष्ट करते हैं कि “धर्म व्यक्तिगत होता है। जबकि ‘धम्म’ संसार का नवनिर्माण करता है। धर्म ईश्वर, आत्मा तथा अनेक ही अवैज्ञानिक-विश्वासों में ग्रस्त होता है, जबकि धम्म में आत्मा-परमात्मा जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व कदापि नहीं होता।” अम्बेडकर, बुद्ध धम्म के बारे में स्पष्ट करते हैं “धम्म का ईश्वर तथा आत्मा से कोई संबंध नहीं, बुद्ध के धम्म का अगले जन्मों में विश्वास आदि से कोई संबंध नहीं, न ही धम्म में किसी प्रकार के कर्मकांड व रीति-रिवाजों के लिए कोई स्थान है।” (**B.R. Ambedkar, Budha and his Dhamma P. 82**) बाबा साहेब स्पष्ट करते हैं कि “The Centre of his dhamma is man, the relation of man to man in his life on earth” अर्थात् धम्म में व्यक्ति ही केंद्र-बिंदु है। अर्थात् मानव का मानव से, इस जीवन तथा इस धरती से परस्पर गहन-संबंध है। (**B.R. Ambedkar, Budha and his Dhamma P. 82**) “इस धरती पर मानव दुःखों से ग्रस्त है, इन दुःखों से छुटकारा पाने में मानव की सहायता करना ही धम्म का मनोरथ है।” इस संदर्भ में बाबा साहेब कहते हैं कि “It preaches Rationalism and Buddhism is nothing if not Rationalism.” बुद्धवाद, बुद्धिवाद ही है, यदि यह बुद्धिवाद नहीं है तो यह कुछ भी नहीं है (वही, पृष्ठ-175) तथागत बुद्ध के दर्शन के परीक्षण का हमारे पास यही मापदंड है। पूर्ण-विश्वास से यदि कोई बात कही जा सकती है तो यह है कि “यदि बुद्ध तार्किक नहीं, तो कुछ भी नहीं है। इसलिए जो भी तार्किक है, वही तर्कसंगत है, वही बुद्ध के शब्द माने जाने चाहिए।” (**Writings and speeches Vol.- I, Govt. of Maharashtra. P. 350-351**) धम्म में सम्यक् विचार की चर्चा की गई है। सम्यक्-विचार (**Right Views**) ग्रहण करने के लिए तीन शर्तों का पालन अनिवार्य है 1. शास्त्रों में विश्वास नहीं करना, 2. उन सभी सिद्धांतों को रद्द करना जो वहमों-भ्रमों तथा परा-भौतिकवाद को उत्साहित करते हैं तथा (3) व्यक्ति, स्वतंत्र विचारों तथा स्वतंत्र मन का स्वामी हो। अम्बेडकर सांख्य-दर्शन के प्रारंभिक-सिद्धांतों की व्याख्या करते हैं। हम सांख्य-दर्शन के त्रिगुण सिद्धांतों की चर्चा पीछे कर चुके हैं। सांख्य-दर्शन के अन्य मुख्य विचार हैं (1) सत्य का आधार प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान ही हो सकते हैं। (2) मानव-चिंतन का आधार बुद्धिवादी होना अनिवार्य है (3) ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि परमात्मा है तथा यह संपूर्ण ब्रह्मांड उसका निर्माण है। (4) विकसित व अविकसित वस्तुओं का आधार, कार्य-कारण का सिद्धांत हो सकता है तथा (5)

जिसका अस्तित्व ही नहीं है, वह कार्यशीलता का विषय नहीं हो सकता। इस संक्षिप्त-सी पृष्ठभूमि में डॉ. अम्बेडकर के बुद्धवाद को ब्राह्मणवाद के दार्शनिक तथा सांस्कृतिक-बदल यानी परिवर्तन को समझा जा सकता है।

दलित-दर्शन के वाङ्मय में मध्यकालीन निर्गुण-संतों की भूमिका का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इन संतों ने 'श्रम' व श्रमिक दोनों को सम्मानित समझते हुए, सामाजिक मान्यता प्रदान की है। उनकी मुक्ति की अवधारणा में श्रम व साधना का सुमेल था। इन संतों के स्वर की एक विशेषता यह थी कि उन्होंने 'ब्रह्म' की प्राप्ति करके द्विजों की ज्ञान-प्राप्ति तथा ईश्वरीय-भक्ति की इजारेदारी को चुनौती दी। संत रैदास ने बेगमपुरे जैसे कल्याणकारी राज्य-प्रबंधन की अवधारणा का सृजन किया। इसी प्रकार कबीर ने ब्राह्मणी विचारधारा पर तीक्ष्ण व्यंग्य-वाण छोड़े। परन्तु, इसमें दो मत नहीं हैं कि, उन्होंने जाति-पाति तथा सामाजिक बहिष्कार का समाधार प्रभु-भक्ति या प्रेम-भक्ति में ही घोषित किया। वस्तुस्थिति यह है कि सिर्फ भक्ति द्वारा सामाजिक व आर्थिक-स्थितियों को जनसाधारण के पक्ष में परिवर्तित नहीं किया जा सकता क्योंकि **भक्ति विवेकशीलता** को दुर्बल बनाने में अहम् भूमिका निभाती रही है। बाबा साहेब की भी यही मान्यता थी कि, इन भक्तों-संतों ने वर्णव्यवस्था के विरुद्ध कभी कोई संगठित आंदोलन का सूत्रपात नहीं किया क्योंकि, संतों की दृष्टि में यही मान्यता प्रबल थी कि, परमात्मा की दृष्टि में सभी मानव बराबर हैं और परमात्मा के पास पहुंचकर सारे मानव एक-समान हो जाते हैं। यही कारण है कि वे इस संसार में व्याप्त असमानता के विरुद्ध संघर्षरत नहीं हो सके और न ही उन्होंने इस प्रकार की कोई रूपरेखा बनाने संकेत दिया। दलित-दर्शन में इन संतों के अवदान को इसी दृष्टि से अवलोकन करना पड़ेगा। फिर भी संतों के एकेश्वरवाद का प्रभाव जनसाधारण के मानस-पटल पर बने रहने की संभावना बहुत दृष्टिगोचर हो रही है।

3

दलित-चिंतन के अलोचकों में एक आम धारणा यह बनी हुई है कि दलित-आंदोलन आर्थिक-समस्याओं को नजरअंदाज करता है और सांस्कृतिक परिवर्तन तक ही सीमित है। वास्तव में ऐसा कदापि नहीं है। यह भी सही नहीं है कि अम्बेडकर (या दलित-आंदोलन) मार्क्सवाद को पूर्णतया रद्द करते हैं। कटु-सत्य तो यह है कि मार्क्सवादियों ने दलित-आंदोलन को न तो कभी गहराई से समझने का प्रयास किया और न ही दलितों, औरतों, आदिवासियों की ज्वलंत समस्याओं पर कोई ठोस नीतिगत व्यवहार अपनाया। डॉ. अम्बेडकर मार्क्सवाद के प्रभाव से कभी मुक्त नहीं रहे, उन्होंने मार्क्सवाद के महत्व को कभी नहीं नकारा यद्यपि भारतीय कम्युनिस्टों से उनके नीतिगत मतभेद रहे। उन्होंने कम्युनिस्टों की समीपता से कभी परहेज नहीं

किया लेकिन कम्युनिस्टों की ब्राह्मणवादी व सामंती मानसिकता से जैसे नेतृत्व को शायद अम्बेडकर का सामीप्य इतना लाभदायक कदम नहीं लगता था फलतः यह दूरी बनी रही। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि कम्युनिस्टों के प्रत्येक-आंदोलन में दलितों का भरपूर योगदान रहा। भारत की दलित-पैंथर लहर अंबेडकरियों तथा कम्युनिस्टों के सहयोग का ही परिणाम थी परन्तु यह सहयोग बौद्धिक स्तर पर अधिक देर तक कायम नहीं रह सका। भारतीय कम्युनिस्टों का आर्थिक पहलू के प्रति आग्रह ही किसी न किसी रूप में ये दूरियां बढ़ाने का उत्तरदायी रहा। फिर भी यह दावे से कहा जा सकता है कि डॉ. अम्बेडकर सामाजिक परिवर्तन की प्रबल इच्छा रखते थे और दलित भी आज परिवर्तन चाहता है वह आशावादी भी है लेकिन दलितों तथा लोकपक्षीय सत्तासीन ताकतों का ही परस्पर तालमेल नहीं बन पा रहा। अम्बेडकर भारत की सामाजिक-स्थितियों का अध्ययन करते हुए, द्विज-गतियों की मानसिकता को समझते हुए, बहुत ही स्पष्ट शब्दों में मार्क्स के आर्थिक एजेंडे तथा सर्वहारा (Proletariat) वर्ग की तानाशाही तथा निरोल (केवल) वर्ग-संघर्ष से ग्रस्त वैचारिक-परिपाटी से पूर्णतया सहमत नहीं थे। आज जबकि हम इक्कीसवीं-सदी में पदार्पण कर चुके हैं, तो हम देख रहे हैं कि डॉ. अम्बेडकर की भविष्यवाणियां एकदम सटीक सिद्ध हो रही हैं। आज हम देखते हैं कि आर्थिक-सम्पन्नता ने न तो जाति-पांति व्यवस्था को नुकसान पहुंचाया और न ही साम्प्रदायिकता के दंश के प्रभाव को कम किया। रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम रही, यद्यपि अब वहां भी यह व्यवस्था नहीं रही। चीन में माओ को तानाशाही कायम रखने हेतु 'सांस्कृतिक-इंकलाब' लाने के लिए शक्ति का प्रदर्शन करना पड़ा क्योंकि, चीन में प्रतिक्रांतिकारी शक्तियां अपना प्रभाव बढ़ा रही थीं। हालांकि चीन में प्रारंभिक बुद्धिज्म की जड़ें हरी थीं, इन्हें और भी सुदृढ़ किया जा सकता था। भारत में तो पूर्णतया ब्राह्मणी सोच का बोलबाला है।

जहां तक आर्थिक-व्यवस्था का प्रश्न है, डॉ. अम्बेडकर इस पर भी संघर्षरत रहे हैं। मार्क्सवाद के प्रभावाधीन ही उन्होंने 'संवैधानिक-राज्य-समाजवाद' व्यवस्था का मंडन करते हुए कहा कि राज्य-समाजवाद के बगैर खेती-सुधार नहीं हो सकता और ना ही पूंजीवादी लूट-खसूट खत्म हो सकती है। उन्होंने घोषणा की थी कि कृषि योग्य भूमि का राज्य स्वामी हो। इसी प्रकार गांव की संपूर्ण कृषि-योग्य भूमि पर राज्य की योजना के अनुसार कृषि हो। सभी गांववासी इस भूमि पर श्रमिकों की भांति श्रम करें ताकि कोई भूपति, स्वामी व मुजारा न हो। राज्य समाजवाद की योजना संविधान में अंकित हो तथा प्रत्येक संगठन पूर्णरूपेण इसे लागू करने को वचनबद्ध हो। संसदीय सरकार के रूप में राजनैतिक-लोकतंत्र की व्यवस्था होनी चाहिए। राजनैतिक-लोकतंत्र के साथ-साथ सामाजिक-ढांचा भी लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिए। प्रत्येक नागरिक को काम का अधिकार मिले परन्तु, सामाजिक-लोकतंत्र

‘एक व्यक्ति एक मत’ (One man one vote) तथा ‘एक वोट एक मूल्य’ (One vote one value) के सिद्धांत को मान्यता देता हो। न्यायधीश कृष्णा अय्यर, डॉ. अम्बेडकर के मिशन के बारे में कहते हैं कि (He was a man with a mission of liberation of man, a single soul thunder bolt which struck at the roots of human bondage, a social-militant with a vision of a society of egalitarian compassion with new dimensions beyond the economic diagnosis of Marxism and political liberty of Mill) (Justice V.R. Krishna Iyer, Dr. Ambedkar and Dalit Future P. 20)

अर्थात् यह एक ऐसा मनुष्य था, जिसका मिशन आजादी था। एक ऐसी अकेली आकाशी बिजली कि सी आत्मा, जिसने दासता तथा बंधुआगिरी की जड़ों पर प्रहार किया, एक ऐसा सामाजिक योद्धा, जिसके पास मार्क्स की आर्थिक-व्यवस्था का दृष्टिकोण तथा मिल की राजनैतिक आजादी की हदें फलांग कर, एक नए आयाम वाले समता-मूलक समाज के निर्माण का सपना था। डॉ. अम्बेडकर जाति व्यवस्था तथा आर्थिक-व्यवस्था के परस्पर अटूट-संबंधों का अध्ययन करने के उपरांत ही कहते हैं कि, जाति-व्यवस्था एक आर्थिक शोषण की ऐसी असहनीय प्रणाली है, जो सदियों से बेलगाम चली आ रही है। **(Unmitigated economic exploitation but also a system of uncontrolled economic exploitation)** अम्बेडकर दृढ़ता से कहते हैं कि लोगों की निर्धनता को दूर करने का ढंग भारतीय आर्थिक-व्यवस्था में मौजूद अव्यवस्था को दूर करके सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का निदान करने में छिपा है। उनकी यह भी मान्यता थी कि भारतीय कृषि की समस्याओं का समाधान औद्योगिकीकरण में है। औद्योगिकीकरण ही एक सुदृढ़ समाधान है, जिसे वरीयता देनी ही होगी। औद्योगिकीकरण से ही लघु खेती का स्थान बड़ी-खेती ले सकेगी, जिससे भारत को दीर्घकालीन लाभ होगा। किसी अन्य भारतीय मनीषी ने भू-सुधारों पर इतना बल नहीं दिया, जितना डॉ. अम्बेडकर ने दिया, यद्यपि जवाहर लाल नेहरू, राम मनोहर लोहिया तथा महात्मा गांधी जैसे नेता इस देश की प्रगति के कारक समझे जाते हैं। डॉ. अम्बेडकर गांवों की अर्थव्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन चाहते थे। उन्होंने बौद्ध परिपाटी की शरण में जाने के पश्चात् भी अपनी संवैधानिक-राज्य-समाजवाद की अवधारणा को कभी तिलांजलि नहीं दी। यह सही है कि वे **‘बुद्ध और उनका धम्म’** तथा **बुद्ध या कार्लमार्क्स** जैसी रचनाओं के उपरांत अम्बेडकर राज्य-समाजवाद की ओर झुकते हैं, परन्तु यह राज्य समाजवाद वह नहीं जिसका वास्ता मार्क्स से पड़ा था। डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक-लोकतंत्र, दार्शनिक-पैराडाइम-परिवर्तन **(Philosophical Paradigm shift)** वाला है यह ब्राह्मणी-सांस्कृतिक पैराडाइम से श्रमणिक-सांस्कृतिक पैराडाइम का परिवर्तन है जो

कि, योरोप के सोशल-डैमोक्रेट प्रस्तुत नहीं कर रहे थे। वहां यह उपक्रम मार्क्स व लेनिन करते हैं। उदाहरणतया मार्क्स ने यूनानी भौतिकवादी या दार्शनिक ऐपिक्युरिस की व्याख्या की तथा लेनिन ने हेराक्लाइटस को उभारा। भारत में बौद्ध व सांख्य दर्शन की पुनर्व्याख्या करके डॉ. अम्बेडकर ने बुद्धिवादी-परंपरा को उभारा है। योरोप के सोशल-डैमोक्रेट जनउत्पादन पर अधिक बल नहीं देते थे परन्तु अम्बेडकर बार-बार कहते हैं कि उत्पादन अधिक से अधिक होना चाहिए और इसका वितरण भी समान रूप से होना चाहिए। योरोप के सोशल- डैमोक्रेट जन अपनी राजनैतिक-स्वतंत्रता को आर्थिक-स्वतंत्रता के बराबर आधार प्रदान करने का प्रयत्न नहीं करते परन्तु बाबा साहेब इस दुर्बलता को उजागर कर बार-बार बल देते हैं कि आर्थिक व सामाजिक-लोकतंत्र के बगैर राजनैतिक- लोकतंत्र महत्वहीन होकर रह जाएगा। देश में आज जो हालात हैं, वे इस ओर ही इंगित कर रहे हैं। स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर ने सोशल-डैमोक्रेसी के रूप में भारतीय सामाजिक-परिवर्तन का अपना अलग प्रासंगिक मॉडल तैयार किया। दलित-चिंतन जिस समाज की कल्पना करता है, वह स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व पर आधारित तो है ही, इससे भी महत्वपूर्ण है कि इसमें पदार्थवादी बुद्धिवादी व आदर्शवादी-चिंतन अर्थात् 'धम्म' के बोलबाले का होना। डॉ. अम्बेडकर ने भी साम्यवादी समाज की स्थापना को अपना आदर्श माना है लेकिन इस साम्यवाद में जहां वर्गीय लूट-खसूट का विनाश होगा वहीं जाति-व्यवस्था का भी खात्मा होगा। ऐसा समाज ही मानवीय-विकास के शिखर छूने की संभावनाएं रखता है।

4

आज जब यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है, भारतीय समाज निर्धनता, व्यभिचार, साम्प्रदायिकता, जाति-पांति व अस्पृश्यता तथा अन्य कई सामाजिक-व्याधियों से ग्रस्त दिखाई दे रहा है। इन सभी मुसीबतों की पृष्ठभूमि में ब्राह्मणवाद कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में परोक्ष व अपरोक्ष रूप में अवश्य उत्तरदायी है। 'सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद' जैसे नारे इस विचारधारा को एक कटखनी व भयानक स्वरूप में परिवर्तित करने में सफल होते दिखाई पड़ रहे हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् जो राष्ट्रीय-एजेंडा तैयार किया गया था, वह पूर्णतया लागू नहीं हो पाया। भारतीय संविधान में अंकित उन धाराओं को दृष्टि से ओझल किया गया जो लोक-पक्षधर थीं। दलितों, आदिवासियों, पिछड़ों तथा नारी-वर्ग से संबंधित बहुत कुछ करने से रह गया। यदि भारत इक्कीसवीं सदी में विश्व में अपना सम्मान योग्य स्थान पाने का इरादा रखता है तो भारत को भूतकाल की भूल-भुलैया से बाहर निकल कर भविष्योन्मुखी होना पड़ेगा। मार्क्स ने उसी व्यक्ति को साम्यवादी कहा है जो भविष्य में विचरित रहता है। यदि भविष्य में रहना है तो भूतकाल का चिंतन छोड़ना होगा।

यह तभी हो सकता है जब हम ब्राह्मणवादी-दर्शन व साहित्य तथा उन सभी बेहूदा-मूल्यों को नकारें जो इसका कारक रही हैं। दलित-दर्शन ऐसा ही एक दार्शनिक व सांस्कृतिक रूपांतरण प्रस्तुत करता है।

दलित-दर्शन व चिंतन पर आधारित इस पुस्तक में कुल अठारह आलेख शामिल हैं। यह सभी आलेख दलित-चिंतन के विभिन्न-आयामों पर रोशनी डालते हैं। विषय के आधार पर हमने इनको छः भागों में विभाजित किया है ताकि, पाठक प्रत्येक-पहलू से भलि-भांति अवगत हो सके।

गेल ओमवेट एक अम्बेडकरवादी अंतर्राष्ट्रीय-ख्याति प्राप्त बुद्धिजीवी हैं। दलित-लहर को वे उन लोकतांत्रिक-लहरों में शामिल व भारतीय सामाजिक-संरचना को आमूल-चूल परिवर्तित करना चाहती हैं। अपने चर्चित-आलेख में गेल ओमवेट ने अम्बेडकर के त्रि-गुणी सिद्धांत 'स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व' को 'आजादी समानता तथा समुदाय' (**Liberty, Equality and Community**) द्वारा बदल कर प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि धर्म-परिवर्तन का मनोरथ एक ऐसा समुदाय स्थापित करना है जिसमें कोई जाति-भेद, लिंग-भेद व वर्गीय-शोषण न हो तथा जिसका आधार पदार्थवादी व आदर्शवादी (**अंतरमुखी**) वैचारिक द्वंद्व हो। उसके अनुसार मार्क्स ने बाह्यमुखी-तत्वों को तथा अम्बेडकर ने अंतरमुखी तत्वों को अधिक महत्व दिया है एक साम्यवादी-समाज को दोनों की आवश्यकता है। साम्यवादी समाज तार्किक-संस्कृति (**Rational Culture**) के बिना स्थाई नहीं रह सकता। डॉ. अम्बेडकर का 'नवयान-बुद्धिज्म' एक ऐसी ही नैतिक संहिता तैयार करता है। मानव-मन जब तक किसी नये-ढांचे तथा नये-मूल्यों को स्वीकार न करे, तब तक समाज का नवनिर्माण असंभव है। अम्बेडकर कहते हैं कि सबसे प्रथम कदम है मन का सांस्कृतिक परिवर्तन (**The first thing to attend to is the culture of mind**)।

रमणिका गुप्ता एक संवेदनशील साहित्यकार ही नहीं, वे एक संजीदा सामाजिक राजनैतिक कार्यकर्ता भी हैं। वस्तुतः वे एक संस्था हैं। दलित साहित्य की परिकल्पना को नया आयाम देने में उनका साहित्य जगत् में बहुत आदर से नाम लिया जाता है। उनका मानना है कि वे दलित साहित्यकार की श्रेणी में न होकर उसकी समर्थक हैं, जहां वे दलित साहित्य-लेखन का कार्य निर्बाध रूप से कर रही हैं। उनकी मान्यता है कि दलित-साहित्य दलितों को ही लिखने दिया जाना चाहिए क्योंकि, वे यथार्थ के अधिक समीपता रखते हैं। इस विषय में हमारा मत है कि आर्थिक शोषण के अतिरिक्त भी जिन जातियों या वर्गों का शोषण है हेगेमोनिक सांस्कृतिक-निर्देशों (**Hegemonic cultural prescription**) के प्रमाणाधीन होता चला आ रहा है, वे अभी दलित-समूह में शामिल हैं। वंचित व स्त्री की चेतना को जागृत करने व समृद्ध करने में रमणिका की जो भूमिका रही है, वह उनको दलित

खेमों में शामिल करने के लिए काफी है। इस पुस्तक में शामिल अपने आलेख में वे ब्राह्मणवादी-दर्शन तथा साहित्य के पुनर्पाठ पर अधिक बल देकर गैर-दलितों को संबोधित करने में प्रयासरत दिखाई पड़ती हैं, जबकि दलित-चिंतन ब्राह्मणवादी-दर्शन व साहित्य को प्रथम दृष्टि से ही नकारता है। रमणिका वैदिक-संस्कृति को विजेताओं की संस्कृति घोषित करती हैं। उन्होंने रामायण, महाभारत, मनुस्मृति में वर्णित धार्मिक-आदेशों, धारणाओं तथा पात्रों की भूमिका को दलित-खेमे में शामिल सभी पात्रों को असभ्य, अशिक्षित बनाने वाली संस्कृति को जन्म देने वाली कहा है। इस साहित्य में दलित पात्रों की ऐसी भूमिकाएं दी गई हैं जो उनको मानसिक-गुलाम बनाने की संस्कृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी दृढ़ता प्रदान करती रही है। रमणिका के अनुसार “रामकथा का प्रयोग करके ही उन्होंने विशिष्टी व्यवस्था के शिकार उन मूलवासियों को ऐसा रामभक्त बना दिया, जिसने उन्हें हनुमान, सुग्रीव तथा विभीषण में रूपांतरित कर दिया कि वे राम के बहकावे में आकर राम के हितार्थ अपने स्वजनों के विरोध में आ डटे। इस प्रकार राम ने उनकी एकता को तोड़ने की साजिश रची। उन्हीं में भेद डालकर उन्हें अपने मोहरे के रूप में इस्तेमाल किया।” यह घटनाक्रम आज भी जारी है।

रामेन्द्र बुद्धिवाद (Rationalism) के क्षेत्र में काफी समय से कार्यरत हैं। ‘बुद्धिवादी-समाज’ नामक संस्था द्वारा बुद्धिजीवी-चिंतन के प्रचार-प्रसार में मग्न रामेन्द्र, एम.एन. राय, ब्रटैंड रसल तथा डॉ. अंबेडकर के वाङ्मय को गहनता से पढ़ा तथा आत्मसात किया है। अपने आलेख में उन्होंने ब्राह्मणवाद के विरोध में एम.एन. राय तथा डॉ. अंबेडकर के विचारों को बहुत कुशलता से प्रस्तुत किया है। रामेन्द्र के अनुसार “ब्राह्मणवादी व्यवस्था, बुद्धि-विरोधी, अन्यायपूर्ण तथा गैर-लोकतांत्रिक है। उनका तर्क-संगत वैज्ञानिक-चिंतन तथा स्वतंत्रता, समता तथा भ्रातृत्व जैसे मानवीय मूल्यों से विरोध है... भारतीय संदर्भ में ब्राह्मणवाद, समाज के निर्माण में रुकावट है। यह कोई हैरानी की बात नहीं है कि ब्राह्मणवाद का विरोध निरंतर बढ़ता ही जा रहा है।” रामेन्द्र ने एम.एन. राय तथा डॉ. अंबेडकर के वाङ्मय के आधार पर यह सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है कि ब्राह्मणवाद का विनाश भारतीय इंकलाब के लिए प्रथम शर्त है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी दलित-साहित्य में एक चर्चित कथाकार व संवेदनशील कवि हैं। उनकी आत्मकथा ‘जूठन’ बहुत सी भाषाओं में अनूदित हो एक कालजयी कृति का रूप धारण कर चुकी है। उनके अनुसार दलित-दर्शन का नैतिक पक्ष ईश्वर-आधारित नहीं है। दलितों में निजी संपत्ति का दर्शन नहीं है। दलित-नैतिकता के अनुसार “औरत की स्वतंत्रता तथा श्रम का महत्त्व है। दलित-दर्शन में व्यक्तिगत-नैतिकता तथा सामूहिक-नैतिकता का सुमेल है। यद्यपि समूचे तौर पर सामूहिक-नैतिकता हावी है। ब्राह्मणवादी-नैतिकता ‘पुरुष-सूक्त’ श्लोक से प्रेरणा

प्राप्त करती है, जिसमें सिर्फ वर्णभेद का ही बोलबाला नहीं, बल्कि यह स्थिति आध्यात्मिक अधिनायकवाद के रूप में आज भी जारी है।”

रमाशंकर आर्य ने बहुत ही विस्तृत रूप में ब्राह्मणवादी परम्पराओं तथा श्रमण-परम्परा के आध्यात्मिक स्रोतों तथा भारतीय इतिहास के दौरान सामाजिक स्थिति पर पड़े अच्छे-बुरे प्रभावों का अध्ययन करके निर्णय किया है कि श्रमण-परम्परा ही दलितों की अपनी परम्परा हो सकती है।

द्वारका भारती ने अपने शोधपरक आलेख में ब्राह्मण दार्शनिकों और जड़-बुद्धि मनीषियों के दबाव में कैसे भारतीय दार्शनिक, अपनी वैज्ञानिक खोजों को प्रचारित-प्रसारित नहीं कर पाए और उनके डर से अपने वक्तव्य बदलने पर मजबूर होते रहे, का उद्घरणों सहित ब्योरा दिया है। आध्यात्मिक दार्शनिकों ने यूरोप में ही गैलिलियो जैसे वैज्ञानिकों, खगोलशास्त्रियों को नहीं सताया बल्कि इससे बहुत पहले भारत में भी वराहमिहिर, ब्रह्मदत्त और आर्यभट्ट जैसे खगोल शास्त्री भी ब्राह्मणवादियों द्वारा अपने सिद्धांत के विरुद्ध बोलने को मजबूर किए गए हैं। दर्शन और विज्ञान अगर साथ-साथ चलता तो भारत से मुक्त होकर विश्व स्तर पर एक अग्रणी देश होता और एक जागरूक, आत्मविश्वासी तथा संवेदनशील दुनिया कायम कर लेता।

चरणदास सिद्धू पंजाबी के एक ऐसे सफल नाटककार हैं, जिन्होंने अपने नाटकों में दलित पात्रों का यथार्थवादी रूप चित्रित किया है। वे गत 40-50 सालों से दलित-चेतना को समृद्ध करते आ रहे हैं। उनका सारा परिवार ही इस नाट्यकला को समर्पित है। इस पुस्तक में शामिल लेख में उन्होंने नाट्यकला में दलितों के योगदान को चित्रित करते हुए यह सिद्ध किया है कि संगीत-कला, दीवार-चित्र, नृत्यकला, मिट्टी के बर्तन, खिलौने आदि बनाने की कला में दलितों की अहम् भूमिका रही है। हास्य रंग की कला में सांसी-जाति से कौन आगे निकला सकता है? हस्तकला व उद्योग निम्न जाति का ही एक अभिन्न अंग रहा है। कला में इससे बड़ी प्राप्ति और क्या हो सकती है? चरणदास सिद्धू इस मौलिकता पर गर्व करने की प्रेरणा देते हैं।

कांचा इलैया दलित-चिंतन व साहित्य के एक बुद्धिजीवी व विद्वान हैं। बदलती संस्कृति के बदलाव का नमूना (**Pradigm**) जो उनकी अपनी रचना था, अपनी पुस्तक ‘**मैं हिन्दू क्यों नहीं**’ लिख कर शुरू किया था। उन्होंने अपनी नई पुस्तक ‘**बफलो नेशनलिज्म**’ (**Buffalo Nationalism**) में इसे और विस्तृत रूप दिया है। इस मुद्दे पर विचार और व्यापक चर्चा करने की आवश्यकता है, क्योंकि अंबेडकरी व अन्य दलित, प्रगतिवादी इस सांस्कृतिक व दार्शनिक दृष्टिकोण में स्पष्ट दिखाई नहीं देते। इस विशाल देश का, जिसमें सिंधु-घाटी जैसी प्राचीन सभ्यता को जन्म दिया, उसका आर्यन-संस्कृति से पूर्व अपना कोई सांस्कृतिक मॉडल अवश्य रहा होगा।

प्रकाश लुइस अपने आलेख में जाति-व्यवस्था तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विषय को दलित संदर्भ में छूते हैं। वास्तव में जाति-व्यवस्था के ढांचे में व्यक्तिगत-स्वतंत्रता की अवधारणा में व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसी कोई वस्तु है ही नहीं परन्तु दलितों के लिए सामूहिक-स्वतंत्रता का भी कोई अस्तित्व नहीं रहा। उन्होंने जो उद्धरण अपने लेख में शामिल किए हैं, ऐसी घटनाएं आज भी भारत के ग्रामीण-परिवेश में घटित हो रही हैं। दलित-औरतों को नंगा करके गांव की गलियों में घुमाना, विवाह जैसे शुभ अवसर पर दूल्हे को घोड़ी पर सवार न होने देना तथा सामाजिक बहिष्कार जैसी सामाजिक घटनाएं दलितों के व्यक्तिगत व सामूहिक स्वतंत्रता पर धार्मिक, सामाजिक प्रतिबंध वर्तमान काल के कलंकित उदाहरण हैं। सदियों पहले जो होता रहा है उसकी कल्पना करते हुए एक संवेदनशील व्यक्ति सिहर उठता है।

प्रकाश लुइस ने डॉ. अंबेडकर के उठाए इस प्रश्न को उठाने में निभाई भूमिका को रेखांकित किया है। परन्तु आज के संदर्भ में उनकी मान्यता है कि दलित-मुक्ति का प्रश्न, भारत के मुक्ति संग्राम की सफलता से ही बंधा है।

अपने आलेख में ए.के.थोराट ने वैश्वीकरण-प्रक्रिया के मुख्य तीन पक्ष उभारे हैं “आर्थिकता का निजीकरण, आर्थिकता को निजी संस्कृति द्वारा कार्यशील बनाना, राष्ट्रीय स्तर पर खुले व्यापारिक संबंधों की व्यवस्था करना आदि।” यह घटनाक्रम समाजवादी-आर्थिकता तथा आर्थिकता के आज के बनाए कानूनों व नियमों के अधीन चलने वाली व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है। इस नई आर्थिक व्यवस्था ने भारत में 1950 से लागू व्यवस्था को विपरीत दिशा में ला दिया है। 1980 से आरम्भ हुई इस व्यवस्था ने, बैंकों, बीमा कम्पनियों, शिक्षा, उद्योगों आदि जैसे 18 सैक्टर, जो पहले राज सरकार के पास थे, में से 14 निजी कम्पनियों को हस्तांतरित करके मात्र चार सैक्टर ही सरकारी नियंत्रण में रहने दिए हैं। शनैः-शनैः यह संख्या कम ही होती जाएगी क्योंकि भारत अब पूर्णतया उदारीकरण को अपना चुका है। इस योजना से साधारण जनता विशेषतया दलितों पर दुष्प्रभाव पड़ा है। थोराट एक सामाजिक विज्ञानी तथा बुद्धिजीवी हैं। उन्होंने विदेशों की आर्थिक नीतियों का अध्ययन भी किया है। उनका मानना है कि निजीकरण के प्रभाव से दलित भारतीय समाज के दायरे से पूर्णतया निष्कासित हो जाएंगे तथा जो प्रक्रिया उनको सामाजिक दायरे में शामिल करने में उत्साहित करती थी, वह रुक जाएगी। उनका मत है कि “दलितों को भू-स्वामित्व से दूर रखा गया है, इस वक्त तीन-चौथाई दलितों के पास भूमि नहीं है।” वे सुझाव देते हैं खाली पड़ी भूमि को चारागाह, साझा भूमि और जो कि फालतू भूमि है, उनको इकट्ठा करके और एक साझा भूमि-संग्रह कोष (Common pool of land) बना कर समाज-कल्याण महकमे द्वारा भूमिहीन दलितों को बांट दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार के कई सुझाव डॉ. थोराट अपने

लेख में उद्घाटित करते हैं।

आनंद तेलतुंबड़े एक बेवाक् क्रांतिकारी हैं। उन्होंने अंबेडकर पर बहुत कुछ लिखा है परन्तु वास्तव में वे एक ऐसे बुद्धिजीवी हैं जो दलित प्रश्नों का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समाधान करने का आह्वान करते रहे हैं। इस लेख में तेलतुंबड़े डॉ. अंबेडकर की राज-समाजवाद की अवधारणा को एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण से परखते हैं। उनका शोधपत्र है *“राज-शक्ति द्वारा समाजवादी व्यवस्था की धारणा गैर-इतिहासिक है”* अर्थात् ऐसा कभी हुआ ही नहीं है। कारण स्पष्ट है कि राज सदैव ही राजसी, वर्गीय-शक्तियों के अधीन होता है तथा उन श्रेणियों की नीतियों को ही हमेशा लागू करता है। राज इस प्रकार की स्वतंत्र संस्था नहीं रही जिस प्रकार की समाजवादी व्यवस्था लागू करने की आवश्यकता होती है। समाजवाद हमेशा ही श्रेणीबद्ध-संघर्ष से ही स्थापित हो सकता है। इस प्रक्रिया का कोई रूपांतरण नहीं हो सकता। राज-समाजवाद तथा समाजवादी राज को दर्शाते हुए वे कहते हैं कि *“वास्तविक समाजवाद का उद्देश्य समाजवादी-राज द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, राज (State) या संविधान ऐसे हथियार नहीं बन सकते।”*

दूसरी ओर **अभय मौर्या** तथा **थॉमस मैथ्यू** मार्क्सवाद तथा अंबेडकरवाद में बहुत समीपता देखते हैं। जैसे थॉमस मैथ्यू कहते हैं कि *“दोनों शक्तियां ही वर्गरहित तथा जाति-विहीन सामाजिक-व्यवस्था के लिए संघर्षशील हैं। वैचारिक-स्तर पर बुद्ध मार्क्सवाद के बहुत समीप हैं। दोनों ही उत्पादक साधनों का सामाजिक स्वामित्व चाहते हैं, डॉ. अंबेडकर का बुद्धिज्म इस देश की सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी शक्तियों के फासीवादी एजेंडे को लागू करने की कोशिशों के विरुद्ध वैचारिक व व्यावहारिक संघर्ष करने की सामर्थ्य रखता है, तथा अंबेडकर सामूहिक तौर पर सांस्कृतिक-फासीवादी के विरुद्ध संघर्षरत हैं।”* अभय मौर्या भी दोनों वैचारिक शक्तियों के सामूहिक-संघर्ष को समय की मांग बताते हैं। वे यह भी कहते हैं कि दलित-मुक्ति की समस्या समाजवादी व्यवस्था से ही संभव हो सकती है। दोनों लेखकों ने यह स्पष्ट करने की कोशिश भी की है कि समानता लाने हेतु वर्ग और वर्ण दोनों मोर्चों पर संघर्ष जरूरी है।

इस पुस्तक में शामिल चार लेखों का ऐतिहासिक तथा वर्तमान काल में भी महत्व है। डॉ. **मंजीत सिंह** ने दासता व बंधुआ-मजदूरी का बहुत ही प्रभावशाली ढंग से चित्रण किया है। पुरातन काल से लेकर 18वीं सदी तक संपूर्ण विश्व में गुलाम रखे जाते रहे हैं। वर्तमान काल में किसी न किसी रूप में यह प्रक्रिया अस्तित्व में है। बंधुआ-मजदूरी भी वैदिक-युग से लेकर वर्तमान युग तक कायम है। वैदिक-युग में तो स्त्रियां भी दास रखी जाती थीं। बंधुआ-मजदूर भी सामूहिक व व्यक्तिगत तौर पर रखे जाते रहे हैं। डॉ. मंजीत सिंह जो सामाजिक-वैज्ञानिकों तथा शोधकर्त्ताओं के खोज-परिणामों के संदर्भ में, बंधुआ-मजदूरी को यथावत् रखने के

जिम्मेदार राजसी व धार्मिक कारणों से काफी सामग्री प्रस्तुत की है। दलित चिंतन व साहित्य के क्षेत्र में यह रचना एक महत्वपूर्ण आयाम प्रस्तुत करती है। डॉ. तेजस्वी कुट्टीमनी मध्यमवर्गीय निर्गुण-धारा के संतों की ओर से भारतीय लोगों की चेतना को जागृत करने वाले योगदान का विशेष उल्लेख करते हैं। डॉ. कुट्टीमनी निर्गुण संतों की काव्य-रचना को श्रमण धारा का एक अंग मानते हैं। चर्चित दलित-लेखक कंवल भारती जो दलित-पत्रकारिता में सिद्धहस्त हैं, दलित-राजनीति के दर्शन, दशा व दिशा के बारे में बेबाक विचार रखते हैं। दलित राजनीति की दिशा के बारे में वे बेबाकी से कहते हैं कि “पूना पैक्ट से पहले बाबा साहेब अंबेडकर भारत में सामाजिक-परिवर्तन की ओर अग्रसर थे तथा उन्होंने दलितों का एक सुदृढ़ संगठन खड़ा कर लिया था। कम्यूनल अवार्ड के रूप में उन्हें इस दिशा में ठोस जीत प्राप्त हुई थी लेकिन पूना पैक्ट ने अंबेडकर के सामाजिक एजेंडे की दिशा पूर्णतया परिवर्तित कर दी थी।” कंवल भारती के अनुसार दलित-राजनीति का मनोरथ आरक्षण प्राप्त करना ही नहीं बल्कि वह सामाजिक-आर्थिक ढांचे में परिवर्तन से भी जुड़ा है। वे वर्तमान दलित-राजनीति की सीमाओं को रेखांकित करते हुए दलितों का सामाजिक परिवर्तन हेतु आह्वान करते हैं। वे दलित-राजनीति में आई विफलता से भी चिंतित हैं।

सुभाष गताड़े एक क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन से जुड़े हुए बुद्धिजीवी हैं। गताड़े अपनी कलम द्वारा अंबेडकर दर्शन के सरोकारों को बहुत कुशलता से प्रस्तुत करते हैं। इस आलेख में उन्होंने बाबा साहेब की राजनीति की दिशा तथा अंबेडकर के बाद की राजनीतिक दिशा में आए वैचारिक अंतरों के बारे में विस्तृत विचार प्रकट किए हैं। सुभाष गताड़े इस बिन्दु पर अधिक बल देते हैं कि दलित राजनीति का बोलबाला यद्यपि बढ़ा है परन्तु वैचारिक स्तर पर पनपी दुर्बलताएं भी साफ दिखाई पड़ती हैं।

उत्तर-प्रदेश में दलितों की बनी सरकार की कारगुजारी की प्रशंसा करते हुए वे यह भी उद्घाटित करते हैं कि इस प्रक्रिया के दौरान वैचारिक मुद्दों पर दलित-वर्ग ने जो हानि झेली है, वह बहुत ज्यादा है। यदि दलितों की भागीदारी वाली सरकार, दलित-पक्षीय, सावैधानिक व कानूनी धाराओं में विकृति पैदा करे तो इस स्थिति को राजनीति की लालसा ही कहा जाएगा। एक वैचारिक प्रतिबद्धता नहीं। गताड़े ने दलित राजनीति के दर्शन को पुनः वही एजेंडा अपनाने की सलाह दी है जो कि स्वतंत्रता से पूर्व था। यह एजेंडा था सामाजिक तथा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना तथा निर्माण।

दलित दृष्टि से समाज का अध्ययन तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने का यह हमारा वैचारिक ढंग द्विजों के ढंग से भिन्न है इसलिए इसकी दार्शनिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक-अवधारणा भी भिन्न होगी ही। इस पुस्तक में

यही अंतर प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रयास में हम कहां तक सफल हुए हैं इसका आभास स्नेही-पाठकों की प्रतिक्रियाओं द्वारा ही होगा। इस पुस्तक द्वारा हम देश के इस बुद्धिजीवी वर्ग से स्वस्थ आलोचनाओं की आशा तो करेंगे ही, साथ ही साथ उनसे यह आशा भी करते रहेंगे कि इस बीमार भारतीय-समाज को स्वस्थ करने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में हमारा मार्ग-दर्शन भी करें। यदि इसमें सदृश्य क्रिया का भी प्रावधान होगा तो हम इसके लिए भी तैयार हैं। भारत के इस वर्तमान सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक ढांचे से हम असंतुष्ट तो है ही, इसको कठोरता से परिवर्तित भी करना चाहते हैं यही हमारा सबसे आह्वान भी है। हम इस प्रक्रिया को थमने न देने के भी इच्छुक हैं।

मैं अपने सहयोगी द्वारका भारती का ऋणी हूँ जिन्होंने इस कार्य में आदि से अंत तक सहयोग दिया। रमणिका गुप्ता, जो हमारी प्रेरणा स्रोत हैं, उनके बिना इस कार्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। मैं उनकी दृढ़ता तथा उद्यमशीलता का अभिनन्दन करता हूँ।

दर्शन, धर्म एवं नैतिकता
स्वतंत्रता, समानता, सामुदायिकता का दर्शन
गेल ओमवेट

डॉ. भीमराव अंबेडकर का दर्शन तथा जीवन पुरातन एवं नूतन के मिलन-बिन्दु पर खड़ा है। यह एक ऐसे व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त दर्शन है जो गैरबराबरी तथा शोषण की अंतर्गुम्फित जटिलताओं वाले ऊंची-नीची जातियों के खांचों में बटे समाज की गहराइयों से उठकर एक नई समाज-व्यवस्था, जिसके प्रतीक स्वरूप भारतीय संविधान के निर्माण में उनकी भूमिका को लिया जा सकता है, की रचना में अग्रणी भूमिका निभाने को आया था। अंबेडकर निश्चित रूप से एक युगप्रवर्तक थे, जिनके जीवन तथा विचारों में पुरानी शोषणमूलक समाज-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की प्रतिबद्धता उस समाज का विश्लेषण करने वाली तथा एक नए समाज की रचना का पूर्व संकेत देती दृष्टि की उपस्थिति, देखी जा सकती है। मैं इस बात पर ही इस चर्चा को केन्द्रित करना चाहूंगी कि वह दृष्टि क्या थी और संसार को पुनर्गठित करने का लक्ष्य रखने वाले समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अन्य दर्शनों से, इस दृष्टि को किस प्रकार जोड़ा जा सकता है? मैं विशेष रूप से अंबेडकर के दर्शन तथा उनके द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणों की तुलना मार्क्सवाद से करूंगी। अंबेडकर स्वयं भी ऐसा अवसर किया करते थे और देश का रैडिकल सोच वाला कोई भी नागरिक अंबेडकर के दर्शन और मार्क्सवाद में तुलना किए बिना नहीं रह सकता।

विगत सहस्राब्दी के मूल्यांकन के साथ-साथ यह समय नई सहस्राब्दी के लिए अपनी आशाओं तथा आकांक्षाओं को आकार देने का है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि अंबेडकर इस प्रयास में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में हमारे सामने आते हैं। दलितों तथा भारतीय समाज में दलितों की भूमिका का प्रचार-प्रसार हो रहा है और भविष्य में जब लोग उन यंत्रणाओं और परिवर्तनों का स्मरण करेंगे, जिनसे भारतीय समाज को गुजरना पड़ा है और वैश्विक समाज के निर्माण में इस समाज के लोगों के योगदानों के बारे में सोचेंगे, तो उन्हें स्वीकार करना होगा कि बाबा साहब अंबेडकर ही वैश्विक-भारतीय विरासत के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। नेहरू

एक राष्ट्रीय नेता थे और उनकी बेटी इंदिरा गांधी भी एक राष्ट्रीय नेता थीं। महात्मा गांधी जिन्हें आज पूरा विश्व पर्यावरणीय आन्दोलन का अग्रणी नेता मानता है, जरूर एक वैश्विक व्यक्तित्व थे किन्तु 1939 में बाबा साहब द्वारा प्रकट किया गया यह कटु मंतव्य कि यह गांधी-युग भारत का अन्धकार-युग है (खंड 1 : 352)¹ की महत्ता मेरे विचार से बनी रहेगी क्योंकि गांधी जिन-जिन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते थे, हिन्दू धर्म के पक्ष में उनकी उद्घोषणा और एक ग्राम्य समाज चाहे उसका रूप कितना भी आदर्श क्यों न रहा हो का उनके द्वारा महिमा-मंडन, पिछड़े और आधुनिक समाज से पहले के मूल्य ही हैं। न्याय, स्वतन्त्रता और समानता की भारतीय परम्परा में बाबा साहब ही आते थे जिन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति के आदर्शों को देशी रूप एवं आकार दिया।

मेरे शब्द यहां कुछ कठोर हो गए हैं क्योंकि इन मूल्यों को लेकर भारत में आज तीखी और जोरदार बहस चल रही है और क्योंकि बाबा साहब ने स्वयं भी इस बहस से जुड़े मुद्दों यानी विकास, स्वतन्त्रता एवं समानता के प्रश्नों पर कठोर शब्द इस्तेमाल किए थे और इन को लेकर तीखी मुद्रा अपनाई थी।

नयी समाज-व्यवस्था के अपने दर्शन के सार के रूप में अंबेडकर स्वयं भी अक्सर 'स्वतन्त्रता, समानता, भाई-चारा' के फ्रांसीसी क्रान्ति के महान उद्घोष को प्रस्तुत करते थे। भाईचारा या (**Fraternity**) शब्द में एक बड़े विश्व परिवार से जुड़ाव का भाव है पर चूंकि इससे पुरुषत्व की गंध आती है, इसलिए मैं इसकी जगह सामुदायिकता (**Community**) शब्द का प्रयोग करना चाहूंगी, जिसे भाईचारे (**Fraternity**) के समान अर्थों में ही लिया जा सकता है। स्वतन्त्रता, समानता तथा सामुदायिकता नई सहस्राब्दी के लिए मानव-दर्शन के तीन सबसे महत्वपूर्ण अंग हैं। ऐतिहासिक विकास में तथा अंबेडकर के अपने विचार दोनों में वे मानव तर्क (**विवेक**) तथा ऐतिहासिक उन्नति के प्रबुद्ध विश्वास से अविभाज्य रूप से जुड़े हैं।

'प्रबोधन' (जागृति) एवं फ्रांसीसी क्रांति के महान मूल्यों पर आज आक्रमण किए जा रहे हैं। भारत में यह हमला छद्म स्वदेशी के समर्थकों द्वारा किया जा रहा है, जो इन मूल्यों को मात्र पश्चिमी मूल्यों के रूप में देखते हैं। विश्व स्तर पर यह हमला उत्तरआधुनिकतावादियों तथा ईको-रोमैन्टिसिस्ट लोगों, जो उन्नति को असंभव मानते हैं तथा वामपंथियों का एक भाग जो उदारवाद तथा स्वतंत्रता (**liberty**) को बुर्जुआ शब्द का पर्याय और एक प्रकार की गाली मानता है, द्वारा किया जा रहा है। इन मूल्यों को वे लोग भी नुकसान पहुंचा रहे हैं जो सामुदायिकता/भाईचारे को आदिम बंधन या एक छोटे स्तर के औद्योगिकता-पूर्व समाज के रूप में देखते हैं, न कि एक वास्तविक राष्ट्रीय तथा उसके बाद विश्व-समाज की रचना के प्रेरक तत्त्व के रूप में, जैसा कि अंबेडकर तथा क्रांतिकारी लोग समझते थे। इस प्रकार स्वतंत्रता, समानता और सामुदायिकता की अंबेडकरवादी समझ की विवेचना के लिए जरूरी है कि उक्त

आलोचनाओं और उन आलोचनाओं के अंबेडकर द्वारा दिए गए जवाबों का मूल्यांकन किया जाए। उनके प्रयासों के भारतीय संदर्भों को समझना-जानना अहम् है क्योंकि ये संदर्भ, उनकी दृष्टि में जातिगत गैरबराबरी और दमन की केवल विरासत भर नहीं थे बल्कि इन संदर्भों में बौद्ध धर्म और अन्य भारतीय परंपराएं भी धरोहर के रूप में शामिल थीं, जिन्हें अंबेडकर ने भारत के लिए आधुनिकता, समानता, स्वतंत्रता तथा सामुदायिकता के आरंभ रूप में देखा। इस अर्थ में फ्रांसीसी क्रांति की कोख से यूरोप में जन्मे मूल्य वस्तुतः पश्चिमी नहीं थे। वे दरअसल विश्व-मूल्य थे। यह शायद संयोग मात्र नहीं है कि **‘प्रबोधन’ (Enlightenment)** भी बौद्ध धर्म का शब्द है जिसका अर्थ संभवतः भिन्न है। अंबेडकर ने अपने साप्ताहिक समाचारपत्र को अंततः **‘प्रबुद्ध भारत’** का नाम दिया था। इसके पहले उसका नाम था **‘जनता’** और उससे भी पूर्व **‘बहिष्कृत भारत’**। भारत में उनका लक्ष्य सिर्फ एक समतामूलक एवं स्वतंत्र राष्ट्रीय समाज की स्थापना करना नहीं था बल्कि वे उसे प्रबुद्ध भी देखना चाहते थे विवेक और विज्ञानसम्मत भारत अपनी विरासतों के प्रति निष्ठापूर्ण और इस प्रकार यूरोप तथा अन्य स्थानों की स्वतंत्रतापोषी परंपराओं से स्वयं को जोड़ने वाला देश।

एक नई सामाजिक व्यवस्था के डॉ. अंबेडकर के सपने के तीन प्रमुख पहलुओं पर अपनी बात केन्द्रित करना चाहूंगी। पहली बात यह कि आज के विचार के विपरीत मार्क्स तथा उदार प्रबोधनवादी विचारकों में दिलचस्पी, प्रगति में विश्वास और इतिहास द्वारा अपने साथ मानव कल्याण में सुधार लाने के दृढ़ विश्वास में अधिकांश गांधीवादी तथा ईकोरोमैन्टिसिस्ट अंबेडकर के साथ बराबर के साझेदार थे। मार्क्सवादी भाषा में इसकी व्याख्या मानव क्षमताओं में वृद्धि करने वाली उत्पादक शक्तियों के रूप में की जा सकती है। उत्पादक शक्तियों की इस प्रगति के कारण पूंजीवादी शोषण भी मानव क्षमता या शक्ति, जो समाजवाद का आधार है, को विकसित करने वाला मालूम होने लगता है। उदारवादी नज़रिए से हम स्वतंत्रता में प्रगति की बात कर सकते हैं जैसा कि वस्तुतः अमर्त्य सेन ने अपनी ताजातरीन कृति **डेवलपमेन्ट ऐज फ्रीडम (सेन, 1999)** में करते हैं। अंबेडकर का भी मानना था कि मानव इतिहास, विकास का इतिहास होता है, एक अग्रगति; यह अंतहीन कालचक्रों का एक पड़ाव मात्र या अद्यःपतन की ओर अग्रसर गति नहीं था। स्वतंत्रता, समानता तथा सामुदायिकता को सामूहिक मानव प्रयासों से इतिहास की प्रक्रिया से गुज़र कर ही प्राप्त किया जा सकता है। मार्क्स से अंबेडकर का मतभेद मानव इतिहास की प्रेरक शक्ति की व्याख्या के मुद्दे पर ही था और इस संबंध में मानव जीवन, इतिहास तथा सामाजिक संरचना में आदर्शवाद और भौतिकवाद की भूमिका पर चली बड़ी बहसों के प्रति उनके विचार या दृष्टिकोण की पड़ताल भी जरूरी है।

दूसरी बात, आज के भारत में या फिर पूरे संसार में ही जब नेहरूवादी सरकारी नियंत्रण की नीति का स्थान उदारवाद-आर्थिक विकास की विधि तथा दर्शन के रूप

में ले रहा है, तो एक बार फिर अंबेडकर के आर्थिक तथा राजनैतिक दर्शन का विश्लेषण करना अहम् हो गया है। राज्य-पोषित समाजवाद या स्टेट सोशलिज्म पर नेहरू की लेखनी पर जोर देने वाले अधिकांश लोगों से थोड़ा अलग मैं उनकी राजनैतिक अर्थनीति को सामाजिक उदारवाद या उदार समाजवाद कहना चाहूंगी। उनकी अर्थशास्त्रीय रचनाओं को पूर्ण रूप से विश्लेषित किया जाना अभी शेष है। इस लेख में अर्थशास्त्र और समाजवाद पर उनके लिखित साहित्य की चर्चा में संक्षेप में करना चाहूंगी तथा जीवन के अंतिम वर्षों में अंबेडकर के विचारों, जो मुख्यतः 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' नामक उनके लेख में अभिव्यक्त हुए हैं, की चर्चा के साथ इस लेख को समाप्त करना चाहूंगी। अंबेडकर द्वारा संविधान पर दिए गए व्याख्यान में प्रसंगवश उनके कुछ परिपक्व राजनैतिक एवं आर्थिक विचार आए हैं, उन पर भी दृष्टिपात् करना चाहूंगी।

इसकी परिणति अंबेडकर के धार्मिक योगदानों की विवेचना पर होती है। उनके ये योगदान व्यवहार एवं दर्शन, दोनों स्तर पर हैं। यहां इस क्रम में अंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्म के प्रस्तुत रूप जिसे हम बौद्ध धर्म का मुक्तिदायी रूप (**liberation theology**) या ज्यादा सटीक शब्दों में कहें तो नवायण बौद्ध धर्म (**Navayana Buddhism**) की चर्चा जरूरी हो जाती है। 'द बुद्धा एंड हिज धम्मा' अंबेडकर की अंतिम महत्त्वपूर्ण रचना है और यह हमें धर्म और नैतिकता को लेकर उनकी सोच से ही परिचित नहीं कराती बल्कि समाज की एक नई व्यवस्था के उनके दर्शन का मर्म भी हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

अंत में बताना चाहती हूँ कि अंबेडकर की अत्यंत जटिल तथा बहुरूपी जीवन-कृतियों को एक सुव्यवस्थित विश्व-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना कहा जा सकता है या ऐसे प्रारंभिक किंतु सुव्यवस्थित समाजशास्त्र का, जिसमें स्वतंत्रता, समानता एवं सामुदायिकता के मूल्य एकाकार हो गए हों और जिसके निशाने पर सबसे बड़े शत्रु के रूप में भारत में मौजूद विकरालतम शक्ति यानी ब्राह्मणवाद था और इसी बिंदु पर उनका दर्शन मार्क्सवादी और समकालीन उदारवादी व्याख्याओं से निर्णायक रूप में भिन्न था पर मार्क्सवाद की तरह ही वह क्रांतिकारी रीतियों पर या संसार को बदलने पर केन्द्रित था।

अंबेडकर की इतिहास की परिकल्पना : विकास, भौतिकवाद तथा आदर्शवाद

क्या उन्नति या ऐतिहासिक विकास जैसी कोई चीज होती है? एक समय था जब ऐसा कोई प्रश्न करना भी आश्चर्यजनक माना जाता। क्रांतिकारी मूल्यों की सबसे बड़ी विरासत का यह विश्वास रहा है कि लोग गुलामी और गरीबी से बाहर आ रहे हैं और एक ऐसी दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं, जो मानव जीवन में सुधार की संभावनाएं प्रस्तुत करती है। शायद मानव जाति में से अधिसंख्य का यह विश्वास है। 31

दिसंबर 2000 की अर्द्धरात्रि में वर्ष समाप्ति पर जब गजर बजा और 01 जनवरी 2001 की सुबह हुई तो लाखों लोगों ने इस प्रभात बेला का स्वागत किया इस आशा और विश्वास के साथ कि नई सहस्राब्दी अपने साथ यूटोपिया नहीं लाएगी बल्कि कम से कम मौजूदा दुनिया से बेहतर एक संसार लेकर यह प्रस्तुत होगी।

इन सब बातों के बावजूद हाल के वर्षों में उन्नति को संभव मानने वाले विश्वास पर हमले हुए हैं। ईको-रोमैन्टिसिस्म, जिसके औचित्य को महात्मा गांधी से संबल मिला, के अनुसार इतिहास में गिरावट जारी है। हर ओर विनाश की ही बातें ज्यादा सुनाई देती हैं। मनुष्य की उन्नति अब संभव तो छोड़िए, वांछित भी नहीं रही। जैसा कि प्रतिष्ठित ईको-फेमिनिस्ट मारिया मीस ने कहा है कि *“फ्रांसीसी क्रांति का अंत हो चुका है : इसके आदर्शों को दलितों, स्त्रियों या इस संसार के उपेक्षित जनों तक नहीं पहुंचाया जा सकता। इसका खास कारण यह है कि पर्यावरणीय संकट के कारण ऐसा करने के लिए आधारभूत प्रेरणा अब बची नहीं रह गई है। अतः हमें ‘विकास’ प्राप्त करने की व्यर्थ कोशिश करने की बजाए सीमित जरूरतों, निर्वाहयोग्य उत्पादन वाले तथा स्थैतिक (Stasis) समाज को स्वीकार कर लेना चाहिए।”* (मीज, 1986; मीज एंड शिवा, 1989 भी देखें) इसी परिप्रेक्ष्य को विशिष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हुए इकानॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली में छपे हाल के लेख में साहसपूर्ण घोषणा की गई है कि सभी बड़े सपनों की मौत हो चुकी है *“बीसवीं सदी में तीन यूटोपिया काल के गाल में समा चुके हैं। ये तीनों यूटोपिया यानी समाजवाद, विज्ञान एवं विकास अपने-अपने अंतर्निहित कारणों से दुःस्वप्न बन चुके थे।”* (विश्वनाथन, 2000 : 12)

ऐसे विचार आज बहुप्रचारित हो चुके हैं केवल भारत में ही नहीं बल्कि अमेरिका और यूरोप में भी समान रूप से। इनकी अनुगूंज बौद्ध धर्म के पश्चिमी संस्करणों में भी सुनाई पड़ती है। एक उदाहरण लें **सांगलियारक्षता** जो त्रिलोक्य बुद्ध महासंघ के संस्थापक हैं सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास में एक मौलिक अंतर देखते हैं। उनका तर्क है कि *“जैव विकास एकल रेखीय नहीं बल्कि द्विरेखीय है। विकास की प्रक्रिया का हर चरण भौतिक उन्नति की उर्ध्वमुखी गति तथा मानसिक या आध्यात्मिक अधःपतन की अधोमुखी गति के संलयन का परिणाम होता है।”* (1957 : 60)

उसी समुदाय की एक अन्य अंग्रेज सदस्य द्वारा लिखित अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषणपरक पुस्तक **‘दि इवॉल्विंग माइंड’** भी भौतिक तथा मानसिक विकास में इस तर्क पर अंतर करती है कि जब जैव विकास रुक जाता है तो बौद्ध धर्म मानसिक विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है। (कूपर 1996) कूपर की मान्यता यह प्रतीत होती है कि ऐतिहासिक-विकास या सामाजिक-विकास कुछ भी नहीं देता तथा अब मानव-विकास केवल आध्यात्मिक एवं मानसिक स्तर पर ही होगा।

ये सभी हाल में विकसित प्रभावपूर्ण ईको-रोमैन्टिसिस्ट मुद्दों की अभिव्यक्तियां हैं और ये भी आक्रामकता, वैयक्तिकता और प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित करने के आग्रह, जो पश्चिमी या यहूदी-ईसाई परंपरा की विशिष्ट प्रवृत्तियां मानी जाती हैं, का अपेक्षाकृत कम आक्रामक, कम वैयक्तिक तथा अपनी समग्रतावादी प्रवृत्तियों और मनुष्य को प्रकृति का एक अंग मात्र मानने वाले दृष्टिकोण के हिसाब से ज्यादा विश्वजनीन हैं। यह धारणा व्यक्तिवाद, बाजारवाद और बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के प्रति उसकी सामान्य आलोचनात्मक प्रवृत्ति की विशेषता के कारण ऊपरी तौर से समाजवाद से जुड़ी मालूम होती है।

इसके बिल्कुल विपरीत अंबेडकर ने उन्नति में विश्वास व्यक्त किया है तथा इतिहास को सामाजिक दृष्टि से न्यायपरक समाज की ओर उन्मुख एक गति माना है। उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के मामूली भेद की ओर आकर्षित होने की लेश मात्र प्रवृत्ति भी नहीं दिखाई। उन्होंने औद्योगीकरण, पूर्व काल के जीवन के रोमानीकरण तथा ‘सामान्य आवश्यकताओं’ की नैतिकता का जवाब बहुत पहले ही 1918 में बरट्रैण्ड रसेल की एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए दे दिया था

“पैसे के प्रेम के प्रति नैतिकतावादियों की सदियों पुरानी शिकायत सांसारिक धन-संपत्ति के प्रति उनके सामान्य विरोध का एक हिस्सा ही है। जिन आर्थिक परिस्थितियों के कारण इस विशेष सोच का जन्म हुआ, उनसे ही इसका औचित्य सिद्ध होता है। ऐसे समय में, जब पूरा विश्व कष्टपूर्ण अर्थव्यवस्था में प्राचीन संसार वाला जीवन जी रहा था और मानव श्रम की उत्पादकता बहुत ही निम्न थी और उसे किसी भी प्रकार के प्रयास से उठाना संभव नहीं था यानी संक्षेप में कहें तो जब पूरी दुनिया गरीबी का जीवन जी रही थी, यह एकदम स्वाभाविक था कि नैतिकतावादी गरीबी के धर्म का उपदेश दें और सांसारिक सुखों के त्याग की बात करें क्योंकि उन्हें (धन-संपत्ति) प्राप्त किया ही नहीं जा सकता था...” (खंड 1 : 490)

इस लेख में अंबेडकर ने किसी प्रकार से भी गरीबी का गुणगान करने से सीधा इन्कार कर दिया। पूर्व के शांतिवाद (Pacifism) तथा प्रकृति के साथ साहचर्य वाली बात को पश्चिम की आक्रामकता एवं व्यवसायिकता के विरुद्ध एक आदर्श रूप में प्रस्तुत करने के प्रयासों को भी वे अस्वीकार करते हैं। साधारण जीवनयापन और आवश्यकताओं को सीमित करने के सिद्धान्त के उलट, वे मानव उत्पादकता के विकास तथा धन-संचय पर जोर देते हैं। संपत्ति-निन्दा की प्रवृत्ति, जो रैडिकल तथा स्वच्छंदतावादियों में बहुत आम है से भी वे बड़ी सतर्कतापूर्वक अपनी एक दूरी बनाते हैं

“कहा जा सकता है कि समस्या संपत्ति के होने के कारण नहीं बल्कि उसके असमान वितरण की वजह से है।” (खंड 1 : 491)

यह दृष्टिकोण जीवनपर्यन्त उन्होंने बनाए रखा, जैसा कि बौद्ध धर्म और गरीबी का महिमामंडन करने वाली ईसाई परंपरा के बीच अंतर की चर्चा के क्रम में

हम आगे देखेंगे।

अंबेडकर मार्क्स की तरह शोषण के विरुद्ध और विकास एवं धन-संचय के हिमायती हैं। समाज के स्तर पर वे इतिहास की उन्नति में विश्वास करते हैं तथा वैयक्तिक स्तर पर वे गार्हस्थों के काम करने तथा कमाने के ईमानदार तथा उद्यमपूर्ण प्रयासों को औचित्यसम्मत आधार देते हैं। विकास 'मानव धन-संपदा और उसकी क्षमताओं में बढ़ोत्तरी' के अर्थ में काफी मान्य हो चुका है। हमें यह याद रखना चाहिए कि धन का अर्थ केवल भौतिक वस्तुएं नहीं होता (हालांकि अंबेडकर इसे अस्वीकार नहीं करते) बल्कि इसमें कलात्मक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियां भी शामिल हैं। अंबेडकर के लेखन में हम इतिहास का विकासवादी और चरणबद्ध रूप देखते हैं। उदाहरणार्थ अपने आरंभिक दौर में लिखे अपने एक लेख 'फिलौसोफी आफ हिन्दुइज्म' में धर्मों का विश्लेषण, विशेष प्रकार के समाजों, जिन्हें वे 'असभ्य समाज' और 'प्राचीन सभ्य समाज' तथा 'आधुनिक सभ्य समाज' के श्रृंखलाबद्ध नाम देते हैं, से जोड़ कर करते हैं (खंड 3 : 3-22)। यह समाज का विकासमूलक मॉडल है हालांकि यह मार्क्स या अन्य अधिक पारंपरिक समाजशात्रियों द्वारा आर्थिक आधार वाले मॉडलों से अलग है।

इतिहास हमें उन्नति के दर्शन कराता है। इसकी प्रेरक शक्ति क्या है? या दूसरे शब्दों में कहें तो आर्थिक ढांचे को निर्धारित करने तथा मानव क्रियाओं को नियंत्रित करने में आधारभूत भूमिका किसकी होती है? वस्तुतः समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद बनाम आदर्शवाद या (बहुलतावाद) का प्रश्न एक बड़ा प्रश्न है और इस संबंध में आधारभूत दृष्टिकोण मार्क्स, डुरखाइम या वेबर से उत्सृत है। क्या अंबेडकर आदर्शवादी थे क्योंकि उन्होंने मानव क्रियाओं में धर्म तथा विचार की भूमिका को अधिक महत्त्व दिया?

रसेल के संबंध में अपने एक लेख में वे काफी खरी-खरी बात कहते हैं समाज का आर्थिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण आम तौर पर जैसा समझा जाता है, उससे कुछ ज्यादा ही उनमें निकट संबंध पाया जाता है और इतिहास में अतिशयोक्तियां निकाल कर देखें तो उसकी जो आर्थिक व्याख्या है, वही व्यावहारिक रूप से सत्य है (खंड 1:489)। जीवन के दूसरे भाग में ऐसा प्रतीत होता है कि अंबेडकर आदर्शवाद की ओर झुक गए थे। मार्क्सवाद के प्रभाव की चर्चा करते हुए वे मार्क्स के मुख्य सिद्धांतों को गिनाते हैं और कहते हैं कि उनमें से अधिकांश अस्वीकृत हो चुके हैं। वे अत्यंत स्पष्ट रूप से कहते हैं "इतिहास की एकमात्र व्याख्या के रूप में उसकी आर्थिक व्याख्या को अब कोई नहीं मानता।" (खंड 3 : 444)।

द बुद्धा एंड हिज धम्मा में वे निर्धारक तत्त्व के रूप 'मन' को स्पष्ट प्राथमिकता देते हैं। 'उन्होंने क्या स्वीकार किया' उपशीर्षक में वर्तमान भारतीय दर्शन के विषयों में मस्तिष्क या मन को प्रत्येक वस्तु का केन्द्र मानते हुए वे कहते हैं

"मस्तिष्क को वस्तुओं पर वरीयता प्राप्त है, वह उन पर शासन करता है,

उनका सृजन करता है। मन को यदि समझ लिया गया तो सभी वस्तुओं को समझ लिया गया। मस्तिष्क अपने सभी कार्य-प्रभाग का प्रणेता होता है, वह उनका मुखिया है। उन सभी भागों से मिलकर ही मस्तिष्क बना है। पहली चीज जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए वह मस्तिष्क की संस्कृति है।” (खंड 11:104)

क्या इसका अर्थ यह है कि अंबेडकर एक प्रकार के आर्थिक भौतिकवाद से हटकर आदर्शवाद के पक्षधर हो गए हैं और इतिहास में विचार तथा सिद्धान्तों को प्रमुख शक्ति मानने लगे हैं? इसके पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि उनके जीवन का अन्त धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन के साथ होता है और यह भी कि भारतीय इतिहास पर उनके लेखन का बड़ा भाग व्यवहार में आदर्शवाद की विचारधारा के कारकों पर जोर देता है। जाति-व्यवस्था के संबंध में उनके समूचे अनुसंधान तथा विश्लेषणों में भारतीय समाज की सबसे महत्वपूर्ण बनावट को रचने और उसे बनाए रखने में ब्राह्मणवादी विचारधारा निर्णायक शक्ति के रूप में नज़र आती है।

मेरा कहना है कि अंबेडकर के विचारों के लिए सटीकतम विशेषण ‘बहुलतावादी’ होगा। उदाहरणार्थ जब वे निरंतर ब्राह्मणवाद की एक विचारधारात्मक और धार्मिक शक्ति की भूमिका पर बल दे रहे थे, तो यह वे एक ऐसे संदर्भ में कर रहे थे, जिसमें सभी प्रमुख सिद्धान्त व प्रमुख सामाजिक व राजनैतिक विमर्श जिनके वे मुकाबिल थे मार्क्सवादी भौतिकवाद से प्रभावित थे। यहाँ हम अंबेडकर की तुलना समाजशास्त्री मैक्स वेबर से कर सकते हैं, जिनके जीवन का बड़ा समय भी मार्क्सवादी प्रणाली विज्ञान और समाजवादी विचारों से वाद-विवाद में गुजरा था। वेबर इतिहास में विचारों की महत्ता पर बल देने के लिए संभवतः प्रसिद्ध हैं, जो कि पूंजीवाद के उभार में प्रोटेस्टैंट धर्म की भूमिका पर लिखी उनकी प्रसिद्ध कृति के कारण है। पर तथ्य यह है कि वे विचारों एवं नैतिक कारकों के अपने विश्लेषण को सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण के विकल्प के रूप में नहीं बल्कि पूरक के रूप में देखते थे। उसी प्रकार भारतीय बुद्धिजीवियों तथा एक्टिविस्टों पर मार्क्सवादी सोच के गहरे प्रभाव के कारण तथा इस प्रभाव के कारण जिस प्रकार से वे जाति और धार्मिक प्रभुत्व की भूमिका की उपेक्षा करते थे, के कारण अंबेडकर कभी-कभी जाति तथा ब्राह्मणवाद के महत्त्व पर एकपक्षीय रूप से जोर देने को विवश हो जाते थे पर अंबेडकर ने इन्हें अकेला महत्त्वपूर्ण कारक कभी नहीं माना। उदाहरणस्वरूप रेवॉल्यूशन एंड काउन्टर रेवॉल्यूशन में उनके मशहूर कथन को देखें, जहाँ वे विशेष रूप से कहते हैं कि

“क्योंकि हकीकतन ऐसा कोई देश नहीं है जिसमें धर्म ने उसका इतिहास बनाने में इतनी बड़ी भूमिका निभाई हो, जितना कि भारत के इतिहास में। भारत का इतिहास बौद्ध धर्म और ब्राह्मणवाद के बीच खूनी-संघर्ष का इतिहास है।” (खंड-3 : 267)

‘सारा इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है’ वाले विचार का यह अंबेडकर की

ओर से दिया गया जवाब है, जो एक विकल्प प्रस्तुत करने के साथ-साथ उस विशेषता पर बल देता है, जिसे इतिहास का बहुरेखीय तथा बहुकारणात्मक सिद्धान्त, दोनों कहा जा सकता है। इसके अलावा यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि उनकी अन्तिम कृति धार्मिक कृति है, जिसमें मस्तिष्क के केन्द्रीय स्थान वाला कथन शामिल है। 'धम्म' की उनकी व्याख्या, जैसा कि हम देखेंगे, गैर-आध्यात्मिक थी, जो दुःख और उस पर विजय को इस संसार के शोषण तथा कष्ट के संदर्भ में देखती है। इसी प्रकार अंबेडकर एक कठोर वैज्ञानिक प्रणाली स्थापित करने को लेकर इतने उत्कण्ठित थे कि 'द बुद्धा एंड हिज धम्मा' में कर्म या कम्म पर अपनी चर्चा में वे कम्म को कारण-कार्य सिद्धान्त से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं।

अंबेडकर, जो शब्दों के अपने प्रयोग में हमेशा गंभीरता से काम लेते थे, मार्क्स के अपने अस्वीकार में भी आर्थिक व्याख्या को इतिहास की एकमात्र व्याख्या मानने से इंकार करते हैं पर वे भौतिक कारकों और आर्थिक आग्रहों की ऐतिहासिक तथा सामाजिक व्याख्या के एक जरूरी अंग के रूप में भूमिका को स्वीकार करने से कभी इंकार नहीं करते। यह स्थिति वेबर की स्थिति से मिलती-जुलती है। इतिहास का अंबेडकर द्वारा प्रस्तुत दर्शन, इतिहास की बहुलतावादी व्याख्या से साम्य रखता है पर यह विशुद्ध भौतिकतावादी व्याख्या को नकारता है।

अंबेडकर का राजनैतिक अर्थशास्त्र : सामाजिक उदारवाद

जीवन भर अंबेडकर अपनी वैचारिक स्थिति को फ्रांसीसी क्रांति के मूल स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा (सामुदायिकता) जो उनके 'सामाजिक न्याय' की आत्मा है, के रूप में परिभाषित करते थे। उनकी यह विशेष आर्थिक सोच तीन बड़े चरणों से होकर गुजरी है पहला चरण 1920 के दशक का था, जब वे एक पेशेवर अर्थशास्त्री के रूप में तथा मूलतः उदारवादी के रूप में लिखते थे; दूसरा चरण 1936 से 1946 तक अपने चरम बिन्दु पर था, जब सामाजिक तथा राजनैतिक संघर्षों से अपने जुड़ाव के कारण तथा मार्क्सवादियों से अपने विचार-विमर्श के कारण, वे स्वयं को राज्य-समाजवादी कहने लगे और तीसरा चरण जो 1950 के बाद आरम्भ हुआ, उसमें वे आंशिक रूप से एक अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म आर्थिक दृष्टि-दर्शन के लिए बौद्ध धर्म से प्रेरणा ग्रहण करने की ओर उन्मुख होते हुए, अंशतः पहले के अपने क्लासिकी उदारवाद की ओर लौटे। (ओमवेड्ट, 1999)

पहले चरण में उनकी दो महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं 'द प्रॉब्लम आफ द रूपी' तथा 'दि इवॉल्यूशन ऑफ प्रोविन्शियल फाइनेन्स इन ब्रिटिश इन्डिया'। इनके अतिरिक्त ढेर सारे लेख भी छपे। अंबेडकर ने अपने समय के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों से क्लासिकल अर्थशास्त्र की शिक्षा पाई थी और उनके लेखन से पता चलता है कि वे अद्यतन सिद्धान्तों से परिचित थे (अर्थशास्त्री के रूप में अंबेडकर के महत्वपूर्ण

विश्लेषणों के लिए देखें अंबीरंजन, 1999, थोराट, 1998 तथा जाधव, 1991)। भारतीय मुद्रा के बारे में उठी बहस पर उन्होंने कम मूल्य वाले रुपये (ब्रिटिश हितों के उच्च मूल्य वाले रुपये के विरुद्ध) की वकालत की, जो उनकी अपनी सोच के अनुसार कामगारों (ब्रिटिश-पेशा लोगों) के हितों तथा पूंजीपतियों तथा अन्य व्यवसायियों के हितों में संतुलन कायम करता। भारत में ब्रिटिश नीतियों के प्रभावों पर प्रस्तुत उनके विश्लेषण, ब्रिटिश शासन के अधिकांश राष्ट्रवादी आलोचकों से काफी मिलते हैं विशेष रूप से ब्रिटिश निर्माताओं के हितों की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार से भारत को बर्बाद कर रही थी, उसकी भर्त्सना में। उदाहरणार्थ ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाए गए भारी भूमिकर की कटु आलोचना के बाद उन्होंने कहा कि “जहां भूमिकर ने कृषि उद्योग की उन्नति को बाधित किया, वहीं सीमा शुल्क ने देश के निर्माताओं के रास्ते में अड़गंने लगाए। सीमा शुल्क आंतरिक तथा बाह्य, दो प्रकार के थे और दोनों व्यापार एवं उद्योग के लिए समान रूप से हानिकारक थे।” (खंड-6 : 75)

किन्तु साम्राज्यवाद की आलोचना में उन्होंने उदारदृष्टि अपनाई है। उनका मानना था कि इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण कर-चुंगियों के हटाने ही भारत आर्थिक उन्नति कर सकेगा तथा उसका व्यापार तथा वाणिज्य फैलेगा और ऐसा हुआ भी। उनका यह भी मानना था कि देश में पूंजी का प्रवेश अर्थात् विदेशी पूंजी विनियोग लाभकारी है। उन्होंने जोरदार ढंग से लिखा है कि ब्रिटिशों की त्रुटियुक्त एवं शोषणकारी मुद्रा-नीति ने ढांचागत विनियोग के लिए पूंजी राज्य के हाथ से छीन ली

“निजी खाते में पूंजी का आयात समान कारणों से रोका गया, जिससे देश को बड़ी क्षति हुई। सभी लोगों द्वारा, यहां तक कि रॉयल कमीशन द्वारा भी इस बात का जोरदार आग्रह किया गया कि बार-बार होने वाले अकाल, जिसकी चपेट में भारत बार-बार आ जाता था के विनाश से बचाव का एक रास्ता यह था कि उसमें विविधता लाई जाए। उसके लाभों को स्थायित्व देने के लिए ऐसे नानारूपकृत औद्योगिक जीवन को पूंजीवादी आधार पर ही खड़ा किया जा सकता है पर यह देश की आवश्यकताओं के अनुसार पूंजी के निर्बाध आयात पर निर्भर करता है।” (खंड 3 : 423)

आज जो लोग भारतीय अर्थव्यवस्था के वैज्ञानिकरण तथा उदारीकरण के लिए प्रयासरत हैं, वे उनकी इन धारणाओं तथा घाटे के वित्त प्रबंध को लेकर उनकी नापसंदगी और सरकार द्वारा जिम्मेदारीपूर्ण व्यवहार के संबंध में उनकी चिंताओं का स्वागत करेंगे। इसका मतलब है कि साम्राज्यवादी शासन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यंत आलोचनात्मक था, जो मुख्य रूप से ब्रिटिश हितों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के दमन की प्रक्रिया में उसके विकास को विकृत करने के लिए औपनिवेशिक राज्य-सत्ता के इस्तेमाल के कारण था। हालांकि वे संरक्षणवाद के सीमित प्रयोग की गुजांइश छोड़ते हैं, फिर भी आर्थिक विकास में व्यापार एवं बाजार की लाभकारी भूमिका को स्वीकारते हैं (खंड 3

: 428-29) किन्तु वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय संपदा में अभिवृद्धि करने की बाजार की क्षमता में वे भरोसा रखते थे। इसका अर्थ किसी भी प्रकार से राज्य की भूमिका की उपेक्षा नहीं था। उनका अर्थशास्त्रीय लेखन लगभग पूर्णरूपेण राज्य की नीति तथा ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकारी नीतियों के विभिन्न पक्षों की आलोचना को लक्षित था। जनकल्याण को बनाए रखने में ही नहीं, अर्थव्यवस्था के निर्देशन-नियन्त्रण में भी उनके दृष्टिकोण ने एक निर्णायक भूमिका निभाई।

एक अर्थशास्त्री के रूप में उनकी ये आरंभिक कृतियां उनकी विशिष्ट रचनाएं हैं किन्तु अंबेडकर की आर्थिक सोच के दूसरे चरण की शुरुआत 1930 के दशक के मध्य में मानी जा सकती है। जब वे राजनैतिक रूप से सक्रिय जन-नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। तब तक वे केवल दलितों के ही नहीं बल्कि मजदूरों और किसानों के सामाजिक आन्दोलनों से सामान्यतः घनिष्ट रूप से जुड़े चुके थे और इसके साथ ही भारतीय कम्युनिस्टों से उनका संपर्क बना और कई प्रकार से मार्क्सवाद का प्रभाव उन्होंने ग्रहण किया। यह वह समय था जब उनके साप्ताहिक पत्र 'जनता' में पूंजीपतियों और जमींदारों के विरुद्ध किसानों और मजदूरों की एकता का आह्वान करने वाले लेख भरे होते थे और जब उन्होंने पूंजीवाद तथा ब्राह्मणवाद को दलितों का दुश्मन घोषित करने वाला मशहूर वक्तव्य दिया।

इस चरण में उनके राजनैतिक एवं आर्थिक विचारों को उस सिद्धान्त, जिसे नारीवादी दोहरी प्रणाली वाला (Dual Systems Theory) कहते रहे हैं, का एक रूप कहा जा सकता है। अमेरिका में जिस प्रकार प्रारंभिक समाजवादी- नारीवादी 'पूंजीवाद तथा सत्तावाद' की बात करते थे या फिर काले रैडिकल लोग 'पूंजीवाद तथा नस्लवाद' का प्रश्न उठाते थे, उसी तर्ज पर अंबेडकर ने 'पूंजीवाद तथा ब्राह्मणवाद' को लक्ष्य बनाना शुरू किया। 1938 में मनमाड में दिए अपने भाषण में इस सम्बन्ध में अपने विचारों को उन्होंने इस प्रकार रखा

“मेरे विचार से इस देश के मजदूरों के दो दुश्मन हैं, जिनसे उन्हें निपटना है। ये दो दुश्मन हैं ब्राह्मणवाद तथा पूंजीवाद... ब्राह्मणवाद से मेरा तात्पर्य एक समुदाय के रूप में ब्राह्मणों की शक्ति, विशेषाधिकार और हित-लाभ नहीं हैं। ब्राह्मणवाद से मेरा मतलब स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे के भाव को नकारने से है। इस अर्थ में इस सोच से सभी वर्ग ग्रस्त हैं और यह केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं है, हालांकि इसकी बुनियाद उन्होंने ही डाली।” (14 फरवरी, 1988 के 'द टाइम्स आफ इन्डिया' में प्रकाशित रपट)

ब्राह्मणवाद तथा पूंजीवाद को संघर्ष के केंद्र में लाकर अंबेडकर ने सामाजिक-आर्थिक शोषण की एक मार्क्सवादी व्याख्या को स्वीकार किया, जिसमें निरंकुश शोषणकारी सामाजिक ढांचे के रूप में जाति की भूमिका को जोड़ने भर की जरूरत ही हुई, जिसका अर्थ वस्तुतः मार्क्सवाद को सिद्धांत रूप में स्वीकारना था

ताकि पूंजीवाद का विश्लेषण किया जा सके तथा उसमें धर्म एवं विचारधारा आधारित जाति विश्लेषण को जोड़ा जा सके। यह काल 'स्टेट एंड माइनरिटीज' नामक कृति में राज्य-समाजवाद (State Socialism) की आवश्यकता की घोषणा से अपने चरम बिन्दु पर पहुंचा। अंबेडकर की यही वह कृति है, जिसे तरह-तरह के समाजवादी तथा मार्क्सवादी अपनी अवस्थिति का औचित्य बताने के लिए आज सामान्यतः उद्धृत करते रहते हैं।²

परंतु समाज तथा इतिहास के सिद्धांत के संबंध में दोहरी प्रणाली (Dual System) वाला रुख अंततः अपर्याप्त है³ अंबेडकर ने इससे अपनी दूरी बनाई। वस्तुतः 1950 के दशक तक ऐसा लगता था कि वे जाति जैसे सामाजिक मुद्दों की उपेक्षा करने के लिए मार्क्सवाद की सिर्फ आलोचना ही नहीं कर रहे थे बल्कि राजनैतिक अर्थव्यवस्था के सामान्य मुद्दों के प्रति मार्क्सवादी सोच को ठुकरा भी रहे थे। समानता तथा मुक्ति की दलितों की लड़ाई में अंबेडकर के सतत् नेतृत्व में प्रतिबिंबित हलचल भरी तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं की परिणति इस तीसरे तथा अंतिम चरण की शुरुआत में हुई। इस काल को मैं संपूर्ण सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक सिद्धांत के लिए बौद्धधर्म सम्मत ढांचे की खोज का नाम दूंगी। अंबीरंजन ने ठीक ही कहा है कि यह 'छोटा सुंदर होता है' वाला 'बौद्ध अर्थशास्त्र' नहीं है बल्कि अपने अंतिम लेख 'बुद्ध या कार्ल मार्क्स' में अंबेडकर, धन के निजी हाथों में संचय (यानी पारंपरिक अर्थशास्त्रीय भाषा में बाजार का निजी हाथों में जाना) की भूमिका के परिबोध की ओर लौटते हैं और एक बौद्ध नीति-कथा द्वारा राज्य, बाजार, समुदाय की पुनर्व्याख्या, हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। गृहस्थ अपने धन को ईमानदारी और स्पष्ट तरीकों से बढ़ाने की कोशिश कर अर्थव्यवस्था का आधार स्थापित करता है। राजा जो राज्य का प्रतीक है, की जरूरी भूमिका सर्वाधिक दलितों को गरीबी से बचाने की है। उस गरीबी से, जिसका परिणाम अराजकता या क्रांति में होगा, यदि राजा हस्तक्षेप नहीं करता। अंततः भिक्षु संघ और धम्म, जिसका समर्थन यह कथा करती है, समाज की आत्मा है (खंड 3 : 453-459)।

इन बदलते चरणों में आरम्भ से अंत तक अंबेडकर का राजनैतिक आर्थिक दर्शन निस्संदेह एक प्रकार का उदारवाद था। वे ऐसे व्यष्टिवादी तथा विवेकवादी थे जो हमेशा भारतीय परम्परा से जुड़े प्रबोधन के मूल्यों की ओर पुनरोन्मुख होते हैं। आधुनिक समाज की नैतिकता की व्याख्या करते हुए वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जहां 'पुरातन' समाज में धर्म द्वारा स्थापित नैतिक संहिता का आधार उपयोगिता है, वहीं आधुनिक संहिता का आधार न्याय है जिसे वे बाद में स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे के मूल्यों के बराबर मानते हैं

“पुरातन संसार के लिए, जिसमें समाज ही इसका साध्य था, नैतिक हित का अर्थ सामाजिक उपयोगिता से लिया जाता था, उपयोगिता को एक सिद्धान्त के रूप

में लिया जाना ठीक था। सिद्धान्त के रूप में न्याय आधुनिक संसार के लिए उचित है, जिसका उद्देश्य व्यष्टि या व्यक्ति है और नैतिक हित व्यक्ति को न्याय दिलाने वाली चीज है” (खंड 3 : 22)।

पर यदि अंबेडकर के राजनैतिक-आर्थिक दर्शन को उदारवाद कहा जा सकता है तो यह किस प्रकार का उदारवाद था? एक महत्वपूर्ण लेख में राल्फ डहरेनडोर्फ ने उदारवाद की तीन मुख्य किस्मों की चर्चा की है : **क्लासिकी उदारवाद, समाजवादी उदारवाद एवं नव-उदारवाद (डाहरेनडोर्फ, 1987 : 183-187)**। क्लासिकी उदारवाद में और एडम स्मिथ, जॉनलॉक तथा अन्यो के उदारवाद में **व्यक्ति** समाज के केंद्र में है। राज्य का औचित्य बस इस कारण से है कि यह व्यक्तियों के जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति **(या जैसा कि अमेरिकन स्वाधीनता घोषणापत्र में कहा गया है “जीवन, स्वतंत्रता तथा सुख की तलाश”)** की रक्षा करता है पर इस प्रकार का उदारवाद ऐतिहासिक तथा तार्किक रूप से विरोधाभासों का शिकार हो गया। यदि संपत्ति का अधिकार इस आधार पर कि लोगों ने उसे अर्जित करने में अपना पसीना बहाया है, उचित है, जैसा कि लॉक ने माना है और यदि राज्य के अस्तित्व तथा शक्ति को ‘जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति’ की रक्षा हेतु उचित ठहराया जाता है, तो ऐसे समाज जिसमें पुरखों से मिली संपत्ति वालों और अपने श्रम से अर्जित संपत्ति वालों के दो वर्ग हैं, उनके बारे में क्या कहेंगे? संपत्ति के अस्तित्व तथा ऐसे दरिद्र लोग जिन्हें ईमानदार मेहनत करके संपत्ति अर्जित करने का अवसर ही उपलब्ध नहीं है, के बारे में क्या कहेंगे? जब असमानताएं हमारे इर्द-गिर्द मौजूद हैं तो मानवाधिकार तथा मानवमूल्यों के दृष्टिकोण से राज्य का या संपत्ति के अधिकार का औचित्य किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है उदारवादी दार्शनिकों ने इस विषय पर बहुत लिखा है पर हम यहां केवल इतना ही कह सकते हैं कि वंशानुगत असमानता तथा मानवाधिकार के मध्य विरोधाभास का समाधान तभी किया जा सकता है यदि समानता लाने के लिए राज्य के हस्तक्षेप करने की महत्वपूर्ण भूमिका **(या विभिन्न प्रकार के सामूहिक मानस हस्तक्षेप)** को मान लें या सभी व्यक्तियों के समानता कायम करने के प्रयास को प्रभावी रूप से कमजोर कर दें। पहला तरीका तो सामाजिक उदारवाद **(इसके भी कई रूप हैं)** का है, जबकि दूसरा नवउदारवाद का।

अंबेडकर इसी अर्थ में समाजवादी-उदारवादी हैं जैसे कि **(एक महत्वपूर्ण उदाहरण लें)** भारत के नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्यसेन हैं। उन्होंने राजनीति और साथ-साथ राज्यपोषित कल्याण नीति पर जोर दिया और निर्धनता कम करने और सामाजिक अन्याय की स्थितियों की क्षतिपूर्ति के लिए या उनको सुधारने में राज्य की भूमिका की वकालत की। इससे वे समाजवाद की ओर उन्मुख हुए या नहीं **(और मैं नहीं समझती कि समाजवादी उदारवाद में किसी प्रकार का विरोधाभास अंतर्निहित है।)** यह तय करना समाजवाद की हमारी परिभाषा पर

निर्भर है। उनके पूरे जीवनकाल में भारतीय साम्यवादी तथा समाजवादी जिसमें कांग्रेसी समाजवादी शामिल हैं समाजवाद का अर्थ राज्य के नियंत्रण से लगाते थे और अंबेडकर का इससे मोहभंग हो रहा था। वे भारतीय कम्युनिस्टों की आलोचना करते थे केवल जाति के प्रति उनके रुख के कारण नहीं बल्कि संवैधानिक प्रजातन्त्र को स्वीकार करने की उनकी अनिच्छा के कारण भी। जीवन की सांध्य बेला में वे स्पष्टतया स्वयं को 'समाजवादी लोकतंत्रवादी' ज्यादा समझते थे, बनिस्पत राज्य नियंत्रणवादी समाजवादी (State Socialist) के।

यह उनके संविधान के प्रस्तुतिकरण के समय दिए भाषण में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, संविधान को बदलने के अन्तर्निहित अधिकार पर जोर देने के लिए उन्होंने थॉमस जेफरसन को उद्धृत किया।⁴ जेफरसन ने कहा था कि "प्रत्येक पीढ़ी को अपने लिए यदि वह जरूरी समझती हो एक नया संविधान रचने का अधिकार है; इस अधिकार को मना करने का अर्थ होगा कि यह पृथ्वी मुर्दा लोगों की है, न कि जिन्दा लोगों की।" इसे उद्धृत करते हुए अंबेडकर जोड़ते हैं "जेफरसन ने जो कहा है वह केवल सच नहीं है बल्कि वह पूर्ण सत्य है।" किन्तु वे आगे कहते हैं कि भारत के संविधान में उसे संशोधित करने की लचीली संभावना अंतर्निहित होने के कारण उसे अस्वीकृत करने या मूलतः संशोधित करने की कभी जरूरत नहीं होगी (खंड 13 : 1211)।

इसके बाद वे भारत में लोकतंत्र के समक्ष प्रस्तुत खतरों की चेतावनी की बात करते हैं। इस संबंध में वे सबसे पहले कहते हैं कि आंदोलन और सत्याग्रहों को छोड़कर बदलाव लाने के लिए संसदीय तरीके अपनाने चाहिए और इस प्रकार निरंकुशता जिसके बीज 'महात्माओं' को पूजने की भारतीय प्रवृत्ति में छिपे हैं के खतरे को समाप्त करना चाहिए। इसके बाद वे अपने आधारभूत मूल्यों की चर्चा करते हैं

"हमें अपने राजनैतिक लोकतंत्र को समाजवादी लोकतंत्र भी जरूर बनाना होगा। राजनैतिक लोकतंत्र की बुनियाद में जब तक समाजवादी लोकतंत्र नहीं होगा तब तक वह टिकाऊ हो ही नहीं सकता। समाजवादी लोकतंत्र का क्या अर्थ है? इसका तात्पर्य जीवन के ऐसे तरीके से है जो स्वतंत्रता, समानता एवं भाईचारे को ही जीवन-सिद्धांत मानता हो। ये तीन सिद्धांत... मिलकर एक नयी व्यवस्था की रचना, इस अर्थ में करते हैं कि एक को दूसरे से अलग करने से लोकतंत्र का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। स्वतंत्रता को समानता से जुदा नहीं किया जा सकता और समानता को स्वतंत्रता से अलग नहीं किया जा सकता; और न स्वतंत्रता तथा समानता को भाईचारे से अलग किया जा सकता है।" (खंड 13 : 1216)

भारत में इनकी कमी से ही लोकतंत्र के सामने खतरे पैदा हो रहे हैं। अंबेडकर सर्वप्रथम जाति के श्रेणीबद्ध वैषम्य, गरीबी व अमीरी की चरम स्थिति के कारण

उत्पन्न समानता की कमी का वर्णन करते हैं और यहीं वे अपनी मशहूर चेतावनी भी देते हैं कि “राजनीतिक समानता तथा सामाजिक एवं आर्थिक विषमता” के मध्य वर्तमान विरोधाभास को जब तक दूर नहीं किया जाता, राजनैतिक लोकतंत्र की इमारत, जिसे इस सभा ने इतनी मेहनत से खड़ा किया है को इस विषमता के शिकार लोग विस्फोट कर उड़ा देंगे।” इसके बाद वे ‘भाईचारे’ की कमी का मुद्दा उठाते हैं और कहते हैं कि भाईचारे का मतलब है ‘भारत के सभी लोगों में भाईचारे का आम भाव।’ यह भाव समाज के जातियों में विखंडन से जन्मा है, जो भारत के लिए उस कल्पित समाज, जिसे राष्ट्र कहते हैं के निर्माण को असंभव बनाता है (एंडरसन, 1971)। यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि भाईचारा (Fraternity) शब्द का सही पर्याय है सामाजिकता (Community)। सवैधानिक लोकतंत्र के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखने की भारत की क्षमता के समक्ष प्रस्तुत बड़ी समस्याओं का जन्म स्पष्टतः मुख्य रूप से ब्राह्मणवाद और जातिप्रथा से ही हुआ है।

अंत में वे निष्कर्षतः कहते हैं कि दलित-दमित वर्ग अपने ऊपर शासन चलाए जाने की स्थिति से ऊब चुके हैं, वे अपना शासन स्वयं चलाने को अधीर हो रहे हैं। आत्मसिद्धी के इस आग्रह... को बढ़कर ‘वर्गसंघर्ष’ या ‘वर्ग-युद्ध’ में परिणत होने की छूट नहीं देनी चाहिए... यदि ऐसा हुआ तो वह दिन विनाश का दिन होगा (1217-18)। अंबेडकर का गहरा विश्वास था कि गैर-बराबरी और शोषण की समस्याएं ‘वर्ग-युद्ध’ के चरण से गुजरे बिना ही दूर की जा सकती हैं...इस विश्वास ने ही उन्हें बौद्धधर्म के निकट खींचा।

अंबेडकर के धार्मिक विचार : नवायण बौद्ध धर्म की ओर

अब यह सर्वज्ञात है कि लाखों अछूतों को बौद्धधर्म की ओर ले जाकर बौद्धधर्म को उसकी अपनी जन्मभूमि में आम लोगों के धर्म के रूप में अपने लुप्त होने के लगभग एक हजार साल बाद पुनर्जीवित करने का श्रेय केवल अंबेडकर को जाता है। यह अपने आप में बड़ा कारनामा था।⁵ पर जिस बात को स्वीकार नहीं किया जाता वह यह है कि अंबेडकर ने केवल बौद्ध धर्म के पारंपरिक रूप को पुनर्जीवित नहीं किया बल्कि उन्होंने उसे एक धर्म के रूप में या समकालीन जगत के लिए ‘शिक्षा’ के रूप में पुनर्व्याख्यायित करने तथा उसका कायाकल्प (Rejuvenating) करने का काम किया।

बौद्धधर्म को अछूतों के धर्म के रूप में स्थापित करने को लेकर अंबेडकर की चिंता का जन्म दो धारणाओं से हुआ है। एक तो यह कि उनका विश्वास था कि धर्म अन्तःप्रेरणात्मक नैतिकता के व्यापकतम अर्थ में व्यवस्थित सामाजिक जीवन के लिए जरूरी है। दूसरे यह कि उन्हें यकीन था कि ‘हिन्दू धर्म’ (संभवतः ब्राह्मणवाद शब्द ज्यादा उपयुक्त होता है।)⁶ इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकता।

ये दोनों बातें बहुत शुरुआत से ही मौजूद थीं। उनका धर्म विषयक प्रथम लेख 'द फिलौसोफी आफ हिन्दूइज्म' लगभग आरंभ से ही ब्राह्मणवाद की भर्त्सना करता है। हम उनके इस तीक्ष्ण अहसास को देख सकते हैं कि दलितों को एक नए धर्म की जरूरत है और एक समय ऐसा आया जब उन्हें लगा कि उनके पैर डगमगा रहे हैं, जैसे कि जब उन्होंने गांधी जी को चुनौती देते हुए तर्क किया था कि हिन्दूधर्म स्वीकार्य हो सकता है, बशर्ते कि 'सभी शास्त्र और पुराण त्याग दिए जाएं।' पर यह शर्त इतनी कठोर थी कि इसे अस्वीकार्य होना ही था। वही वर्णाश्रम धर्म तथा पुनर्निर्मित हिन्दू धर्म, जिसके 19वीं सदी से विवेकानन्द तथा गांधी जी अगुआ रहे के (हिन्दू धर्म के) इन दोनों पारंपरिक रूपों के बाबा साहब जन्मजात विद्रोही थे।

'द बुद्ध एंड हिज धम्मा' में उन्होंने बौद्ध धर्म को पूर्ण-अछूत लोगों के पूरे समाज, जिसने उनका नेतृत्व स्वीकार किया, के धर्म के रूप में ही केवल प्रस्तुत नहीं किया बल्कि उन्होंने बौद्ध धर्म का वह रूप भी सामने रखा, जिसे मैं 'मुक्तिदायी धर्म' (Liberation Theology) कहती हूँ।⁷ अपने लिखे सबसे महत्त्वपूर्ण लेखों में से एक अंतिम लेख 'बुद्ध एंड कार्ल मार्क्स' में अबेडकर ने बौद्ध धर्म को मार्क्सवाद के मुकाबले में रखा क्योंकि वे मार्क्सवाद द्वारा सामने रखी गई शोषण की समस्याओं के समाधान के रूप में बौद्ध धर्म को देखते थे पर यह मार्क्सवाद की आलोचना मात्र के लिए उन्होंने नहीं किया। इसने एक दूसरा काम भी किया। बौद्ध धर्म मार्क्सवाद का जवाब है, अबेडकर ने इस बात को सामने रखा।

इस प्रकार अबेडकर कृत 'द बुद्ध एंड हिज धम्मा' में पारंपरिक रूप से विद्यमान बौद्ध के कुछ मूलभूत सिद्धान्त को, जो थेरावेदा या महायान या वज्रयान के भिन्न रूपों में मौजूद है को मूलतः चुनौती दी। यह पुस्तक के परिचय में ही स्पष्ट हो जाता है जिसमें चार आधारभूत समस्याएं, जिन्हें अबेडकर बौद्ध धर्म के परंपरावादी रूप में पाते हैं प्रस्तुत की गई हैं।

अबेडकर सर्वप्रथम सिद्धार्थ 'परिव्रजन' या पारंपरिक कथा को अस्वीकार कर देते हैं। उनका तर्क है कि एक मृत व्यक्ति, एक बीमार व्यक्ति और एक बूढ़े आदमी को देखकर भावुक हो जाने की बात विश्वास से परे है क्योंकि ऐसे दृश्य से हर कोई सामान्य रूप से परिचित होता है।

दूसरे, उनका दावा है कि 'चार आर्य सत्य' दुःख, दुःख का मूल, दुःख का अंत और दुःख के अंत का मार्ग⁸ बुद्ध की मूल शिक्षा के अंग नहीं हैं। वे सीधे-सीधे कहते हैं कि यह सूत्र (नियम) बौद्ध धर्म की जड़ को ही काटता है। यदि जीवन दुख है, मृत्यु दुःख है और पुनर्जन्म दुःख है तो फिर बचा ही क्या... एक गैर बौद्ध के लिए बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को स्वीकारने में ये चार आर्य सत्य सबसे बड़ी बाधा हैं (खंड 11 : 2)।

तीसरी बात वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत तथा बुद्ध द्वारा आत्मा के अस्तित्व से इन्कार के बीच एक जबर्दस्त विरोधाभास है।

अतंतः वे यह दावा करते हैं कि भिक्षु ही 'बौद्ध धर्म की आशा' हो सकता है, यदि वह सामाजिक सेवक है और 'संपूर्ण मनुष्य' नहीं है।

'द बुद्ध एंड हिज धम्मा' में अंबेडकर की योजना इन समस्याओं का समाधान करने की है। सर्वप्रथम पनव्रज के संबंध में वे कहते हैं कि सिद्धार्थ ने पानी को लेकर शाक्यों तथा कोलीय वंश के लोगों के बीच आसन्न युद्ध को टालने के लिए घर छोड़ा था। यहां कारण सामाजिक था न कि धार्मिक और आरंभ में इधर-उधर भटकने के बाद यह सुनकर कि कोलियों तथा शाक्यों ने सुलह कर ली है गौतम ने अपना त्याग तथा खोज जारी रखने का निर्णय किया क्योंकि

"युद्ध की समस्या टकराव की समस्या है। यह एक वृहत्तर समस्या का एक भाग है। यह टकराव केवल राजाओं और राष्ट्रों के बीच ही जारी नहीं है बल्कि अभिजात लोगों तथा ब्राह्मणों के दोस्तों और परिवार के सदस्यों के, गृहस्थों के तथा राष्ट्रों के संघर्ष निरंतर जारी है, यही संसार की पीड़ा/दुःख का मूल कारण है। मुझे इस सामाजिक संघर्ष की समस्या का समाधान खोजना है।" (खंड 11 : 57-58)

दूसरी बात यह कि दुख के सिद्धांत के विषय में अंबेडकर कहते हैं कि यह वर्तमान संसार की जरूरी चारित्रिक विशेषता नहीं है और वस्तुतः बौद्धधर्म का उद्देश्य इस संसार के दुःखों का अन्त करना है। यह बौद्धधर्म के निराशावादी होने से इन्कार करने से जुड़ा है क्योंकि वे बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश का उल्लेख करते हैं "इसमें संदेह नहीं कि धम्म दुःख के अस्तित्व को स्वीकार करता है पर हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि यह दुःख के निवारण पर भी समान बल देता है। मेरे धम्म में आशा तथा उद्देश्य तो 'अविज्ज' को दूर करना है, जिससे मेरा तात्पर्य यह है कि दुःख के अस्तित्व से अनभिज्ञता। इसमें आशा इस कारण है कि यह मानव कष्टों को समाप्त करने का मार्ग दिखाता है।" अपेक्षाकृत ज्यादा जोरदार शब्दों में पांच परिव्राजक, उनके प्रथम धर्मोपदेश का यह कहकर स्वागत करते हैं "इस जगत के इतिहास में इससे पहले कभी मोक्ष की कल्पना मनुष्य के अपने सदाचारपूर्ण कार्यों से इसी जीवन तथा इसी पृथ्वी पर सुख के वरदान के रूप में नहीं की गई थी।" (खंड 11 : 130-131) यहां तथा समूचे 'बुद्ध एंड हिज धम्मा' में अंबेडकर यह बात बड़े जोरदार ढंग से कहते हैं कि बौद्ध एक धर्म (या धम्म) है और यह सामाजिक तथा प्राकृतिक कष्टों की समस्या का समाधान करने में सक्षम है।

तीसरी बात, वे कर्म की व्याख्या सामाजिक-जैविक अर्थों में करके, पुनर्जन्म के सिद्धांत तथा आत्मा के अस्तित्व से इन्कार की बात में मौजूद विरोधाभास को दूर करना चाहते हैं। कर्म का हिन्दू धर्म का विचार आत्मा के अस्तित्व पर आधारित है और यह पुनर्जन्म या देहांतरण की बात करता है, चूंकि बौद्ध धर्म आत्मा के

अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक नकारता है, अतः कर्म का इसका विचार एकदम ही अलग होना चाहिए। इस प्रकार शब्दों में समानता के बावजूद उनके अर्थों में मौलिक अंतर है (खंड 11 : 337-38)। अंबेडकर इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि बौद्ध विचार में पुनर्जन्म है पर देहांतरण नहीं है और इन दो बातों में अंतर यह है कि देहांतरण में एक अभौतिक आत्मा है जो देहांतरण करती रहती है और जिससे कर्म जुड़ा है। पुनर्जन्म को एक जैविक तथा भौतिक रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। अंबेडकर का कहना है कि इस विचार की बुद्ध की समग्र चर्चा जैविक-आनुवंशिक उत्तराधिकार (Biological Genetic Inheritance) तथा पर्यावरण के संदर्भ में है; कि बुद्ध ने कुछ जेनेटिक आनुवंशिकता की बात की थी पर उनका विश्वास था कि पर्यावरणीय प्रभाव अधिक था (खंड 11 : 338-344)। कर्म या कम्म मूलतः 'कारण-कार्य सिद्धांत' है या अधिक विशिष्ट अर्थों में सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था को नियंत्रित करने वाला नियम (या नियामिना) है।⁹

'कर्म के नियम' के सिद्धांत में यह विचार अनिवार्यतः शामिल नहीं है कि कम्म का परिणाम अपने कर्ता पर पड़ता है तथा इससे अधिक सोचने की गुंजाइश नहीं है... लोग आते हैं और लोग जाते हैं पर विश्व की नैतिक व्यवस्था बनी रहती है और उसी प्रकार कम्म का सिद्धांत भी, जिस पर यह नैतिक व्यवस्था आधारित है। (खंड 11 : 244)

अंबेडकर के बौद्ध धर्म में चौथी नई बात यह थी कि इसने भिक्षु संघ को समाज सेवा के प्रति समर्पित संगठन बताया। यह वास्तविकता कि उनके अनुभवों के अनुसार भिक्षु संघ ऐसा कार्य नहीं कर रहा था, बौद्ध धर्म के पहले से मौजूद रूपों को उनके स्वीकार पाने में एक बड़ी बाधा थी (उनके द्वारा लिखित परिचय या पूर्वकथन इस भावना को अभिव्यक्ति देता है कि महाबोधि सोसायटी द्वारा प्रकाशित पत्रिका, जो उस समय भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाली बड़ी पत्रिका थी, एकदम 'नीरस थी')। अंबेडकर और बुद्ध पर शोध में प्रस्तुत अपने विवरण में संघर्षरत एक और महत्वपूर्ण बात सामने रखते हैं। हालांकि भारत की महाबोधि सोसायटी की स्थापना महान श्रीलंकावासी बौद्ध अंगारिका धम्मपाल ने की थी पर इस सोसायटी में ब्राह्मणों का वर्चस्व था। विशेषतः अंबेडकर ने जब धर्मांतरण किया तो उस समय इस सोसायटी के अध्यक्ष श्यामा प्रसाद मुखर्जी थे।¹⁰ वे यह तथ्य भी सामने रखते हैं कि धर्मांतरण के समय तीन शरणार्थियों में से तीसरे को लेने को अनिच्छुक थे यानी वे उस समय मौजूद संघ की सत्ता स्वीकार नहीं करना चाहते थे। अंततः अंबेडकर ने दरअसल भिक्षु तथा साधारण व्यक्ति के बीच भेद को मानने से मना कर दिया और वहां उपस्थित लाखों दलितों को नए धर्म की शपथ स्वयं दिलाई। (संघर्षरत, 1986)

धम्म : धर्म से आगे दुनिया को नया रूप देने की एक कोशिश

अंबेडकर का बौद्ध धर्म, जिसे अक्सर **नवायण बौद्ध धर्म** या हीनयान-महायान और वज्रयान के तीन परंपरावादी मार्गों से भिन्न '**चौथा मार्ग**' का नाम दिया गया एक बहुत ही अहम सामाजिक समझ पर आधारित है। बौद्ध धर्म के चुनाव का निर्णय उन्होंने लिया। उस समय तक आते-आते वे **बौद्ध धम्म को 'धर्म' से भिन्न समझने लगे थे** यानी ईसाई धर्म, इस्लाम, हिन्दू धर्म या '**धर्म**' की परिभाषा में जो भी आते हैं, उनसे अलग। वास्तविकता यह है कि यदि पश्चिमी रुझान वाली धर्म की '**शब्द कोषीय**' परिभाषा देखें, जिसमें आमतौर पर ईश्वर में आस्था सम्मिलित है तो बौद्ध धर्म जो आत्मा तथा ईश्वर के भावों को नकारता है और विवेकशीलता और प्रयोग पर जोर देता है, बिल्कुल अलग सामाजिक घटना है।

पर यदि हम धर्म को **दुरखाइमियान** के तरीके से परिभाषित करते हैं यानी पवित्र माने जाने वाले विश्वासों तथा प्रथाओं का एक ऐसा समूह मानते हैं जो उनमें आस्था रखने वाले लोगों को एक समाज के रूप में जोड़ती है¹¹ (**इस परिभाषा ने अब धर्म के पूरे समाजशास्त्र को ही प्रभावित किया है**) और मात्र पारंपरिक बौद्ध धर्म नहीं बल्कि अंबेडकर द्वारा प्रस्तुत इसका अत्यंत वैज्ञानिक रूप भी कहलाएगा। ध्यान रखने की बात यह है कि अंबेडकर जोर देकर कहते हैं कि धम्म केवल नैतिकता नहीं है **बल्कि यह तो 'पवित्र' नैतिकता है**। समाज में '**धम्म**' की भूमिका पर अंबेडकर जितना जोर देते हैं उससे दुरखाइम की याद आ जाती है। समाज को एक सामाजिक व्यवस्था के लिए धम्म (**या नैतिक आधार वाले किसी धर्म**) या उनके अपने शब्दों में कहें तो '**सरकारी उपकरण**' की आवश्यकता है। *"समाज को तीन विकल्पों में से चुनाव करना है। समाज सरकार के उपकरण के रूप में किसी भी धम्म को न रखने का विकल्प चुन सकता है... इसका अर्थ होगा कि समाज अराजकता का मार्ग चुनता है। दूसरे, समाज पुलिस का यानी तानाशाही को सरकार के उपकरण के रूप में चुनाव कर सकता है। तीसरा विकल्प है कि जहां कहीं भी लोग धम्म का अनुपालन न करें तो ऐसी स्थिति में समाज दंडाधिकारी सहित धम्म को चुने। अराजकता तथा तानाशाही में स्वतंत्रता छिनेगी। केवल तीसरे विकल्प में स्वतंत्रता बच पाएगी। अतः जो लोग स्वतंत्रता चाहते हैं उन्हें धम्म ही चुनना चाहिए।"* (खंड 11 : 317)

दूसरे धर्म यहां तक कि ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म भी सामाजिक व्यवस्था के लिए एक आधार प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि अंबेडकर लगातार जोर देते हैं पर ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म एक अन्यायपूर्ण और शोषणमूलक सामाजिक व्यवस्था है तो जो पारंपरिक धर्म हैं, उनमें और धम्म में अंतर क्या है? इसे बताने में ही अंबेडकर पर मार्क्स का दबाव सामने आ जाता है **"धर्म का उद्देश्य संसार की उत्पत्ति को व्याख्यायित करना है। धम्म का उद्देश्य संसार को एक नया रूप देना है।"**

यहां मार्क्स की प्रतिध्वनि स्पष्ट है, सचेतन रूप में भी क्योंकि अंबेडकर ने

माक्स के एक तर्क जिसे वे माक्स में बचा 'अग्नि अवशेष' मानते थे, को नए ढंग से अभिव्यक्ति दी थी "दर्शन का कार्य संसार की पुनः रचना है। संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करने में समय नष्ट करना नहीं" (खंड 3 : 444)।

यहां पुनः हम देखते हैं कि अंबेडकर का अंतिम तथा सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य **माक्सवादी प्रश्न करना किंतु उनका बौद्ध धर्म सम्मत उत्तर देना है।**

इस प्रकार जहां उन्होंने पहले के लेखन में तथा अन्य स्थानों पर सामान्यतः धर्म के अर्थ में बौद्ध धर्म को शामिल किया है और उस परिधि में बौद्ध धर्म को अन्य धर्मों से अलग बताया है, अपने अंतिम प्रतिपादन में धम्म को ऐसा कुछ मानते हैं जो मूल रूप से हटकर है।¹² धर्म को व्याख्यायित करने वाले कुछ समाजशास्त्रियों के शब्दों में धर्म से कई अर्थ प्रतिध्वनित होते हैं, जिनमें सामान्यतः विश्व, मानव और उनके स्रष्टा और इसी तरह के अन्य विषयों की व्याख्या शामिल है। इन अभिधारणाओं के लिए आस्था जरूरी है। विश्व और आस्था संबंधी अभिधारणाओं का गौण उत्पाद नैतिकता है। अंबेडकर की राय में इसका परिणाम यह हुआ कि धर्मों (या बौद्ध धर्म को छोड़कर अन्य धर्म या कहे जा सकते हैं) के लिए नैतिकता एक गौण प्रशाखा है या कहे जा सकते हैं कि यह एक डिब्बा है जो धर्म के इंजन में जोड़ दिया गया है... जिसे अवसर के अनुरूप जोड़ा तथा हटाया जा सकता है (खंड 11 : 322)। इसके विपरीत बौद्ध धर्म का आधार तर्क है और धम्म विशुद्ध नैतिकता है पर यह एक पवित्र नैतिकता है, चूंकि यह पवित्र है यानी इसे ऐसा स्थान प्राप्त है कि इसे बदलने की सामर्थ्य मनुष्य में नहीं। यह सामाजिक व्यवस्था को संचालित कर सकता है।

अंबेडकर बौद्ध धर्म में बुद्धिवाद पर प्रबल जोर डालते हैं। उनके विचार से जो व्यक्ति बौद्ध धर्म को अंगीकार करता है वह एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में ऐसा करता है, इस विश्वास के साथ कि यही सम्यक मार्ग है। वस्तुतः 'द बुद्ध एंड हिज धम्मा' में 'तीन शरण', जो बौद्ध धर्म में आस्था रखने वालों के लिए प्रमुख विश्वास प्रकट करने वाले कथन हैं, के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। अंबेडकर जहां एक करिश्माई धार्मिक गुरु के रूप में बौद्ध धर्म की अपनी व्याख्या प्रस्तुत करने का दायित्व अपने ऊपर लेते हैं, वे ऐसा करने का एक महत्वपूर्ण तर्क भी देते हैं। बुद्ध के अपने तर्कणावाद के पक्ष में बोलते हुए वे कहते हैं कि "बौद्ध शास्त्रों में मौजूद ऐसी व्याख्याएं हैं जो मेरी व्याख्याओं के उलट हैं। वह ब्राह्मणों द्वारा घुसेड़ी गई हैं।" वे उनको समझने की एक सरल विधि प्रस्तुत करते हैं "किंतु परख का एक तरीका मौजूद है। यदि ऐसा कुछ है जिसे विश्वास के साथ कहा जा सके, वह है अगर बुद्ध विवेकशील नहीं थे, तर्क संपन्न नहीं थे, तो वे कुछ नहीं थे, अतः कुछ भी जो विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत है, उसे ही बुद्ध का शब्द समझना चाहिए।" (खंड 11 : 350-51)

अंबेडकर के अनुसार धम्म पवित्र एवं तर्कपूर्ण नैतिकता है, यह ऐसी शिक्षा है जो संसार की पुनर्संरचना कर सकती है जिससे स्वतंत्रता, समानता एवं सामुदायिकता वाले एक समाज का ढांचा खड़ा हो सके। यह मुक्तिदायी धर्म भर नहीं है।¹³ यह एक अनोखी क्रांतिकारिता के लिए जमीन तैयार करता है। अधिकांश परिवर्तनकारी एक्टिविस्टों (ईसाई मुक्ति धर्म के अनुयायियों सहित) ने अपने धार्मिक सिद्धांत के विकास में मार्क्सवाद (या ईको रोमैन्टिसिज्म के किसी न किसी रूप से) से सामान्यतः बहुत कुछ उधार लिया है। अंबेडकर जो दशकों तक मार्क्सवाद से लगातार भिड़े रहे ने अंत तक अपने को इससे बचाए रखा। उनका अर्थशास्त्र बहुत ही अधिक लचीला था और इसमें अर्थशास्त्र में उनकी शिक्षा ने उन्हें राजनैतिक आर्थिक सिद्धांत के लिए अंततः कहीं ज्यादा मजबूत आधार दिया। एक निष्पक्ष तथा तर्कसम्मत आर्थिक-राजनैतिक विश्लेषण प्रस्तुत करने में जिस बात ने उन्हें समर्थ बनाया वह यह थी कि अधिकांश मार्क्सवादियों की तरह अपने आर्थिक दर्शन को उन्होंने एक वैकल्पिक 'वैश्विक दृष्टिकोण' (View) या अर्द्ध धार्मिक सिद्धांत नहीं समझा। संसार की पुनःसंरचना में उनके प्रयत्नों और विश्वास को मजबूती देने और संगठित करने में धम्म की उनकी अपनी व्याख्या ने मार्क्सवाद का एक प्रकार का विकल्प प्रस्तुत किया पर इसे किसी विशेष समयबद्ध विश्लेषण के माध्यम से ऐसा करने की जरूरत नहीं पड़ी जो 'पूँजीवाद' की किसी विशेष समय से जुड़ी व्याख्या से असंबद्ध थी। पूँजीवाद या आधुनिक अर्थव्यवस्था इसे जो कुछ नाम दें को समझने के लिए वे ज्यादा स्वतंत्र थे। वे लोग जो स्वयं के मार्क्सवादी होने के प्रति सजग हैं, कई प्रकार से 21वीं शताब्दी, तीसरी सहस्राब्दी तथा सूचना क्रांति के युग का सामना करने में कठिनाई अनुभव करते हैं क्योंकि मार्क्स विलक्षण मेधावी होने के बावजूद इन परिवर्तनों का पूर्वानुमान नहीं कर पाया था। मार्क्स के अपने ही कथन, कि "में स्वयं मार्क्सवादी नहीं हूँ" को मानने में मार्क्सवादियों को समस्या नहीं होनी चाहिए और उन्हें मार्क्सवाद को धर्म-सिद्धांत की बजाए विज्ञान मानना चाहिए था पर ऐसा हुआ नहीं। मार्क्सवाद को लोग धर्म की तरह मान रहे हैं। अंबेडकर इन सब बातों से मुक्त थे। वे स्वयं भी सूचना क्रांति के युग इस नई टेक्नोलॉजी जिससे हमारा आज सामना है का पूर्वानुमान नहीं कर सके थे। वे राज्य-समाजवाद (State Socialism) के धूल धूसरित होने और भारत में इसके नेहरूवादी रूप के मर्यादाहीन होने का भी पूर्वानुमान नहीं कर पाए थे। इसके बावजूद पर यह निश्चित है कि इन मुद्दों से उन्होंने एकदम अलग तरीके से निपटा होता।¹⁴

पर्यावरण संबंधी प्रश्न आज जितना महत्वपूर्ण हो गया है उसका भी अंदाजा अंबेडकर नहीं लगा पाए किंतु यह भी निश्चित है कि पर्यावरणीय विनाश का दलितों, आदिवासियों और बहुजनों पर जितना बुरा प्रभाव पड़ा है, अंबेडकर स्वाभाविकतः इस

विनाश के प्रति चिंतित होते। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि वे इस समस्या से ईको-रोमैन्टिसिस्ट (**Eco-romanticists**) लोगों से एकदम अलग तरीके से निबटते¹⁵ जो कि आज पर्यावरण संबंधी आंदोलनों में प्रभुत्व रखते हैं।

उन्होंने पारंपरिक जाति आधारित समाज और उसके जीवन-निर्वाह योग्य उत्पादन (**Subsistence production**) को आदर्श नहीं बनाया होता। उन्होंने इस प्रकार की घोषणा नहीं की होती कि आदिवासी लोग या अन्य व्यापारिक तत्त्व, समाज के अस्तित्व में आने से पूर्व अकाल जैसी चीज से परिचित नहीं थे। उन्होंने इस प्रकार की कल्पना नहीं की होती कि शुष्क भूमि वाले क्षेत्रों में किसान बाहर से पानी लाए बिना जीवित रह सकते हैं या कृषि उत्पादन सिर्फ स्थानीय स्तर पर वृष्टि-जल संग्रहण (**Rain water harvesting**) से संभव था और वे धन के संचय और मानव क्षमताओं में विकास जो विकास और आधुनिक टेक्नोलॉजी और विज्ञान संभव बनाते हैं का विरोध नहीं करते। उन्होंने बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के क्षेत्र में बड़ा योगदान किया और दामोदर घाटी परियोजना तथा उड़ीसा के हीराकुंड बांध के संबंध में उनकी राय से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने इनके बहुउद्देशीय परियोजना में विकसित किए जाने की जरूरत को समझ लिया था ताकि उनसे केवल बाढ़ की समस्या का निवारण ही न हो बल्कि सिंचाई, बिजली उत्पादन और नौका संचालन भी हो पाए (देखें थोराट, 1998)। उनके धम्म ने उन्हें निर्वाह योग्य विकास की ओर प्रेरित किया होता, महज औद्योगिक विकास के स्वच्छंदतावादी (**Romanticist**) विरोध को नहीं उकसाया होता। इस सबमें अंबेडकर का नवायण बौद्ध धर्म संसार की पुनर्संरचना का उद्देश्य वाला धम्म था और इस प्रकार इस नई शती तथा नई सहस्राब्दी में सामाजिक न्याय या विवेकपूर्ण समतावादी मानव समाज की खोज के लिए यह उपयुक्त था।

निष्कर्ष

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने लगातार जीवन भर आधारभूत मूल्यों, स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे (जिसके स्थान पर मैंने सामुदायिकता के प्रयोग का सुझाव दिया है ताकि भाईचारे में जो पुरुषवादी पक्षपात की गंध है, से बचा जा सके) पर आधारित एक नई सामाजिक व्यवस्था के अपने दर्शन को अभिव्यक्त किया। ये जो कुछ सरल प्रतीत होने वाले मूल्य हैं, उनके चारों ओर विचारों की एक जटिल किंतु संघटित प्रणाली बुनी हुई थी, जिसमें इतिहास तथा ऐतिहासिक परिवर्तन का सिद्धान्त, वर्तमान सामाजिक संरचना तथा वे संस्थाएं जिनका संबंध उत्पीड़ित लोगों तथा शेष लोगों में से अधिकांश (खास तौर से दलित लोग जिनसे वे अंतरंग रूप से जुड़े हुए थे) शामिल थे। यह प्रणाली एक नए समाज के रास्ते को तथा संसार को एक नया

रूप देने के लिए मुक्तिदायक परिवर्तन की ओर बढ़ने के प्रस्तावों को बाधित करती थी। हमने उनके दर्शन को सामाजिक एवं मानव विकास की उनकी समझ उनके राजनैतिक एवं आर्थिक सिद्धांत और 'नवायन बौद्ध धर्म' जिसे उन्होंने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में विकसित किया, के माध्यम से जाना है।

पहली बात तो यह कि डॉ. अंबेडकर ने काल (Eras) और चक्रों (Eons) के परम्परागत दर्शन और स्थैतिकता के बने बनाए व निर्धारित नुस्खों अथवा अधोःपतन (Degeneration) की फर्जी अटकलों व अनुमानों (Hypothesis) के विपरीत मानव इतिहास को कम से कम एक सक्षम विकासशील या प्रगतिकारी मानव इतिहास के रूप में तो देखा, जिसे न केवल सीधे-सादे ठोस स्थूल शब्दों या ढंग से भी परिभाषित किया जा सकता था बल्कि जिसे आजादी, बराबरी और सामुदायिकता में विकास या प्रगति भी कहा जा सकता था। इस मामले में वे मार्क्स जैसे ही थे। लेकिन ऐतिहासिक विकास में सिद्धांतों, धार्मिक संस्कृतियों की भूमिका पर जोर देने के प्रश्न पर वे उनसे मतभेद रखते थे। यह कहा जा सकता है कि मार्क्स और अंबेडकर दोनों ने भौतिकतावाद (आर्थिक एवं वस्तुगत कारक) और आदर्शवाद (आत्मपरक कारक) का अपने पूरे सिद्धान्त में एक तर्क गढ़ना चाहा जिसकी परिणति मार्क्स द्वारा वस्तुपरक कारक पर आवश्यकता से अधिक जोर देने में हुई⁶ जबकि अंबेडकर ने आत्मपरक कारक पर बल दिया।

हम अंबेडकर को स्वतंत्रता, समानता और सामुदायिकता को बढ़ाने वाली नीतियों तथा राजनैतिक संस्थाओं की खोज में प्रयासरत भी देखते हैं। एक अर्थशास्त्री के रूप में उनके आरंभिक काल में 1920 के दशक का उनका बड़ा विद्वतापूर्ण पर पारंपरिक प्रतीत होने वाला आर्थिक विश्लेषण सामने आया। उसके बाद मार्क्सवादी प्रभाव वाले राज्य समाजवाद (State socialism) का दूसरा काल आरंभ हुआ, जो अपने चरम बिन्दु पर 1940 के दशक के मध्य में पहुंचा पर अपने जीवन के अंत तक पहुंचते-पहुंचते वे स्पष्टतः एक प्रकार के सामाजिक उदारवाद की ओर लौट रहे थे, जिसका जोर राज्य तथा बाजार के समन्वित एवं विवेकपूर्ण कार्य पर था। इस पूरे काल में वे समाज के निर्धनतम एवं सर्वाधिक शोषित वर्ग के प्रति अपनी चिंताओं से गहरे रूप से जुड़े रहे। राजनैतिक रूप से उनकी चिंता केवल सामान्य लोकतंत्र या साम्राज्य विरोध, जिससे सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथ से भारतीय अभिजात्य वर्ग को हस्तांतरित की जा सके तक ही सीमित नहीं नहीं थी बल्कि वे संवैधानिक लोकतंत्र तथा कानून का शासन लाना चाहते थे और स्वतंत्र भारत में इन संस्थाओं के निर्माण में उन्होंने एक अहम् और अविस्मरणीय भूमिका निभाई।

अंततः उन्होंने एक ऐसा धर्म पसंद किया जो स्वतंत्रता समानता एवं सामुदायिकता का पोषक है। भारत में बौद्ध धर्म के अंबेडकर द्वारा पुनर्जीवित करने के पीछे उनकी कई धारणाएं थीं, जैसे कि

- ब्राह्मणवाद (ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म) एक ऐसी धार्मिक विचारधारा है, जिसने न सिर्फ हजारों सालों से अछूतों को गुलाम बनाया बल्कि पूरे भारतीय समाज को एक प्रकार की जड़ता में बांधे रखा
- कि किसी भी समाज में शासन के लिए आवश्यक नैतिक बल प्रदान करने के लिए धर्म के किसी न किसी रूप की जरूरत है
- कि पूर्व में अछूत रहे लोगों को ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म की मानसिक दासता से निकल पाने के लिए एक नए धर्म की विशेष रूप से जरूरत थी और सबसे बढ़कर यह
- कि भारत के लिए और अछूतों के लिए तथा एक नई सामाजिक व्यवस्था के लिए बौद्ध धम्म उपयुक्त धर्म है क्योंकि यह स्वतंत्रता, समानता एवं सामुदायिकता के नैतिक आग्रह पर केन्द्रित एक विवेकपूर्ण धर्म है।

कहा जा सकता है कि नई सामाजिक व्यवस्था का उनका दर्शन मूल्यों के इसी त्रिक से निर्मित था। शोषण और प्रभुत्व की इमारत जो संसार को नया रूप देने में बाधा बन रही थी उसके बारे में उनका क्या कहना था? साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष और सरकारी नीतियों को निर्धनता एवं अभाव को समाप्त करने में लगाने पर जोर देने की जरूरत के साथ भारतीय समाज के भीतर विद्यमान शोषण के मुख्य ताने-बाने की उनकी व्याख्या स्वतंत्रता के मार्ग की मुख्य अड़चन और चार वर्णों वाली जाति प्रथा पर केन्द्रित थी। यहां यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि सामाजिक परिवर्तन और पुनर्निर्माण की अंबेडकर की नीतियों में तीव्र आर्थिक विकास, औद्योगीकरण और तकनीकी परिवर्तन शामिल था। कल्याणकारी सेवाओं के सरकारी प्रबंध में सार्वजनिक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, आधारभूत ढांचे के निर्माण की सरकार की जिम्मेदारी जिसमें विशेष रूप से सिंचाई, संसदीय लोकतंत्र और भारतीय समाज की शोषित जातियों (यानी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ा वर्ग) के सभी वर्ग के आरक्षण की व्यवस्था करने वाला एक संवैधानिक ढांचा और भूमि सहित सभी संसाधनों तक उनकी पहुंच सम्मिलित थे। इन सब के बावजूद उन्होंने 1936 के अपने जाति-नाश के मुद्दे को जीवित रखा कि जाति प्रथा का अंत केवल अंतर्विवाह और ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म को टुकरा कर ही किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि अंतर्जातीय विवाह स्वाभाविक रूप में तभी संभव है जब विभिन्न जातियों के रूप में मौजूद खाई को आर्थिक विकास अर्जित कर और प्रस्तावित नीतिगत उपायों से कम किया जाए पर भारत में ब्राह्मणवाद को हराने के लिए जरूरी है कि न केवल दलितों के लिए बल्कि सभी शोषित वर्गों के लिए एक सचेत और सामूहिक कार्यवाही हमारे संघर्ष का केन्द्र हो। उनकी विद्वता और एक्टिविज्म का जोर इसी पर था। अंबेडकर एक सक्रियतावादी के रूप में जिए और मरे। उन्होंने ऐसी लड़ाई लड़ी जिसे मार्क्स ने क्रान्तिकारी प्रक्रिया की संज्ञा दी थी। अपने जीवन के अंतिम

वर्ष में ही धम्म दीक्षा, भारतीय रिपब्लिकन पार्टी का निर्माण और संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन (प्रथम वामपंथी संयुक्त मोर्चा) से उनका जुड़ाव हुआ। पूर्व में संविधान तैयार करने, हिन्दु कोड बिल पर बहस और उनका त्यागपत्र तथा योजना एवं सिंचाई नीति में उनकी सक्रियता के उस दशक के उनके काम की चर्चा क्या की जाए? वे जीवन भर आज जिसे आम लोगों की लामबंदी कहते हैं से गहन रूप से जुड़े रहे। मार्क्स की तरह ब्रिटिश म्युजियम में बैठने और अपना सिद्धांत गढ़ने का समय उन्हें बहुत ही कम मिला। अंबीरंजन ने लिखा है कि यदि अंबेडकर ने विद्वता के उद्यान में परिभ्रमण जारी रखने का निर्णय किया होता और वित्तीय इतिहास में लेखन की भविष्य की अपनी योजना स्वयं बनाई होती तो अकादमिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में बड़ी सफलता अर्जित की होती (अंबीरंजन : 1999, 3285) पर 1920 के दशक में जब वे महाड़ सत्याग्रह में शामिल होकर राजनैतिक संगठन के क्षेत्र में कूद पड़े तो उन्हें अकादमिक अर्थशास्त्र को अलविदा कहना पड़ा। जीवन के उनके दूसरे पक्ष के विषय में हम कह सकते हैं कि एक समाजशास्त्री और समाज विज्ञानी के रूप में उनका एक शानदार कैरियर हो सकता था यदि उन्हें अपने इधर-उधर बिखरे नोटों, लेखों और भाषणों के रूप में जिस सिद्धान्त को वे रच रहे थे, को सावधानी पूर्वक निर्मित करने का समुचित समय मिला होता। यह एक त्रासदी है कि वे ऐसा नहीं कर पाए पर उसका ढांचा तो वे बना ही गए।

अंबेडकर औपनिवेशिक भारत के महान जननेताओं में से एक थे, जिन्होंने गांधी या कांग्रेस के अन्य किसी नेता या फिर किसी वामपंथी नेता के समान ही जनसामान्य को संगठित किया। इस प्रकार वे अपने कार्यों (जैसा कि उन्होंने 1930-32 की अवधि में किया) और जनसमर्थन की दृष्टि से गांधी के प्रतिस्पर्द्धी थे। हालांकि उन्हें सबसे उत्साहपूर्ण समर्थन दलितों से प्राप्त था पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ या कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की चुनौती को उनकी ही शक्ति के क्षेत्रों में स्वीकार करने में वे पर्याप्त रूप से सक्षम थे। 1930 या 1940 के दशकों में दलित अलगाव के शिकार भी न थे। उदाहरण के लिए 1932 में पूना समझौते को लेकर उनके निंदात्मक रुख का समर्थन करने के लिए पेरियार के नेतृत्व में तमिलनाडु में चले गैर-ब्राह्मण आन्दोलन को देखा जा सकता है (गीता और राजदुरई 1998, 362-63)। अंबेडकर स्वयं भी इस दलित-बहुजन गठजोड़ के उस समय भी इच्छुक थे, जब दलित बहुजन जातियों के विरुद्ध जमीनी स्तर पर मुठभेड़ में लगे हुए थे। आज जब समाज के विखंडन और दलित अलगाव की समस्या जारी है, ऐसे गठजोड़ और इससे अर्जित जनशक्ति की संभावना कहीं अधिक है। इनके बीज अन्य बातों के अलावा अंबेडकर के सिद्धान्तों में ही मौजूद हैं।

अंबेडकर में जनसाधारण को लामबंद करने की विलक्षण योग्यता और विद्वता थी। जनसाधारण के समर्थन वाले स्वतन्त्रता पूर्व काल के किसी भी अन्य नेता के

विद्वता के दावे की क्या कहें, किसी ने भी उसका स्वांग भी नहीं किया था और जहां तक कुछ अपवादों का संबंध, है जैसे कि डांगे कृत 'इंडिया फ्रॉम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टू स्लेवरी' और नेहरू कृत 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' को लें तो डांगे को भीषण अलोचनाएं झेलनी पड़ीं, जबकि नेहरू की व्याख्याओं के जीवित बचे रहने का श्रेय उनके बाद के काल में नेहरूवादी विद्वानों के बने रहे, वर्चस्व को जाता है। किसी भी विद्वान को अर्थशास्त्र की प्रारंभिक शिक्षा संपन्न होने की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी।

उस समय की उथल-पुथल भरी घटनाओं के दौरान अंबेडकर जब दुनिया के सबसे उत्पीड़ित तथा उपेक्षित लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, उल्लेखनीय बात यह है कि उनका स्वर विवेकपूर्ण तथा निष्पक्ष था। उसमें आवेग तो है पर आवेग तर्क से बंधा हुआ है और उसमें महज नारेबाजी और कविताई अतिशयोक्ति जो जनता को उकसाने वाले नेताओं को तो छोड़ दें, आज के भारतीय बुद्धिजीवियों में भी आम है नहीं है। अंबेडकर ने बुद्ध के बारे में जो कहा था, वही अंबेडकर को लेकर हम भी दुहरा सकते हैं कि 'वे (यानी अंबेडकर) यदि विवेकपूर्ण और तर्कपूर्ण नहीं थे तो फिर कुछ भी नहीं थे।'

आज के समय में जब इतने सारे वामपंथी या तो सामान्य मार्क्सवादी सिद्धान्तों की रट लगाने में जुटे हैं या फिर मोहभंग का शिकार हो कर एक प्रकार के ईको-रोमैन्टिसिज्म जिसका दावा है कि समाजवाद, विज्ञान और विकास की योजनाएं बीसवीं सदी में ही दम तोड़ चुकी हैं की ओर आकर्षित हो रहे हैं। डॉ. बाबा साहब अंबेडकर एक सच्चा विकल्प प्रस्तुत करते हैं, एक नई राह जो नई सहस्राब्दी में हमें ले जाती है। स्वतन्त्रता, समानता तथा सामुदायिकता पर आधारित एक नई सामाजिक व्यवस्था के दर्शन की धार, जिसकी टेक तर्क के साथ भावावेग पर भी है।

संदर्भ ग्रंथ

1. अंबेडकर के अपने लेखन के उद्धरण वसंतमून द्वारा संपादित महाराष्ट्र सरकार की पुस्तक के डॉ. बाबासाहब अंबेडकर : राइटिंग्ज़ एंड स्पीचिज़ के खंडों से लिए गए हैं।
2. ध्यान रखने की बात है कि मार्क्सवादियों द्वारा शुरू-शुरू में अंबेडकर की व्याख्या उन्हें 'उदारवादी' या 'बुर्जुआ उदारवादी' कहकर की गई (और स्वतंत्रता पूर्व साम्यवादी दस्तावेजों में उनकी जबरदस्त भर्त्सना की गई)। इधर हाल के समय में अंबेडकर को मिलाने और सहयोजित करने की कोशिशें हुई हैं और उन्हें 'क्रांतिकारी लोकतंत्रवादी' (इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए पर पारंपरिक मार्क्सवादी वर्गीकरण के अनुसार एक समाजवादी की तुलना में किसी भी प्रकार का लोकतंत्र समर्थक नहीं होता है।) कहा गया। अंबेडकर की आर्थिक विचारधारा के लिए उनकी स्टेट एंड माइनोंरिटीज कृति को ही चुना जाता है और अर्थशास्त्र से संबद्ध उनकी आरंभिक रचनाओं तथा बौद्ध धर्म की ओर

- उन्मुख, बाद की उनकी कृतियों को नजरअंदाज कर दिया जाता है।
3. इस अपर्याप्तता के कई कारण हैं : द्वैध प्रणाली का सिद्धांत जाति तथा पूंजीवाद के ढांचे को जोड़ने का कोई रास्ता नहीं प्रस्तुत करता और यह पूंजीवाद को मार्क्सवादियों के आर्थिक सिद्धांत के आधार पर प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार, कारण बताने के लिए महत्वपूर्ण आधार मानता है जबकि जाति तथा अन्य कारकों को **गौण अधिरचना** (Secondary Superstructure) समझा जाता है।
 4. उनकी कोटि का एक अन्य विद्वान भी इस बात को स्वीकारता है कि अमरीकी स्वतंत्रता की उद्घोषणा को लिखने में इस अमरीकी किसान डेमोक्रेट ने फ्रांसीसी नारे 'लाइफ, लिबर्टी एंड प्रॉपर्टी' को बदलकर Life, Liberty and the Pursuit of Happiness (**जीवन, स्वतंत्रता और सुख की खोज**) कर दिया है इस परिवर्तन को स्वयं अमरीकी ही अधिक महत्व नहीं देते।
 5. सही-सही कहा जाए तो इसे धर्म परिवर्तन नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि अंबेडकर तथा अन्य यह नहीं मानते कि आरंभ से ही दलितों को कोई धर्म था। इसकी बजाए वे धम्म दीक्षा की बात करते हैं यानी 'धर्म की शपथ लेना'। दलित किसी पुराने धर्म को छोड़ नया धर्म स्वीकार नहीं कर रहे थे बल्कि वे एक धार्मिक जीवन में प्रवेश कर रहे थे जो पहले हिन्दू धर्म उन्हें नहीं दे पाया था।
 6. 'ब्राह्मणवाद' ज्यादा सटीक शब्द है क्योंकि 'हिन्दूधर्म' शब्द तो 19वीं शताब्दी में गढ़ा गया। पहले इस धर्म की महान विभूतियों ने भी या तो सनातनी धर्म या इसके आंतरिक विभिन्न मतों या सम्प्रदायों जैसे कि वैष्णव धर्म या शैव धर्म नाम का ही प्रयोग किया। 'हिन्दू' शब्द एक भौगोलिक शब्द से निकला है और इसी रूप में इस्तेमाल होता रहा। ब्रिटिश लोगों ने इस देश के निवासियों के लिए इसके प्रयोग को प्रचलित किया।
 7. Theology शब्द वस्तुतः भ्रामक तथा पश्चिमी पक्षपातपूर्ण सोच का परिचायक है। इसका अर्थ है ईश्वर में विश्वास या फिर यह The-ology अर्थात् विशिष्ट प्रश्नों खास तौर पर मार्क्सवादी प्रश्नों का शास्त्र है यानी यह धार्मिक अभिप्राय की समस्या से उतना संबद्ध नहीं है जितना कि शोषण की समस्या से।
 8. दुःख का आमतौर पर अंग्रेजी पर्याय Suffering है। संघर्षता इनके लिए दुःख का सत्य, दुःख के मूल का सत्य, दुःख के अंत का सत्य का प्रयोग करते हैं (**संघर्षता 10-11**)। 'आर्य' शब्द यहां नस्ल सूचक अर्थों में नहीं प्रयुक्त है। यह Noble के अर्थ में है।
 9. हिन्दू धर्मवादी दृष्टि से कर्म की एक व्याख्या शर्मा ने हाल में ही प्रस्तुत की है (1997 : 2340) पर उन्हें भी सामूहिकता के भाव तथा जातिगत वर्गीकरण को अस्वीकार से जोड़ने में काफी मेहनत करनी पड़ी इन पहलुओं को बौद्ध धर्म में आसानी से अंबेडकर पकड़ लेते थे।
 10. वसंतमून कृत **वस्ती** (Vasti) में दो ब्राह्मणों का जिक्र है जो नागपुर में महाबोधि सोसायटी का काम करते थे। विवरण सम्मानजनक तथा प्रशंसापूर्ण है पर उससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म के एक अंग के रूप में

प्रस्तुत करने की कोशिश की और अंबेडकर उन पर इतना संदेह और अविश्वास करते थे कि (नागपुर स्थित दीक्षाभूमि) को बदलने को तैयार हो गए थे वे धर्मांतरण का स्थान यह सुनकर उस स्थान का भूमिपूजन समारोह उनमें से एक ब्राह्मण के हाथों सम्पन्न हुआ है। जब उन्हें विश्वास हो गया कि यह समाचार सही नहीं है तभी उन्होंने अपना इरादा टाला।

11. डुरखाइम ने बौद्ध धर्म को एक उदाहरण के रूप में यह बताने हेतु प्रस्तुत किया कि कुछ धर्म सद्गुणसम्पन्न हैं। धर्म की उसकी व्याख्या में (डुरखाइम 1965) 'पवित्रता' तथा समाज को एक सूत्र में बांधकर रखने के कार्य पर जोर है और यह उसके इस विश्वास के अनुरूप है कि भविष्य के एक न्यायपरक और समतावादी समाज को धर्म की आवश्यकता होगी पर यह धर्म तर्क आधारित होना चाहिए। इस अर्थ में धर्म के विषय पर डुरखाइम के विचार अंबेडकर के निकटतर है। बनिस्वत मार्क्स या वेबर के डुरखाइम की परिभाषा अब समाजशास्त्री भी स्वीकारते हैं। उदाहरणार्थ गिडेन्स को लें, जो धर्म को ऐसे प्रतीकों को समुच्चय मानते हैं जो आदर या आदरजन्य भय जगाए, जो कि आस्तिकजनों के समाज में धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़े होते हैं।
12. यह भेद बौद्ध धर्मावलंबी भी करते हैं जैसे कि संघरक्षत।
13. जिन्हें 'मुक्तिदायी धर्मविज्ञान' कहते हैं (यहां मैं 'दलित थियोलोजी' की बात नहीं कर रही जिसका मैंने पूरा अध्ययन नहीं किया है) वह प्रायः एक सामाजिक चिन्ता तथा मार्क्सवादी व्याख्या को धर्मविज्ञान में जोड़कर बना है। ईश्वर के विचार को पुनः परिभाषित करने 'ऐतिहासिक ईसा मसीह' की बात करने में कुछ हाल के ईसाई धर्मशास्त्र रूढ़िवाद के कुछ रूपों से चिपके हैं। फिट्स का उदाहरण लें जिसके अनुसार ईश्वर 'अस्तित्व का कारण है' पर यह परिभाषा ईश्वर की एक ब्राह्मणवादी व्याख्या बन जाती है न कि ईश्वर के पूरे विचार का ही बौद्ध धर्म का इनकार। बुद्ध के मानव होने की बात पर जोर (जैसा कि अंबेडकर देते हैं) से यह मुझे 'ऐतिहासिक ईसा मसीह' के विचार से भिन्न मालूम होता है।
14. उदाहरणार्थ मेरे ख्याल से अंबेडकर जो स्वयं को पूर्व तथा पश्चिम की महान परंपराओं का उत्तराधिकारी समझते थे ने वैश्वीकरण का स्वागत किया होता हालांकि इसके नकारात्मक पहलुओं के विरुद्ध वे संघर्ष करते। यह भी स्पष्ट है कि वे उदारवादी प्रवृत्तियों के साथ होते, हालांकि इसमें भी कल्याणकारी राज्य के विकास के प्रति उनकी चिन्ताएं शामिल होतीं, जैसा कि हम अर्मत्य सेन तथा अन्य के विचार में पाते हैं।
15. भारत में यह प्रवृत्ति 'ब्राह्मणवादी पर्यावरणवाद' कही जा सकती है क्योंकि ग्रामीण जन सामान्य को बड़े स्तर की सिंचाई परियोजनाओं से पानी की सुविधा मिलने की जरूरत को नकारता है और जाति आधारित और ऊंचे नीचे वर्गों में विभक्त पारंपरिक समाज का रोमानी विचार प्रस्तुत करता है।
16. फोर्डरबाख तथा मार्क्स के पत्रों पर किए गए शोध को देखें, जो एकपक्षीय अर्थशास्त्रीय व्याख्या को ठीक करने का प्रयास करता है।

अनुवाद: अकाल कौस

आख्यानों और स्मृति पत्रों का पुनर्पाठ⁷⁵

आख्यानों और स्मृति पत्रों का पुनर्पाठ

रमणिका गुप्ता

यह बात तो माननी ही होगी कि भारतीय संस्कृति, जो हिन्दू संस्कृति पर आधारित है, को महान, उदार, सर्वोत्तम एवं श्रेष्ठ सिद्ध करने हेतु भारतीय (हिन्दू) मनीषियों ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया था। अब तो वाजपेयी जी ने ही भारतीय संस्कृति का नया नामकरण 'हिन्दू संस्कृति' कर दिया है। इस संस्कृति ने वैदिक संस्कृति से हिन्दू संस्कृति तक की यात्रा करके, यह स्वरूप पाया है। ऐसे मनु और हिन्दुत्व के बीज वैदिक संस्कृति में भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं पर उस संस्कृति में हिन्दू शब्द नहीं है। दरअसल वैदिक संस्कृति एक विजेता की संस्कृति थी। जाहिर है उसमें सत्ता के ऐसे सभी गुण मौजूद थे जो पराजित शत्रुओं को फिर से सिर उठाने न देते। उस संस्कृति ने ऐसे सभी नियम व कानून तो गढ़े ही थे और साम-दाम-दंड-भेद के सभी टोटके भी अपनाए थे, जिससे उनका रुतबा व वर्चस्व बरकरार रहे और बढ़ता रहे। पेशों के अनुसार वैदिक धर्म में भी वर्णाश्रम की व्यवस्था थी पर मनु ने इसे जन्म आधारित बनाकर उस पर धर्म और शास्त्रों की मोहर लगा दी थी। उसने एक आचार संहिता भी बना दी और वर्ण-व्यवस्था को जातीय व्यवस्था में बदल दिया। भारतीय मनुष्य को पिछले जन्म के कर्मों से जोड़ दिया। इस प्रकार उन्होंने भारत में पहले से रहते आ रहे अनेकों मूलनिवासियों को वर्णवादी व्यवस्था एवं मनु की आचारसंहिता स्वीकार करने को मजबूर किया। भारत के मूल निवासियों को अपनी प्रकृतिमुखी, सामूहिकता व सहयोगवादी एवं समतावादी श्रमण संस्कृति को त्यागने या जंगलों में भागने के लिए विवश किया। प्रकारान्तर में रामायण जैसी काल्पनिक कथाएं लिख-लिखकर उनके ही समाज में विभीषण जैसे दलाल और हनुमान जैसे स्वामिभक्त दास (गुलाम) नायक पैदा किए। एक ऐसा नायक भी गढ़ा जिसने शम्बूक जैसे मनीषी का सर काट लिया और अपने से बलवान बाली को छिपकर छद्म से मार दिया। ऐसे कपटी, छली एवं सत्ता-सुख हेतु पत्नी-त्यागी 'राम' नामक नायक को गौरवान्वित तो किया ही साथ ही उसे 'मर्यादा पुरुषोत्तम' की पदवी भी दे दी। इस प्रकार समाज में वर्चस्ववादी प्रवृत्ति, जिसके लिए राम बनवास के बहाने मूलनिवासियों

को गुलाम बनाने के लिए भेजे गए थे, को गौरवान्वित किया। इतना ही नहीं इन ब्राह्मणवादी मनीषियों ने भारतीय संस्कृति का आदर्श पुरुष, आदर्श शासक, आदर्श पति, आदर्श योद्धा, आदर्श धर्मपरायण व्यक्ति और राजा भी राम जैसे नायक के रूप में गढ़ दिया। वैसे तो आर्य पितरों (पूर्वजों) की पूजा करते थे और विभिन्न कर्मकाण्डों के माध्यम से उन्हें गौरवान्वित और महिमामंडित तो करते ही थे, साथ ही वे उन्हें चमत्कारिक शक्तियों से लैस कर उनके प्रति भयमिश्रित श्रद्धा भी पैदा करते थे। आर्य महापुरुषों को सर्वगुण सम्पन्न घोषित कर उनके अवगुणों, दोषों को भी किसी न किसी चमत्कारिक घटना से जोड़ कर एक छद्म गरिमा से जोड़ देते थे ताकि अनार्य जो यहां के आदिवासी थे उनके चमत्कार एवं छद्म गरिमा से आतंकित होकर उन्हें अपना स्वामी या देवता मान लें। छद्म का जाल तो इतना सुनियोजित और सुदृढ़ ढंग से रचा गया था कि राम के विरोधी और समर्थक मूल निवासी आदिवासियों को मनुष्य के दर्जे से ही वंचित कर दिया गया। राम के विरोधी खेमे को राक्षस-दानव कहकर अपमानित किया गया। उनकी अवमानना तो समझ में आती है पर राम के मित्रों-समर्थकों को भी मनुष्य न मानकर बन्दर, भालू, जटायू पक्षी के दर्जे में रखना एक शैतानकारी कार्य है। उस पर भी तुरां ये कि इन पशु-पक्षी बना दिए गए मित्रों को अपने पशु अनुचर रूप पर गर्व करते दिखाया गया। मानसिक व दिमागी गुलामी की हद है।

यह सत्य है कि ऐसे प्रयासों की हिस्सेदारी के तहत ही ब्राह्मण क्षत्रिय, बनिया की तिकड़ी ने मूलनिवासियों के विशाल जनसमूह को अपने-अपने ढंग से दास बनाने की साजिशें भी रचीं थी।

प्रकारान्तर में ब्राह्मणों ने इस साजिश भरी व्यवस्था पर धर्म और शास्त्र तथा शस्त्र की मोहर लगा कर ऐसी आचार संहिताएं गढ़ीं कि ये मूलनिवासी ज्ञान, शिक्षा अथवा किसी प्रकार की दक्षता व विकास से भी वंचित कर दिये गए ताकि ब्राह्मणवादी सोच का वर्चस्व कायम रह सके। आर्यों ने अपनी संस्कृति एवं आचार संहिता को सर्वोत्तम तो घोषित किया ही साथ-ही-साथ उसे धर्म-सम्मत बनाने की भी साजिश की।

पहले ब्राह्मण ही शासक हुआ करते थे और क्षत्रिय उनके सेनापति। वैश्य यानी बनिये उन्हें खजाना उपलब्ध कराते थे। ब्राह्मणों ने आतंकित करके सभी पर अपनी सोच थोपने हेतु क्षत्रिय एवं वैश्यों यानी बनियों को अपना सहयोगी बनाया और लोगों को ज्ञान से आतंकित करने का जिम्मा भी स्वयं लिया। युद्ध का जिम्मा क्षत्रियों को देकर उन्हें मूलनिवासियों को लूटने-पाटने, उजाड़ने, उनकी बस्तियां जलाने, उन्हें गुलाम व दास बनाकर काबू में लाने के अधिकार दे दिए। उन्होंने उन्हें स्वर्ग का लालच भी दिया। इतना ही नहीं इस जन्म में उनके क्षत्रिय कुल में जन्म लेने का कारण उनके पिछले जन्म के पुण्य कर्म पर आधारित बता कर उन्हें विमुग्ध

कर दिया। वे अहम् से भर गए। प्रकारान्तर में राम द्वारा रावण लंका को जलवाने की कथा एवं रावण-वध इसी सोच का साकार रूप है।

प्रकारान्तर में ब्राह्मण परशुराम, क्षत्रियों से भी क्रुद्ध हो गए और उन्होंने क्षत्रियों को नेस्तनाबूद करने की ठानी और उनका संहार किया। तब क्षत्रिय भी एकजुट हुए और उनके मन में भी यह तर्क उपजा कि “लूटपाट करके तो हम लाते हैं, युद्ध में मरते भी हम हैं और राज ये ‘साले’ ब्राह्मण करते हैं।” वे तर्क करने लगे “ये सही है कि इन्हें ज्ञान है पर इसका लाभ खाली ब्राह्मण ही क्यों उठाएं? हम सिपहसालार बन सकते हैं तो राज क्यों नहीं कर सकते?”

चूंकि ब्राह्मणी सोच पूरी तरह नीत्से की सुप्रीमैसी की सोच है, जो वर्चस्व और सामर्थ्य के सिद्धांत पर आधारित है, यानि ‘सामर्थ्य ही जिएगा’ (Survival of the Fittest), फलस्वरूप क्षत्रियों ने कड़ा व सक्षम विरोध जताया और विद्रोह किया। पासा पलटा। क्षत्रियों ने खुद को विजित क्षेत्रों का राजा घोषित करके अपना-अपना राज्य कायम कर लिया। ब्राह्मण स्थिति की नज़ाकत को समझे। ईश्वर को तो मनुष्य ने ईजाद कर ही लिया था, स्थिति की नज़ाकत को समझते हुए ब्राह्मणों ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित कर दिया और स्वयं उनके मंत्री-सह-पुरोहित बन बैठे। क्षत्रियों को लड़ने-भिड़ने से फुर्सत कहां थी? उन्होंने सोचने-समझने के लिए ब्राह्मणों का टैण्डर स्वीकार कर ही लिया था और आदान-प्रदान में क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को मंत्री बनाना भी अनिवार्य कर दिया था। अब क्षत्री स्वयं लूट-पाट के माल का उपयोग करने लगे थे। बाहुबल और शस्त्रबल का अधिकार तो उन्हें ब्राह्मणों ने दे ही दिया था। तब शुरू हुई वशिष्ठी प्रथा। ब्राह्मण ऋषि बनकर मूलनिवासियों के जंगलों और खेतों में विचरने लगे और उनके पशुओं का अपहरण व लूटपाट कर उनकी बलि देने लगे। (यही ब्राह्मण बाद में ईश्वर की दलाली करने के लिए पुरोहित और पुजारी बन गए।) मूलनिवासी, कृषि, जंगल और पशु के पालक थे और श्रम आधारित व्यवस्था के पोषक थे। प्रकारान्तर में वे इन परजीवी ऋषियों के इन छद्म कर्मों को भी समझने लगे थे। फलस्वरूप उन्होंने इन ऋषियों का विरोध करना शुरू कर दिया और अपने जंगलों से खदेड़ने के लिए उन पर हमले करके, अपने पशुओं को मुक्त कराने लगे। तब वशिष्ठ ने एक चाल चली और राजा दशरथ को समझा-बुझाकर राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ ऋषियों के आश्रम में भेज दिया ताकि वे बलि किए जाने वाले पशुओं के वध की सुविधा बरकरार रख सकें। इस प्रकार राम-लक्ष्मण ने आश्रम में रहकर मूलनिवासियों को भगाने का काम शुरू कर दिया और इस प्रकार ‘राजा’ का इस्तेमाल ऋषियों की वैदिक सोच या दर्शन, जिसे आज ‘हिन्दू सोच या हिन्दुत्व’ कहा जाता है, के रक्षार्थ होने लगा। उन्होंने मूलनिवासियों को रक्षक से राक्षस, दानवीर से दानव और सुरापान न करने के कारण ‘असुर’ घोषित किया, उन्हें अवमानित (Denigrate) करने के अनेकों अभियान चलाए और आर्यों को

गोलबंद किया। उन्होंने अपने वर्चस्व के लिए श्राप, वरदान और कई प्रकार की चमत्कारिक शक्तियों से खुद को लैस होने का भ्रम भी फैलाया। क्षत्रिय पूरी तरह ब्राह्मणों के रक्षक-पालक-पोषक और पहरेदार बन गये। उन्होंने मूल निवासियों को वश में करने हेतु, ब्राह्मण के श्राप-वरदान तथा चमत्कार के हथकंडों को गौरवान्वित कर प्रचारित-प्रसारित भी किया।

अब रह गए वैश्य जिन्हें शस्त्र का अधिकार नहीं था। लूटे गए खजानों की साज-संभाल करना उनका कर्तव्य था। उन्हें मूलनिवासियों को ठगकर उनकी संपत्ति को हथियाने का अधिकार भी था और इस ठगी की कारवाई को पुण्यकर्म भी घोषित कर दिया गया था। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों की चाटुकारिता में जुट गए। चाटुकार में दो गुण जरूरी होते हैं एक स्वार्थ, दूसरा ठगी (दान के चोले में भी ठगी)। स्वार्थ रूपांतरित होता है 'लाभ' में। ठगी लाभ का हथियार होती है। लाभ में विकास नहीं 'शोषण' निहित होता है दूसरों का माल, जमीन व धन को ठगी से हथिया कर, चालाकी से अपने कब्जे में करना। तब बनियों ने क्षत्रिय एवं ब्राह्मण की चाटुकारिता और खजाने की सुरक्षा के साथ-साथ भयादोहन (Blackmail), धूर्तता और ठगी का रास्ता अपनाया। उन्होंने मूलनिवासियों के सीधेपन का लाभ उठाकर उन्हें आर्थिक तौर पर विपन्न बनाने का बीड़ा उठाया। ब्राह्मणों ने उनके द्वारा किए गए इस दोहन को शास्त्र-सम्मत घोषित कर रखा था। इस प्रकार बिना शस्त्र उठाए वैश्यों ने मूलनिवासियों की सम्पत्ति हथियानी शुरू कर दी। इसी संपत्ति का कुछ अंश वे ब्राह्मणों को दान के रूप में घूस स्वरूप देने लगे और कुछ हिस्सा क्षत्रियों के खजाने को समृद्ध करने हेतु भेंट या नजराने के रूप में दिया जाने लगा। इस प्रकार वाणिकों ने अपने वर्चस्व को बढ़ाया। वे राजा और ब्राह्मण के वफादार सेवक और सहयोगी बने। अपमानित होकर भी अपने स्वार्थहित वे उनका साथ देने लगे और वर्चस्व की ब्राह्मणवादी सोच, जो वर्णव्यवस्था का आकार ले चुकी थी फलती-फूलती रही। चूंकि आख्यान, कथाएं या किवंदतियां अथवा काव्य मन पर जल्दी प्रभाव करते हैं इसलिए अनेकों काल्पनिक कथाएं गढ़कर, जिनमें एक राम कथा भी है, को इतना प्रचारित-प्रसारित किया गया, ऐसा व्यापक बनाया गया कि वे सब सत्य-कथा बन गईं। रामकथा का प्रयोग करके तो उन्होंने विशिष्टी व्यवस्था के शिकार उन मूलनिवासियों को ऐसा राम-भक्त या कहे गुलाम बना दिया जिसने उन्हें हनुमान, सुग्रीव और विभीषण में रूपान्तरित कर दिया कि वे राम के बहकावे में आकर, राम के हितार्थ अपने स्वजनों के विरोध में कार्य करने लगे। इस प्रकार राम ने उनकी एकता को तोड़ने की साजिश रची। उन्हीं में भेद डाल कर उन्हें अपने मोहरों के रूप में इस्तेमाल किया। रामायण का आख्यान इसके लिए बड़ा कारगर सिद्ध हुआ। आर्य, मूलनिवासियों में विभीषण जैसे देशद्रोही, विश्वासघाती, दलाल, हनुमान जैसे

अंधभक्त सेवक रूपी लठैत तथा भीलनी और केवट जैसे दीनहीन चरित्रों को पैदा करके गौरवान्वित करने लगे। वे मनुष्य भी नहीं माने गए बन्दर, भालू, पक्षी के रूप में वर्णित किए गए। कोई भी मनुष्य के दर्जे के काबिल नहीं माना गया। इस प्रकार वे उन्हें मूलनिवासियों के आदर्श पशुतुल्य पुरुष और रामायण को इतिहास का हिस्सा बनाने के अभियान में सफल हुए।

महाभारत युग तक आर्यों ने मूलनिवासियों को अपने लिए बखूबी इस्तेमाल करना सीख लिया था। उन्होंने मूलनिवासी स्त्रियों का अपहरण किया उनसे सन्तान पैदा की पर उन्हें राजसत्ता में भागीदारी नहीं दी। स्त्रियों को पटरानी या राजमाता की पदवी भी नहीं दी। उनका और उनकी सन्तान का इस्तेमाल किया। घटोत्कच एक आदिवासी मां का पुत्र था जिसका इस्तेमाल पांडवों ने अपने हितार्थ किया और वह पांडवों के लिए आदिवासियों से ही लड़ता हुआ मारा गया। हालांकि उस युद्ध में आदिवासी कौरवों के साथ थे।

दरअसल महाभारत तक आते-आते आर्य-अनार्य के मेल से मिश्रित एक 'संकर जमात' खड़ी हो गई थी। नियोग के माध्यम से आर्यों ने मूलनिवासियों से अपनी औलाद पैदा करनी शुरू कर दी थी। संभवतः आर्य अय्याशी के कारण नपुंसक बनते जा रहे थे। दरअसल वीर क्षत्रियों का संहार तो परशुराम (ब्राह्मण) पहले ही कर चुके थे। उन्हें बलवान औलाद चाहिए थी सो नियोग से धृतराष्ट्र और पांडव जन्मे। ये दोनों राजपुत्र मूलनिवासी शूद्र मनीषी व्यास की औलाद थे यानी ये 'संकर' थे अर्थात् 'संकर-संतति' का प्रचलन कायम हो गया था।

ब्राह्मण, बलिष्ठ योद्धा संकर औलाद को इस्तेमाल कर सत्ता की बागडोर तो अपने हाथ में रखना चाहते थे लेकिन उन्हें राजपाट नहीं देना चाहते थे। राजसत्ता को तो वे आर्य-वंशजों के लिए ही आरक्षित रखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने पांडु को ऋषि के श्राप का किस्सा गढ़कर नपुंसक बने रहने को बाध्य किया और कुंती और माद्री दोनों पत्नियों का नियोग देवताओं से संपन्न करवा कर, उनकी संतान को क्षत्रिय घोषित कर दिया। प्रथा के अनुसार बड़े भाई धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का ही राजपाट और सत्ता पर अधिकार बनता था लेकिन दुर्योधन व्यास-पुत्र 'संकर' धृतराष्ट्र की औलाद था। युधिष्ठिर को पांडव का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते वे दुर्योधन को उसके अधिकार से वंचित कर धर्मराज के पुत्र युधिष्ठिर को राज दिलाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने स्वयं सामने न आकर कृष्ण को अगुआ बनाकर महाभारत की संरचना की। कृष्ण थे तो क्षत्रिय-पुत्र ही न! वे देवकी की सन्तान थे। धृतराष्ट्र के सौ के सौ पुत्र संकर औलाद थे यानी शूद्र पिता की औलाद थे। वैचारिक अभियान, कूटनीतिक चाल से सबका इस्तेमाल कर उन्होंने दुर्योधन के खिलाफ अभियान चलाया जिसमें द्रोणाचार्य गुरु की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। उन्होंने एकलव्य का अंगूठा कटवाकर उसे अर्जुन से आगे बढ़ने न देने की साजिश रची। कर्ण सूर्यपुत्र

होने के बावजूद भी शूद्र माता-पिता द्वारा पाला गया था और उसके संस्कार मूलनिवासी संस्कृति के बन गए थे। इसलिए उन्होंने उसे क्षत्रिय मानने से इन्कार कर दिया। कर्ण और एकलव्य दुर्योधन के साथ थे। कर्ण के कवच-कुंडल दान में मांगकर उसकी हत्या की जिम्मेवार भी यही वर्चस्ववादी धूर्तता तथा छल-कपट पर आधारित ब्राह्मणवादी सत्तावादी सोच थी।

बभ्रुवाहन अर्जुन पुत्र था। उसने मल्ल युद्ध में अपने पिता अर्जुन को हराकर उनका 'अश्वमेध' अभियान असफल कर दिया था। उसकी माता आदिवासी यानी मूलनिवासी थी। महाभारत में एक तटस्थ दर्शक बनकर और कमजोर पक्ष का साथ देने की अपनी माता की हिदायत लेकर आने वाले बभ्रुवाहन से रास्ते में ही कृष्ण और अर्जुन ने ब्राह्मण वेष धारण कर उसका शीश दान में मांग कर पेड़ पर टांग दिया। इस प्रकार उसे महाभारत युद्ध का मात्र एक दर्शक भर बना दिया गया ताकि वह दुर्योधन की मदद न कर सके।

इन आर्य देवता-वंशज क्षत्रिय पांडवों ने मूलनिवासी स्त्रियों का अपहरण किया। उनसे शादी भी की पर उनकी औलाद को अपनी सत्ता में भागीदारी नहीं दी, बस अपना वर्चस्व बढ़ाने के लिए उनका इस्तेमाल किया। घटोत्कच उसका उदाहरण है। उन्होंने उन पत्नियों को राजमाता, पटरानी या रानी का रुतबा भी नहीं दिया। अपने रानिवास में भी शामिल न कर उन्हें अपने पिता के क्षेत्र में रखकर, उनके पिताओं की राजसत्ता को क्षीण करने की साजिश की। उन्होंने कपट-पूर्वक नागवंशियों का विनाश किया। वे उनके राजा को क्षत्रिय और उनकी प्रजा और सेना को शूद्र बनाए रखकर राजा का इस्तेमाल अपने स्वार्थ और राजविस्तार के लिए करते रहे।

इस प्रकार महाभारत ब्राह्मणवादी सोच को पुख्ता करने वाला सिद्ध हुआ। यह सोच वर्चस्ववाद कायम करने हेतु नरसंहारों और हत्या को भी जायज मानती है। गीता ने इसे पुष्ट किया और हत्या की राजनीति को बल दिया। अपने सगे-संबंधियों की हत्या को भी जायज बताया। कृष्ण ने अर्जुन से कहा "हत्या करो जीत गए तो सत्ता मिलेगी, हार गए तो स्वर्ग।" इस प्रकार ब्राह्मणवादी भारतीय या हिन्दुत्व की पूरी सोच ही भाग्यवाद, कर्मफल, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक के पुरस्कार व दंड के ढांचे पर खड़ी है। यह 'हत्या' का दर्शन है। यह दर्शन 'हिंसा' को जायज करार कर महिमामण्डित भी करता है और गौरवान्वित भी।

मनु ने इसी दर्शन को पुष्ट करने हेतु आचार-संहिता रची और पूरे के पूरे भारतीय समाज को विभाजित कर दिया। एक शासकवर्ग और एक सेवकवर्ग खड़ा कर दिया गया, जिनके संबंध परस्पर विरोधी थे। वे कभी परस्पर मिल ही नहीं सकते थे बल्कि यूँ कहा जाए उनके हित एक-दूसरे के विपरीत थे। सवर्ण समाज इस तथ्य से पूर्णतया परिचित था कि वह शूद्रों को अपमानित करके, विपन्न एवं दीनहीन

रखकर उन्हें उनकी अस्मिता तथा आत्मसम्मान से वंचित रखकर ही अपनी श्रेष्ठता कायम रख सकता था। सवर्ण समाज यह भी जानता था कि जब तक शूद्र समाज अपनी दुर्व्यवस्था को अपने कर्म और भाग्य का फल मानता रहेगा और अपने जीवन को अपने पापों का प्रायश्चित्त मानेगा, तब तक वह सवर्णों के सब जुल्म सहता रहेगा। इस प्रकार सवर्णों की अपनी प्रतिष्ठा-सम्मान-समृद्धि ऐश्वर्य व सत्ता कायम रहेगी। वे इससे परिचित थे कि शूद्र इस भाग्यवादी सोच को पूरी तरह अपनाएंगे ही चूंकि इस सोच का विरोध करने वाले चार्वाक जैसे उनके नायकों को पत्थरों से पीट-पीट कर मरवाया जा चुका था। प्रकारान्तर में गौतम बुद्ध, नाथ-पंथियों और सिद्धों ने इस सोच का विरोध किया लेकिन उसमें भी ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणवादी सोच वाले नागार्जुन जैसे लोग घुस गए और उन्होंने बौद्ध धर्म को भी विकृत कर दो भागों में बांट दिया। चूंकि बुद्ध राजपरिवार से थे और उन दिनों प्रजा द्वारा राज्य यानी राजा का धर्म धारण करने की प्रथा थी, इसलिए जब अशोक ने बौद्ध धर्म अपनाया तो पूरी प्रजा ने भी उसे अपना लिया। फलस्वरूप जाति के बन्धन तोड़ कर बौद्ध विहारों में शूद्र, पिछड़े तथा स्त्रियां यहां तक कि नगरवधुएं तक भी शामिल होने लगीं और ब्राह्मणों का वर्चस्व कम होने लगा। चूंकि बौद्ध लोग नरबलि, पशुबलि या किसी प्रकार की हिंसा के विरोधी थे इसलिए किसान वर्ग जो शूद्र कहलाते थे, भारी संख्या में बौद्ध बनने लगे चूंकि वहां 'समानता' 'आजादी' 'भाईचारा' और सम्मान प्राप्य था। किसान या सेवक वर्ग को युद्ध में भागीदारी की इजाजत नहीं थी। यह तो मात्र दर्शक बना रहता था या फिर लूटपाट का शिकार होता था अथवा राजा द्वारा लगाए 'कर' या दण्ड भरने का भागीदार था।

कालान्तर में बौद्ध धर्म में भी विकृतियां आईं और इसके ब्राह्मण नेतृत्व ने इसे जीवन शैली की बजाय एक धार्मिक व्यवस्था में बदलने के क्रम में, कई प्रकार की ऐसी छूटें लीं जिससे एक तरफ तो तन्त्र-मन्त्र के पोषक तान्त्रिक पनपे दूसरी तरफ बौद्ध-भिक्षु, बौद्ध सिद्धांतों के प्रचारक व दिशा देने वाले गाइड बनकर भिक्षा पाने की बजाय, गृहस्थ समाज की भिक्षा पर आधारित रहने वाली एक परजीवियों की जमात में बदलने लगे। शास्त्र और हिंसा में तो उनका विश्वास ही नहीं था। इसी दौरान ब्राह्मणवादियों ने बौद्धों के अन्तिम राजा की हत्या कर बौद्धों की श्रमण संस्कृति को भी नष्ट करना शुरू कर दिया। उन्होंने बौद्धों के ग्रन्थ और साहित्य को ही नष्ट नहीं किया बल्कि बौद्धों को खदेड़ना और मारना भी शुरू कर दिया। रही सही कसर शंकराचार्य ने पूरी कर दी और बंगाल के राजा पाल की सेना को आगे रखकर अपने वैरागियों के समूह को त्रिशूल-नेजा और भाला थमा कर बौद्ध विहारों पर हमला किया बौद्ध भिक्षुओं की हत्या की उनके विहार जलाए और उन्हें अपनी सेवा करने के लिए गांव के बाहर बसा कर उन्हें गन्दगी, गरीबी, विपन्नता और अशिक्षा के गर्त में रहने पर मजबूर किया। बौद्धों से पहले सभी ब्राह्मण मांस-भक्षी व गाय-भक्षी थे वे

घोड़े तक का मांस खाते थे। रामायण में भी इसका उदाहरण है किंतु बौद्ध, हत्या करके या बलि देकर मांस नहीं खाते थे। विपन्नता के कारण और ब्राह्मणों द्वारा सतत खदेड़े जाने के कारण वे गृहस्थों द्वारा भिक्षा में दिया मांस खाते थे जो गो-मांस भी होता था। उन दिनों पूरा समाज गोमांस खाता था।

उधर शंकराचार्य ने एक सोची समझी कूटनीतिक चाल के तहत किसानों का मन जीतने के लिए मांस खाना निषिद्ध कर दिया। गो-हत्या व गाय के भक्षण को पाप घोषित कर दिया। पशु मरने पर गांव के बाहर बसे बौद्धों को मृत पशु उठाने को बाध्य किया जाने लगा अन्यथा उन्हें गांव छोड़कर जाने के आदेश दिए गए। अन्न के खेत के या उत्पादन के किसी माध्यम से ये बौद्ध वंचित थे, इसलिए गौ-मांस समेत मृत पशुओं का मांस खाने को मजबूर थे। ब्राह्मणों ने इन्हें घृणा का पात्र बनाने के लिए गाय का मांस खाने का दोषी बता कर अछूत-अस्पृश्य करार कर दिया। इन्हें गंदे काम करने के कारण अछूत नहीं कहा गया था, चूंकि ब्राह्मण की सेवा क्षत्रिय भी करता था और क्षत्रिय की वैश्य। वह ब्राह्मण की धोती तक 'फौंचता' था। क्षत्रिय शिष्य आश्रम में झाड़ू देते ही थे वैश्य सोपान के तीसरे डंडे पर बैठे होने के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की चाकरी करते थे।

शूद्रों को इन तीनों की सेवा का काम दिया गया वे अन्न पैदा करने से लेकर इनकी सुविधा के सब सामान, घर, महल, मंदिर, कलश, बर्तन, कपड़े, वाद्ययंत्र बनाने लगे। ब्राह्मणों ने शूद्रों को तब तक भी शिक्षा या ज्ञान अर्जन का अधिकार नहीं दिया था। वे हस्तकला में निपुण होने लगे, चूंकि हाथ से काम करना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों के लिए वर्जित था। ये तीनों उच्च जातीय-वर्ग शूद्रों की सेवा के कारण ही समृद्ध होते थे। वास्तव में परजीवी ये उच्चजातीय जमातें ही हैं लेकिन इन्होंने शूद्रों को अनुशासित करने के नाम पर उनके आचरण, उनके पेशे, उनकी आर्थिक स्थिति तथा समाज में उनके स्तर, स्थान (**Status**) का निर्धारण करने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया और श्रमण संस्कृति की जमातों को नीच जाति के दायरे में खड़ा कर दिया। उसी क्रम में ये सब गांव के बाहर बसाए गए। बौद्ध सिद्धांत में विश्वास करने वाले लोगों को सवर्णों ने अपना मल-मूत्र उठाने से लेकर, मरे पशुओं को ले जाने तक के लिए बाध्य किया। इनकी परछाई पड़ना, इनका मुंह देखना भी अपवित्र और अशुभ बना दिया गया।

इस प्रकार एक बड़ा जन-समूह अपवित्रता-अशुभता का प्रतीक बना कर नित प्रताड़ित तो किया ही जाता था, साथ ही उसके मन में **भाग्य** और **कर्म** का दर्शन आरोपित कर उसे अपनी ही नजरों में गिरा कर, एक दीन-हीन अपमानित होने योग्य समाज का निर्माण कर दिया।

यह एक लम्बी प्रक्रिया के दौरान हुआ। शिक्षा, ज्ञान और धन से वर्जित होना ही सबसे घातक सिद्ध हुआ। आर्थिक-विपन्नता ने उन्हें वर्ग के आधार पर गरीब बनाया

लेकिन शिक्षा व ज्ञान के अभाव ने उन्हें समाज में पिछड़ा अस्पृश्य, अपमान के लायक आत्मसम्मानहीन-दीनहीन व्यक्ति बनाया। इस प्रकार पूरे समाज को एक परजीवी समूह में बदल डाला गया। वर्ण-व्यवस्था पर आधारित इस सामाजिक विभाजन के गिर्द जाति के बाड़े निर्मित कर दिए, जिससे उन जातीय बाड़ों को जन्म आधारित बनाकर उस पूरे समाज के व्यवस्था से मुक्त होने के सभी रास्ते बंद कर दिए गए।

यह सही है कि ये सब दुःखद स्मृतियां और बर्बर आख्यान हैं लेकिन ये आख्यान, ये स्मृतियां, शिकारी और शिकार दोनों के मन में कूट-कूटकर इस हद तक भर दिए गए कि वे उस शिकारी से मुक्त होने के प्रयास को भी पाप मानने लगे। यों तो अंग्रेजों द्वारा उन्हें शिक्षा का अधिकार दिए जाने के फलस्वरूप इस साजिश का ज्ञान हुआ, जिनमें बाबा फूले और बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ने इन जमातों को मनुष्य का दर्जा देने का अभियान चलाया।

ऐसे तो सन्तों, भक्तों व कवियों ने भी साकार ईश्वर की बजाय निराकार ईश्वर की स्थापना की और ब्राह्मण के वर्चस्व को नकारा, जहां साथ ही पंडित, पुरोहित व पुजारी को अप्रासंगिक बनाने का प्रयास किया, पर उन्होंने भी ईश्वर को नहीं नकारा। इसलिए धर्म के दायरे में ही वे विकल्प देते रहे, जबकि धर्म उन दिनों राजसत्ता के सहारे पनपता था। सन्त राजसत्ता से दूर तो रहे, पर राजसत्ता को उन्होंने न तो नकारा न ही चुनौती दी। सत्ता भी कट्टर ब्राह्मणवादी सोच की इस कदर कायल थी कि शिवाजी जैसा वीर शूद्र ब्राह्मणों द्वारा नकारे और अपमानित किए जाने के बावजूद ब्राह्मण से राजतिलक करवाना चाहता था और ब्राह्मणी व्यवस्था का रक्षक था, जबकि उसी व्यवस्था ने उन्हें नकारा और प्रतिष्ठा नहीं दी। हां, ब्राह्मणों ने शिवाजी की ब्राह्मण-आस्था और भक्ति का खूब उपयोग किया। उस काल में राजनीतिक स्तर पर किसी भी ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन ने हस्तक्षेप नहीं किया। दूसरी तरफ एक छद्म धारा भी चली, जिसमें कृष्ण और राम के अवतार पैदा किए गए। इसी काल के दौरान मुगलों के शासन काल में तथाकथित क्षत्रिय जमात मुगलशासकों से **बेटी-रोटी** का रिश्ता कायम कर उच्च पदों पर आसीन हो गई। ब्राह्मण वर्ग ने उनके खिलाफ कोई फतवा नहीं दिया चूंकि उसे **‘राजाश्रय’** में पलने की आदत थी। उनकी सभी सुविधाएं उच्चपदस्थ सेनापतियों ने बरकरार रखी थीं। तुलसीदास इसी काल की देन हैं जिन्होंने मुसलमानों को **‘मलेच्छ’** घोषित किया और दलितों को प्रताड़ना का अधिकारी। क्षत्रिय या वैश्य यानी उच्च जातियों ने बादशाहत का विरोध नहीं किया। प्रजा विरक्त हो गई। भक्त कवियों ने विराग का रुख अपनाया लेकिन ब्राह्मण वर्ग ने दोनों धर्मों को मिलाने के प्रयास को भी सफल नहीं होने दिया। इस्लाम में दलितों को बराबरी का दर्जा मिलता था इसलिए वे धर्म परिवर्तन करते थे। तब तुलसीदास के रूप में एक ब्राह्मण ने अपना करिश्मा दिखाया। एक तरफ उन्होंने केवट को

गले लगाने वाले और भिलनी के घर जूठे बेर खाने वाले राम को खड़ा किया और उनकी लीला का चित्रण चौपालों पर गा-गाकर दलितों को राम का झुनझुना थमाकर वर्णवादी व्यवस्था में रहने के लिए भरमाया, भटकाया और ललचाया तो दूसरी तरफ दलित को प्रताड़न का अधिकारी और मुसलमानों को मलेच्छ करार करके भारतीय हिन्दू जनता के मन में नफरत के बीज बोए मुसलमानों के प्रति भी और दलितों के प्रति भी। अकबर हिन्दू दर्शन के नजदीक जा रहे थे ताकि दो संस्कृतियों का, दो धर्मों का मेल होकर एक बड़ी शक्ति बने लेकिन ब्राह्मण व अभिजात वर्ग उस शक्ति को तोड़ने के लिए शक्ति से नहीं बल्कि मिथकों के काल्पनिक नायकों को गढ़कर या पुनः जीवित कर शेखचिल्ली जैसे मनसूबे पाल रहा था। भारतीय सनातनी समाज रामायण की कपोल कल्पित कथा से मोहित होकर हिन्दू वर्ण का बेड़ा पार करने के लिए हनुमान जैसे नायक का मिथक गढ़ रहा था जो पहाड़ भी उठा सकता है। अकबर, टोडरमल के पुत्र से अपने सेनापति की बेटी का ब्याह करवाकर हिन्दू-मुसलमान की खाई पाटने के लिए बेटी-रोटी का रिश्ता करवा रहा था पर ब्राह्मण समाज ने यह नहीं होने दिया। उन्होंने अपनी बेटियाँ तो मुगलों को सहर्ष दे दीं पर उनकी बेटी लेने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार उन्होंने दोनों धर्मों को मिलने से रोका। दूसरी तरफ दलितों को धर्मांतरण से रोकने के लिए ही बलशाली आदिवासी बानर जाति का गदा उठाए हनुमान खड़ा कर दिया गया। इस प्रकार पुनः एक बार फिर ब्राह्मण ने अपना बर्चस्व समाज में बनाए रखने के लिए रामायण की कथा को हथियार बनाया। आज ये ब्रह्मण समाज पुनः उसी रामायण के राम के नाम पर अयोध्या विवाद खड़ा कर सत्ता पर कब्जा जमाने के प्रयास में है।

इस युग में इस ब्राह्मणवादी-हिन्दूवादी-मनुवादी सोच पर चोट करने की यह पहल, बाबा साहब अम्बेडकर ने की थी। पश्चिम में औद्योगिक युग के बाद वैज्ञानिक और मानवतावादी सोच पैदा हो चुकी थी राजतंत्र जनतंत्र में बदल रहे थे गुलाम प्रथा के तोड़ने के खिलाफ गृहयुद्ध भी हो रहे थे। स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा भी शुरू हो गई थी। भले अंग्रेज उपनिवेश बना कर दूसरे देशों को अपने साम्राज्य में लाने हेतु व्यापारी मात्र न रहकर अब हमलावर भी बन गए थे और सत्ता के मालिक बन बैठे थे लेकिन उन्होंने अपनी ही सुविधा और अपने धर्म के प्रचार के लिए उन उपनिवेशी देशों की जनता को अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षित कर अपनी संस्कृति का वाहक जरूर बनाया। ये शिक्षा कैसी थी इस पर बहस हो सकती है पर इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि अगर अंग्रेजों ने शिक्षा का अधिकार दलितों को न दिया होता, अंग्रेजी के ही माध्यम से सही आध्यात्मिक चमत्कारी, पोंगापंथी, अन्धविश्वासी सोच के विरुद्ध वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा देने की व्यवस्था नहीं की होती तो भारत अभी भी गुलाम ही रहता

और दलित तथा स्त्रियां तो कभी मुक्त होने की सोच ही नहीं पाते। मनोहर जोशी की ज्योतिष विद्या पढ़ाई जाती, कर्मकाण्डी प्रशिक्षण दिया जाता और ब्राह्मणवादी परजीवी जमात का वर्चस्व बढ़ाने के लिए ज्ञान पर ब्राह्मणों का आरक्षण कायम रहता। क्षत्रियों को भी अपने से कमजोरों पर जुल्म करने का दायित्व रहता और वैश्यों का अधिकार रहता छल-छद्म और ठगी से दलितों शूद्रों का धन, जमीन, सम्पत्ति पर कब्जा करना लूटना।

ऐसे इतिहास गवाह है क्षत्रिय कभी लड़े ही नहीं। या तो उन्होंने समर्पण किया या आत्महत्या अथवा अपनी बेटियों-पत्नियों-बहनों को अपने लिए राजा-सेनापति-सिपाही का रुतबा हासिल करने हेतु सत्ताधारियों को भेंट चढ़ा दिया। क्षत्रिय राजाओं ने अपने विरोधी राजाओं को परास्त करने के लिए भी विदेशी हमलावरों को बुलाकर उनका भारत में साम्राज्य कायम करवाया। ब्राह्मण भी पीछे नहीं रहे। वे विदेशी हमलावरों से घूस स्वरूप मुद्राएं लेकर अपने ही राजा को हरवाने में अगुवाई करते रहे। सोमनाथ में तो वे विदेशियों के विरुद्ध लड़ने के लिए आतुर राजाओं और उनके सैनिकों को यह कहकर रोकते रहे, *“अभी शिव की तीसरी आंख खुलेगी, उनका त्रिशूल चमत्कार दिखाएगा और विदेशियों की सेना को नेस्तानाबूद करेगा।”* इस प्रकार सबको इसी भ्रम में रखकर वे राजा सहित पूरी की पूरी सेना को विदेशियों के हाथों मरवाने में सफल हुए। दरअसल ब्राह्मण वर्ग का मुख्य धंधा सदैव ज्ञान के नाम पर जनता में अंधविश्वास और चमत्कार का भ्रम फैलाकर उन्हें गुमराह करना रहा है ताकि वह हस्तक्षेप करने योग्य ही न बने। सिंध के राजा दाहर को हरवाने के लिए गायों को आगे रखकर हमला करने की युक्ति भी इसी ब्राह्मण समाज ने हमलावरों को दी थी।

गुजरात के वैश्य व्यापारियों ने मुगल दरबार के फरमान के विरुद्ध जाकर पुर्तगाली जहाजों को शरण दी थी और उनके साथ व्यापार शुरू किया था। गुजरात के व्यापारियों ने ही बाद में मुगल दरबार में पुर्तगालियों को ले जाकर समझौते करवाए। वैश्यों का मूल-मंत्र कभी देश नहीं रहा **‘लाभं शुभं’** ही रहा है, जैसे क्षत्रियों का मूल-मंत्र **‘अपना राजपाट अपनी रियासत या अपना रुतबा सदैव बरकरार रहे’** रहा है।

दरअसल शुरू में सेना तो सिर्फ क्षत्रियों की होती थी। बाद में शूद्र (पंचम नहीं) भी उसमें शामिल किए जाने लगे। मुगलों के जमाने में तो कुछ शूद्रों ने भी अपने राज्य कायम कर लिए थे।

सत्य तो यह है कि ब्राह्मणों ने इतिहास कभी दर्ज ही नहीं किया। वे तो चारणों-भाटों पर आश्रित थे जो चमत्कार व अतिशयोक्ति पूर्ण, चाटुकारिता से भरपूर साहित्य रचते थे। भारत का इतिहास या तो मुगल बादशाह बाबर या अकबर ने दर्ज कराया या फिर बौद्ध भिक्षुओं ने दर्ज किया जो भारत के बाहर से आते थे। बाद में अंग्रेजों ने इसे रचा।

‘अब उन आख्यानों या स्मृतियों को याद करने से क्या फायदा’ के अंदाज में कतिपय साहित्यकार आज इन्हें नजरअंदाज करके समन्वय के आधार पर संवाद चलाने की मुहिम का आह्वान कर रहे हैं। इन स्मृतियों और आख्यानों का आतंक दलित समाज के मानस में इस तरह भर दिया गया है कि वे अपने ही खिलाफ कहे गए शब्दों-संवादों पर तिलमिलाते नहीं बल्कि ताली बजाते हैं इसलिए परस्पर संवाद भी नहीं हो पाता। कभी आस्था आड़े आकर दलित को अभिभूत कर चुप करा देती है तो कभी फिर कटुता शत्रुता की हदें छू लेती है। दरअसल संवाद खुलेपन और प्रेम पर आधारित होने पर ही कायम रह सकता है। यह सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति का मानस ‘भय विनु होई न प्रीति’ का पूरा कायल है। इसीलिए भारतीय हिन्दू संस्कृति का कोई देवता बिना हथियार के नहीं होता। उनके सभी देवी-देवताओं के कई-कई हाथ लगा दिए गए और हर एक देवता या देवी के हाथ में मूलनिवासियों या आर्यविरोधी योद्धाओं का कटा हुआ सर पकड़ा दिया अथवा उनके पांव तले मूल निवासी वीर पुरुष का धड़ रख दिया गया ताकि लोगों को आतंकित किया जा सके, खासकर मूलनिवासियों को। इन सबसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे प्रतीकों, आख्यानों, मिथकों में जनमानस की अटूट आस्था को तोड़ना तथा उसका विकल्प खड़ा करना क्यों जरूरी है। इस आतंकित करने वाली व्यवस्था के प्रति आस्था तोड़ने हेतु उसकी पुनर्व्याख्या करनी जरूरी है साथ ही जरूरी है उस व्यवस्था के छद्म को तोड़ना, गौरवान्वित झूठ का मुखौटा उतारना। युधिष्ठिर या द्रोणाचार्य के सच को अब बताना होगा। कहना होगा कि वे वीर नहीं थे, गुरु नहीं थे कायर, जुएबाज़ शासक थे और थे छली तथा कपटी गुरु।

जब तक ब्राह्मणों द्वारा फैलाए गौरवान्वित झूठ को तोड़कर सत्य सामने नहीं लाया जाता तब तक ये स्मृतिपत्र और आख्यान जनमानस में पुष्ट होते रहेंगे। इन आख्यानों और स्मृतिपत्रों को नकारना जरूरी है। उन्हें खत्म करने का एकमात्र उपाय है उनके इस सोचे-समझे झूठ को उजागर करके उसके प्रति वितृष्णा, अविश्वास और घृणा पैदा करना। इसकी पहल तो सवर्ण बुद्धिजीवियों को ही करनी चाहिए थी चूंकि ये उन्हीं के द्वारा प्रचारित-प्रसारित मिथक हैं, पर वे तो इन मिथकों को संस्कृति की समृद्ध धरोहर कहते हैं। इसलिए यह काम दलितों व दलित समर्थकों को करना होगा और दलित आन्दोलन यही काम कर रहा है। झूठ को तर्क के आधार पर हटा कर तर्क सम्मत वैज्ञानिक सोच का सूत्रपात करना ही उसका अभीष्ट है। इसी क्रम में कभी-कभी वह भटक भी जाता है चूंकि वह स्वयं भी अभी मनुवादी, ब्राह्मणवादी, ईश्वरवादी संकीर्ण सोच से मुक्त नहीं हुआ है। वह खुद जातियों में बंटा है और अपने से कमजोर जाति को अपनी जमात का हिस्सा न मानकर उसे सदैव कमतर आंक कर उसके अधिकारों का हनन भी करता है, चूंकि वह जाति-ग्रंथि से मुक्त नहीं हो पाया है।

दरअसल पहले तो उच्च जातियों को ही अपना दंभ, अपने संस्कार और श्रेष्ठता तथा वर्चस्ववादी ग्रंथियों से मुक्ति पानी होगी और दलितों में उभरते नेतृत्व को निर्णय लेने का अधिकार देना होगा। हमारे संविधान में तो ऐसी मानसिकता का पर्याप्त प्रावधान है लेकिन भारत के सवर्ण नेतृत्व ने संविधान को कभी मन से लागू करने की इच्छा नहीं जताई, इसीलिए यह पहल आज भी पर्याप्त रूप में सवर्णों की तरफ से नहीं हो रही। जो पहल हो भी रही है, कतिपय अपवादों को छोड़कर, वह भय से अथवा अपनी प्रगतिशीलता का दिखावा करने की नीयत से अधिक हो रही है। अभी भी वे खुद दलितों को दिशा देने, उपदेश देने व गाइड करने में विश्वास रखते हैं। वे अपनी सोच को ही सर्वोपरि समझते हैं। दलितों की सोचने भी नहीं देना चाहते। न ही वे दलितों के मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक मानसिकता को समझने की कोशिश करना जरूरी समझते हैं। सदियों से शासक और शोषक वर्ग बने रहने के कारण वे दूसरों को अक्षम मानने के आदि हो गए हैं, इसलिए वे दूसरों को मौका ही नहीं देना चाहते। इतना ही नहीं वे स्वयं को हर सही सोच के ठेकेदार या प्रवक्ता मानते हैं। फलस्वरूप वे दलितों के दृष्टिकोण को अपने ही दृष्टिकोण से देखते हैं और अपने ही अनुसार उसमें सुधार लाना चाहते हैं दलितों की सोच व जरूरत के अनुसार नहीं। सवर्णों के इस आचरण के चलते भी प्रतिक्रिया होती है और दलित उन्हें यदि अपना शत्रु मित्र मानने में जरूर संकोच करते हैं। वे उन पर शंका करते हैं। सदियों से उनके साथ हो रहे दुर्यवहार के कारण स्वभाविक ही है।

दलित पर जुल्मों की दास्तां के बयान की शुरुआत सदियों की दासता के बाद शिक्षित होने पर जब दलित नेतृत्व उभरा तो स्वाभाविक ही था कि वह अपने जुल्मों की दास्तां को मुद्दा बना कर सवर्ण समाज को एक्सपोज करता। ऐसा हुआ भी। पर जरूरी था कि दलित अपनी मुहिम के लिए समर्थन जुटाएं और फिर बाकी मुद्दों को लेकर परिवर्तन के संकल्प के साथ मुक्ति और मानसिकता परिवर्तन के अभियान में जुट जाएं ताकि जातिविहीन मानवतावादी समाज का निर्माण हो सके। बाबा साहब ने इसकी शुरुआत बहुत ही जोर-शोर और संगठित ढंग से की, जहां उन्होंने अपनी मुहिम में कई मुद्दे उठाए थे।

शिक्षा-संघर्ष-संगठन और 'अप्प दीपो भवः' के सूत्र

इन सूत्रों के माध्यम से बाबा साहब ने पूरे दलित समाज को जागृत होने, आत्म-सम्मान एवं अपनी पहचान बनाने का सपना दिया और दी अभिव्यक्ति की ताकत, जो मनुष्यता का अधिकार पाने का सबसे सक्षम हथियार है।

बहुजन की अवधारणा एक बृहत समाज का सपना

बाबा साहब ने अपने आंदोलन को व्यापक बनाने हेतु बहुजन की अवधारणा देकर

दलित समाज को एक वृहत् आधार ही नहीं बल्कि एक वृहत् समाज बनने का सपना भी दिया, जिसके समक्ष शासक सवर्ण समाज एक अल्पसंख्यक- समाज बन कर रह जाएगा।

जाति तोड़ो अभियान

डॉ. अम्बेडकर ने जाति तोड़ने पर अधिक बल दिया और इसके लिए अन्तर्जातीय विवाह तक का समर्थन किया लेकिन उनका यह प्रयास, अभियान या मुहिम का स्वरूप नहीं ले पाया। स्वयं दलित समाज भी चूंकि जातीय विभाजन से ग्रसित है, इसलिए उसने इसे मुहिम के रूप में नहीं अपनाया।

जातीय-समीकरण और जाति-उन्नयन की मुहिम

डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के बाद दलित आंदोलन ने उनके सभी मुद्दों को नहीं अपनाकर, आन्दोलन को केवल वर्ण-व्यवस्था पर केंद्रित कर लिया और जाति तोड़ने की मुहिम की बजाय जाति के उन्नयन और समीकरण का रास्ता अपना लिया। हालांकि महाराष्ट्र या दक्षिण में तो दलित आंदोलन बाकी मुद्दों को भी अपने दायरे में ले रहा है और अपना साहित्य रच रहा है लेकिन हिंदी पट्टी में दलित साहित्यकार अपने जुल्मों की ही दासतां कह कर संतुष्ट रह रहा दिखाई देता है। वह जाति-ग्रंथी से मुक्ति पाने की चर्चा नहीं करता। उनका नेतृत्व भी जातीय आधार पर आपस में एक-दूसरे के कद को छोटा करने में जुट गया है। हां कभी-कभार वे एक साथ होकर सवर्णों को गाली देकर मन की भड़ास जरूर निकाल लेते हैं पर सवर्ण षड्यंत्र को तोड़ने में सक्षम नहीं हो पाते।

सवर्ण मानसिकता के दुरुस्तीकरण की मुहिम पिछड़ गई

दलित नेता अपनी मानसिकता व सवर्णों की मानसिकता बदलने की वांछित मुहिम नहीं चला पाए। हां मानसिकता बदलने की बात खूब चलाई। कुछ लोग जाति को सुदृढ़ करने की बात भी कर रहे हैं, जिसे रोकना जरूरी है चूंकि ये मुहिम जाति-विहीन समाज बनाने में बाधक होगी।

सवर्ण मानसिकता बदलने व दुरुस्त करने की मुहिम, दलित नेतृत्व न तो अभी तक अपने समाज में चला पाया है और न ही सवर्णों की मानसिकता बदलने के लिए किसी प्रकार का आन्दोलन व परस्पर संवाद का अभियान चला है जिससे समता को बल मिले। दरअसल दलित नेतृत्व को एक बड़ी लकीर खींचकर अपने लोगों को एक साथ जुटाने की चेष्टा करनी होगी अन्यथा आपस में जातीय आधार पर बिखरने का खतरा हो सकता है। ये सही है कि सवर्ण समाज को उनकी सही

औकात दिखाने के लिए उनके अहं का खंडन जरूरी है लेकिन केवल सवर्ण मानसिकता पर प्रहार, उन पर या अन्य गैर-दलितों अथवा दलितों में ही निम्न व कमजोर मानी जाने वाली जातियों को गाली देकर संतुष्ट तो हुआ जा सकता है पर इससे समाज में वांछित बदलाव नहीं लाया जा सकता। इसलिए खंडन के साथ-साथ मंडन की प्रक्रिया का चलाया जाना जरूरी है। हो सकता है कि दलितों को अपना अतीत स्मरणीय न लगता हो चूंकि वह अन्याय व दुःख से भरा है। पर सवर्णों का अतीत तो बर्बरता से भरा है और उनका दर्शन भी अमानवीय है। यदि सवर्ण-बर्बरता की जड़ें ही खोदकर, सवर्ण-मानसिकता के कंकाल निकाले जाएं और उन्हें एक्सपोज किया जाए तो भी दलित समाज सवर्ण दर्प को उसका सही स्थान दिखा सकता है। विडम्बना यह है कि दलित नेतृत्व सवर्ण-समाज के बर्बर और अंधविश्वासी चेहरे को खंडित व एक्सपोज करने की बजाय उनके जाल से स्वयं को मुक्त करने में सफल नहीं हो पाया। वे सवर्ण-मानसिकता के हथकंडे या तौर-तरीके अपनाने में दक्ष होने लग गए हैं। लगता है जैसे दलित नेतृत्व का एक वर्ग उसी ब्राह्मणी भाषा और तकनीक को तरजीह दे रहा है जो वर्चस्व और श्रेष्ठता पर आधारित है।

बाबा साहब ने उन्हें 'नकार' का हथियार देकर सवर्णों को अप्रासंगिक बनाने का कारगर तरीका दिया था। उन्होंने उन्हें 'स्वीकार' की दिशा, देकर स्वयं को विकसित कर एक मानवतावादी आदर्श स्थापित करने का तरीका भी बताया था, जिसे आधार बनाकर दलित समाज अपनी आचार संहिता खुद गढ़कर चल सकता है और ये 'स्वीकार' श्रमण संस्कृति के मूल्यों पर नव संस्कृति के रूप में आना था। लेकिन आज बाबा साहब की 22 प्रतिज्ञाओं की बात तो दूर, कुछ लोग तो बाबा साहब पर ही प्रश्न उठाने लगे हैं। हालांकि इस प्रवृत्ति के विरुद्ध भी दलित नेतृत्व में जोरदार आवाज़ लगाने वाले लोग मौजूद हैं और वे संगठित होकर बाबा साहब के सपनों को साकार करने हेतु लामबद्ध हो रहे हैं जो स्वागतेय है।

बाबा साहब ने 'रिडल्स ऑफ हिन्दुइज्म' (Riddles of Hinduism) लिखकर हिन्दूधर्म के खोखलेपन, झूठ और अन्धविश्वासों को बेनकाब कर दलितों को उससे मुक्त कर वैज्ञानिक सोच का रास्ता दिखाया था लेकिन आज दलित खासकर हिन्दी पट्टी का दलित समाज, उन्हीं अन्धविश्वासों को आधुनिक तौर तरीकों से अपनाने में सवर्णों को पछाड़ने में माहिर होने की चेष्टा में लगा है। सत्यनारायण की कथा रामलीला, दुर्गा पूजा, करवा चौथ, दीपावली, होली, जो दलितों के सर्वनाश की कथाएं हैं में वह बढ-चढ़ कर भाग लेता है। जरूरी है इन आख्यानों-स्मृतियों को नकारने की और उनके विरुद्ध मुहिम छेड़ने की। मनुस्मृति को जलाने की। बिहार में स्वर्गीय जगदेव बाबू (जिन्हें बिहार का लेनिन कहा जाता था) की तरह रामायण जलाने की।

ब्राह्मणवाद के विरोध के संदर्भ में एम.एन. रॉय और डॉ. अंबेडकर के विचार डॉ. रमेन्द्र

‘ब्राह्मणवाद’ शब्द का इस्तेमाल ब्राह्मण धर्म (हिन्दू धर्म) के लिए और खास तौर से उससे जुड़ी वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा के लिए किया जाता है। ब्राह्मणवाद या ब्राह्मण धर्म के मूल तत्व हैं वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास; वर्ण-व्यवस्था और कर्मवाद-अवतारवाद-मोक्ष आदि। इनमें सामाजिक दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था सबसे महत्वपूर्ण है। वर्ण-व्यवस्था का सीधा सम्बन्ध जाति-व्यवस्था से है, जो हिन्दू समाज की सबसे बड़ी बुराई है। इस तरह सामाजिक दृष्टि से ‘ब्राह्मणवाद’ का अर्थ है ‘वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा’, जो जाति-व्यवस्था को ईश्वरीय बतला कर एक सैद्धान्तिक अधिकार प्रदान करती है।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था बुद्धि-विरोधी, अन्यायपूर्ण और अलोकतांत्रिक है। इसका तर्कसंगत, वैज्ञानिक चिंतन तथा स्वतंत्रता, समता और बन्धुता के मानवीय मूल्यों से विरोध है। यह कहना कि वर्ण-व्यवस्था का निर्माण तथाकथित ब्रह्मा ने अपने शरीर के अंगों से किया है एक काल्पनिक और मनगढ़ंत बात है। भारतीय सन्दर्भ में ब्राह्मणवाद एक वर्गविहीन, जातिविहीन और औरत-मर्द बराबरी पर आधारित समाज की दिशा में बढ़ने के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है। कोई आश्चर्य नहीं है कि आज के लोकतांत्रिक, मानवतावादी और समतावादी युग में ब्राह्मणवाद का विरोध निरन्तर तेज होता जा रहा है।

बीसवीं शताब्दी में पैरियार, एम.एन.रॉय, अम्बेडकर, ए.बी. शाह और रामस्वरूप वर्मा जैसे निरीश्वरवादी-मानवतावादी विचारकों ने ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया है।

मानवेन्द्र नाथ रॉय का जन्म ब्राह्मण जाति में हुआ था लेकिन वे ब्राह्मणवाद के विरुद्ध थे। दरअसल वे वैज्ञानिक चिंतन, धर्मनिरपेक्ष नैतिकता और भौतिकवाद

के संशोधित रूप के समर्थक थे। वे न सिर्फ ब्राह्मणवाद सहित सभी धर्मों के बल्कि धार्मिक चिंतन पद्धति के ही विरुद्ध थे। एम.एन. रॉय की यह मान्यता थी कि लोकतंत्र सही ढंग से काम कर सके इसके लिए **बुद्धिवाद** और **मानवतावाद** पर आधारित **दार्शनिक क्रांति** एक अनिवार्य शर्त है। उनके अनुसार सामाजिक क्रांति के पहले **दार्शनिक क्रांति** का होना जरूरी है। रॉय के विचार में **भाग्य और भगवान भारतीय जनता की गुलामी की जंजीर की सबसे मजबूत कड़ी है।** उनकी यह कल्पना थी कि रैडिकल मानवतावादी आन्दोलन एक स्कूल की तरह होगा जो भारत की जनता को भाग्य और उसके शीर्ष पर विराजमान भगवान के विरुद्ध विद्रोह करना सिखाएगा।¹

इस संदर्भ में रॉय के दर्शनशास्त्र की अवधारणा उल्लेखनीय है। **रॉय दर्शनशास्त्र को विज्ञान से जोड़ने के पक्ष में थे।** दूसरी ओर, वे दर्शनशास्त्र का धर्म और धर्मशास्त्र के एकीकरण किए जाने के विरुद्ध थे। रॉय के विचार में अतिप्राकृतिक या अलौकिक शक्तियों में विश्वास प्राकृतिक घटनाओं का कारण प्रकृति में ढूंढने के रास्ते में बाधक है, इसलिए रूढ़िवादी धार्मिक विचारों और धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों को नकारे बिना दर्शनशास्त्र का अस्तित्व सम्भव नहीं है। रॉय के अनुसार विज्ञान के विकास के साथ-साथ धर्म का अन्त होना निश्चित है, क्योंकि विज्ञान ने मनुष्य को उन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ बना दिया है, जिनका उत्तर देने के लिए मानव में अपने बचपन में अतिप्राकृतिक और अलौकिक शक्तियों की कल्पना की थी इसलिए रॉय स्पष्ट तौर से यह विचार व्यक्त करते हैं कि **दर्शनशास्त्र को धर्म से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए और भौतिक जगत की वास्तविकता को अपना आधार बनाकर आगे बढ़ना चाहिए।**²

अपनी पुस्तक **‘इंडियाज़ मैसेज’ (India's Message)** में रॉय ने आत्मा की **अमरता** और **पुनर्जन्म** के सिद्धांत को अस्वीकार किया है, जो कि ब्राह्मणवाद की आधारशिला है। वे कर्मवाद के भी विरुद्ध थे। रॉय के अनुसार मनु के नियम पितृसत्तात्मक पुरोहित वर्ग के विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए बनाए गए थे।³ रॉय के अनुसार भारत में नवजागरण के लिए परम्परागत धार्मिक विचारों और रूढ़ियों की समीक्षा जरूरी है। वे भारत के तथाकथित **‘आध्यात्मिक’** विरासत के बेकार का गुणगान किए जाने के विरुद्ध थे। उनके अनुसार ब्राह्मणवादी समाज के **सड़ रहे ढांचे की परम्पराओं को भारतीय सभ्यता मान लेना एक भूल है।** जरूरत है इसके पीछे सकारात्मक प्राचीन चिंतन को खोज निकालना। इसके लिए परम्पराओं के प्रति तर्कसंगत और समीक्षात्मक रवैया अपनाना जरूरी है।⁴

अपनी पुस्तक **‘मैटेरियलिज्म’ (Materialism)** में रॉय ने लोकायत या चार्वाक दर्शन की तुलना ग्रीक **एपिक्यूरियसवाद (Epicureanism)** से करते हुए प्राचीन भारतीय चिंतन के सकारात्मक परिणाम के रूप में उसकी सराहना की है।

उनके अनुसार प्राचीन ग्रीक दर्शन की तरह भारतीय दर्शन की शुरुआत भी भौतिकवाद से हुई। रॉय के विचार में भारतीय दर्शन में प्रकृतिवादी, बुद्धिवादी, संदेहवादी, अज्ञेयवादी और भौतिकवादी प्रवृत्तियों की परिणति लोकायत दर्शन में हुई। रॉय के अनुसार क्योंकि लोकायतिक सिर्फ प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार करते थे, इसलिए उन्हें दार्शनिक कहा गया। 'दर्शन' का अर्थ है 'प्रत्यक्ष'।⁵

उल्लेखनीय है कि बुद्ध के भी पहले से ही प्रचलित लोकायत दर्शन में आत्मा, मृत्यु के बाद जीवन, परलोक तथा स्वर्ग और मोक्ष जैसे लक्ष्यों को अस्वीकार करते हुए सुखवाद का समर्थन किया गया है। 'जब तक जियो, सुख से जियो मृत्यु के बाद कोई पुनर्जन्म नहीं होगा।' लोकायत दर्शन के अन्तर्गत ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया गया है। लोकायतिकों ने स्पष्ट रूप में वैदिक कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम धर्म को अस्वीकार करते हुए उनकी निरर्थकता की ओर ध्यान दिलाया है। लोकायत दर्शन के अन्तर्गत कर्मवाद का भी विरोध किया गया है। एम.एन. रॉय ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि लोकायतिकों ने वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार किया था। लोकायतिकों के अनुसार ब्राह्मणों द्वारा वेदों की प्रामाणिकता का समर्थन सिर्फ इसलिए किया जाता है क्योंकि इससे उनको आजीविका प्राप्त होती है।⁶

रॉय ने ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिए बौद्ध दर्शन की भी सराहना की है। उनके अनुसार वेदों की प्रामाणिकता, कर्मकाण्ड, ब्रह्म और आत्मा को अस्वीकार कर बौद्ध दर्शन ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। (ध्यान देने योग्य है कि ये सारे तत्व लोकायत दर्शन में भी मौजूद हैं।) लेकिन रॉय ने 'निर्वाण' की अवधारणा का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार यह बौद्ध दर्शन में एक विसंगति है।⁷

स्पष्ट है रॉय बौद्ध धर्म को ब्राह्मणवाद से बेहतर मानते थे, लेकिन उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाने की वकालत भी नहीं की है। वे सभी धर्मों को अस्वीकार करते हुए, सीधे-सीधे बुद्धिवाद और मानवतावाद का समर्थन करते थे। दूसरी ओर, डॉ. अम्बेडकर ने ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म को छोड़ कर बौद्ध धर्म को अपना लिया था। यहां रॉय और अम्बेडकर में अन्तर है। जहां तक ब्राह्मणवाद के विरोध का प्रश्न है, डॉ. अम्बेडकर की रचनाओं में अत्यधिक मुखर रूप में वह मौजूद है।

डॉ. अम्बेडकर का जन्म महाराष्ट्र में परम्परागत रूप से 'अछूत' माने जाने वाली महार जाति में हुआ था। उन्होंने आजीवन छुआछूत के विरुद्ध संघर्ष किया। अन्ततः अपने जीवन के अन्तिम खण्ड में उन्होंने औपचारिक रूप से हिन्दू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म अपना लिया। डॉ. अम्बेडकर 1935 से ही हिन्दू धर्म से दूर जाने लगे थे, जबकि नासिक मन्दिर-प्रवेश सत्याग्रह के असफल होने पर उन्होंने सार्वजनिक तौर से यह घोषणा की थी कि अपने जन्म पर तो उनका कोई नियन्त्रण नहीं था लेकिन वे हिन्दू के रूप में नहीं मरेंगे। डॉ. अम्बेडकर को यह महसूस होने

लगा था कि हिन्दू धर्म के दायरे में दलितों को न्याय नहीं मिल सकता है।⁶

1936 में डॉ. अम्बेडकर की 'जाति का विनाश' (Annihilation of caste) प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने हिन्दू धर्म को छोड़ने के अपने संकल्प को दोहराया। अन्ततः 1956 में उन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार

“हिन्दू धर्म में ईश्वर में विश्वास है। बौद्ध धर्म में कोई ईश्वर नहीं है। हिन्दू धर्म आत्मा में विश्वास रखता है। बौद्ध धर्म के अनुसार आत्मा नहीं है। हिन्दू धर्म चतुर्वर्ण और जाति-व्यवस्था में विश्वास रखता है। बौद्धधर्म में जाति-व्यवस्था और चतुर्वर्ण के लिए कोई जगह नहीं है।”⁹

इस तरह, हिन्दू धर्म के विरुद्ध डॉ. अम्बेडकर की एक प्रमुख आपत्ति यह थी कि यह चतुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के माध्यम से जाति-व्यवस्था और छुआछूत का समर्थन करता है।

जाति का विनाश (Annihilation of Caste) के अलावा डॉ. अम्बेडकर ने फिलासफी ऑफ हिन्दुइज्म (Philosophy of Hinduism, Riddles in Hinduism) और बुद्धा एण्ड हिज धम्मा (Buddha and His Dhamma) में भी ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया है। डॉ. अम्बेडकर की इन रचनाओं का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद हुआ है।

जाति का विनाश (Annihilation of Caste) में डॉ. अम्बेडकर ने यह राय दी है *“जाति के उन्मूलन का वास्तविक उपाय अन्तर्जातीय विवाह ही है।”* उनके अनुसार *“जब अन्तर्जातीय खान-पान एवं विवाह सामान्य व्यवहार की बात हो जाएंगे, तो जाति एक प्रभावशाली ताकत नहीं रहेगी।”¹⁰* लेकिन, इससे भी आगे बढ़कर, डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि छुआछूत और जाति-व्यवस्था को नष्ट करने के लिए उन धर्मग्रन्थों और शास्त्रों की पवित्रता में लोगों के विश्वास को नष्ट करना जरूरी है, जिनमें वर्ण-व्यवस्था को मान्यता प्रदान की गई है, और जिनके जरिए जाति-भेद की भावना लोगों के दिमाग में बैठायी गई है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, *“शास्त्रों के अधिकार को चुनौती नहीं देना, लोगों को शास्त्रों में विश्वास करने देना और फिर लोगों के अमानवीय तर्कविहीन व्यवहार करने के लिए आलोचना करना, सामाजिक सुधार का कोई उचित तरीका नहीं है।”¹¹*

उल्लेखनीय है कि महाद तालाब सत्याग्रह के दौरान 25 दिसम्बर, 1927 को डॉ. अम्बेडकर ने मनुस्मृति को सार्वजनिक तौर पर जलाने का कार्यक्रम भी किया था। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार *“मनुस्मृति एक साथ सवर्ण हिन्दुओं के लिए अधिकार का घोषणा-पत्र और अछूतों के लिए दासता का बाइबिल है।”* आगे वे

कहते हैं “हमने मनुस्मृति इसलिए जलाई क्योंकि हम इसे अन्याय का एक प्रतीक मानते हैं जिसके अन्तर्गत हम सदियों तक दबाए कुचले गए हैं। मनुस्मृति की शिक्षा से हम अपार गरीबी और गहिर स्थिति में रखे गए हैं, इसलिए जान हथेली पर ले कर हमने आक्रमण करने का खतरा मोल लिया है।”¹²

फिलास्फी ऑफ हिन्दुज्म (Philosophy of Hinduism) में डॉ. अम्बेडकर ने न्याय, या दूसरे शब्दों में समता, स्वतन्त्रता और बन्धुता की दृष्टि से हिन्दू धर्म के बारे में विचार किया है। मनुस्मृति से कई उद्धरण देते हुए डॉ. अम्बेडकर ने दिखलाया है कि वर्णाश्रम धर्म की ब्राह्मणवादी व्यवस्था इन मानवीय मूल्यों के पूरी तौर से विरुद्ध है। इसमें एक ही अपराध के लिए अलग-अलग वर्णों के लिए अलग-अलग सजा बतलाई गई है। आश्रम व्यवस्था को सिर्फ द्विजों तक ही सीमित रखा गया है। आजीविका चुनने की स्वतन्त्रता नहीं दी गई है। शूद्रों के लिए कहा गया है कि उनका जन्म ही द्विजों की सेवा के लिए हुआ है! शूद्रों को आर्थिक स्वतन्त्रता और सुरक्षा से, यहां तक कि ज्ञान और शिक्षा से भी वंचित किया गया है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, हिन्दू समाज को जाति के आधार पर इस हद तक बांट दिया गया है कि अलग-अलग जाति के लोग न आपस में एक साथ मिल बैठ कर खाते हैं, न आपस में एक दूसरे से विवाह करते हैं। जन्म, मृत्यु, विवाह और भोजन जैसे सुख-दुःख के महत्वपूर्ण मौकों पर उनमें आपस में कोई सहभागिता नहीं होती है। इस तरह, हिन्दू धर्म का दर्शन ही बन्धुत्व के मूल्य के विपरीत है।¹³

हिन्दू धर्म के बारे में डॉ. अम्बेडकर के विचारों को ‘रिडल्स इन हिन्दुइज्म’ (**Riddles in Riddles in Hinduism**) में भी देखा जा सकता है। इसमें डॉ. अम्बेडकर ने वेदों की प्रामाणिकता और वर्ण-व्यवस्था को चुनौती दी है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, सबसे अधिक शरारतपूर्ण धर्म-सिद्धान्त, जो ब्राह्मणों ने साधारण हिन्दुओं के बीच प्रचारित किया है, वह है वेदों के प्रामाणिक या अन्तिम सत्य होने का सिद्धान्त। **इससे हिन्दू बुद्धि का विकास अवरुद्ध हो गया और हिन्दू सभ्यता में ठहराव आ गया।** भारत के विकास के लिए इस सिद्धान्त को जड़-मूल से नष्ट करना जरूरी है। डॉ. अम्बेडकर की राय में वेद ‘बेकार की किताबें’ हैं। उन्हें ‘पवित्र या प्रामाणिक’ मानने का कोई कारण नहीं है।¹⁴

इस तरह डॉ. अम्बेडकर की रचनाओं में ब्राह्मणवाद पर करारा प्रहार किया गया है। जो बुद्धिवादी-मानवतावादी बौद्ध धर्म अपनाने की उनकी राय से सहमत न भी हों वे भी ब्राह्मणवाद के विरोध में दिए गए विचारों से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं। दरअसल, आज प्राचीन लोकायत, बौद्ध से लेकर 19वीं सदी में फूले और बीसवीं सदी में पैरियार, एम.एन.रॉय अम्बेडकर, ए.बी.शाह और रामस्वरूप वर्मा जैसे विचारकों से प्रेरणा ले कर ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष को और अधिक तेज करने की जरूरत

है, ताकि हम एक जातिविहीन, वर्गविहीन तथा औरत-मर्द बराबरी पर आधारित समाज की ओर बढ़ सकें।

संदर्भ ग्रंथ

1. M.N. Roy, Beyond Communism (Delhi : Ajanta Publications, 1981), p.72.
2. M.N. Roy, Science and Philosophy, quoted in अशोक कुमार वर्मा (सं), स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक चिंतन (पटना : मोतीलाल बनारसीदास, 1993), पृष्ठ-63
3. वही
4. M.N. Roy, India's Message (Delhi : Ajanta Publications, 1982), p.88.
5. Ibid., pp.Xiii-XV.
6. M.N. Roy, Materialism (Delhi : Ajanta Publications, pp. 78-79 and 94-95.
7. Ibid., p. 98.
8. Dhananjay Keer, Dr. Ambedkar : Ambedkar : Life and Mission (Bombay : Popular Prakashan, 1954, 1997) पृष्ठ 34.
9. Ibid., p. 492.
10. रमेन्द्र, डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म का त्याग क्यों किया? (पटना : बिहार बुद्धिवादी समाज, 1992, 1997), पृष्ठ 34.
11. वही, पृष्ठ 35-36.
12. वही, पृष्ठ 31-32.
13. B.R. Ambedkar, Dr. Babasaheb Ambedkar Writings and Speeches, vol-3, pp 1-22,
14. रमेन्द्र, डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म का त्याग क्यों किया? पृष्ठ 19-20.

दलित नैतिकता बनाम वर्चस्ववाद

ओमप्रकाश वाल्मीकि

किसी भी आन्दोलन को विचार या दर्शन ही ऊर्जावान बनाते हैं। साथ ही वैचारिक चर्चायें यदि बंद कमरों तक सीमित रह जायें तो किसी भी आन्दोलन के शिथिल पड़ जाने की संभावनायें बढ़ जाती हैं। भले ही कुछ तात्कालिक बदलाव दिखायी पड़ें लेकिन वे सिर्फ बाह्य होते हैं। दलित- आन्दोलन को डॉ. अम्बेडकर के विचार-दर्शन ने ऊर्जावान बनाया है। जिसमें जाति-समस्या एक महत्वपूर्ण सवाल है, जिसे विद्वानों ने अनदेखा करने की लगातार कोशिशें की हैं। 'भारतीय समाज-व्यवस्था' में 'जाति' का अस्तित्व बहुत गहरा है। जो विद्वान 'जाति-समस्या' को 'आर्थिक-समस्या' मानकर 'वर्ग-संघर्ष' की बात करते हैं, वे जान-बूझकर इससे आंख चुराते हैं। शत्रुमुर्ग की तरह आंखें बंद कर लेने से समस्या का समाधान नहीं होगा। आज प्रत्येक क्षेत्र में 'जाति' की एक 'अहम्' भूमिका है। शैक्षणिक संस्थाओं में इसका चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है।

राजेन्द्र यादव अपने एक साक्षात्कार में 'जाति' के अन्दरूनी रूप की चर्चा करते हुए कहते हैं "मैं सारे भारत की बात नहीं जानता मगर मैं हिन्दी पट्टी में देखता हूँ कि दिन-रात प्रगतिशीलता की बात करने वाले, देशी-विदेशी उद्धरण उगलने वाले खुद कैसे भयंकर रूप से जातिवादी हैं कोई राजपूतों-क्षत्रियों के साथ जुड़ने में गर्व महसूस करता है तो कोई ब्राह्मणों को अपना आदमी मानता है इसका धिनौना रूप शिक्षण-संस्थाओं और सरकारी दफ्तरों में दिखायी देता है, जिसे नीची जाति वालों को रोज़ भुगतना पड़ता है।" इसी साक्षात्कार में वे आगे कहते हैं "सबसे पहले वामपंथियों को खुद जाति से मुक्त होना पड़ेगा। उन्हें अपने अस्तित्व के लिए मरा हुआ कबीर चाहिए। जिन्दा कबीर को बर्दाश्त करने का जिगर इनके पास कहां है? अपनी रोटी-पानी या बौद्धिक प्रगतिशीलता के लिए इन्हें कबीर, निराला, मुक्तिबोध या परसाई उसी तरह चाहिए, जैसे पंडों को राम, कृष्ण, हनुमान चाहिए।" ¹

'जाति के सवाल' को डॉ. अम्बेडकर ने जिस प्रखरता और जुझारूपन के साथ

उठाया, वह भारतीय इतिहास में एक युगप्रवर्तक की भूमिका है जिसने दलितों को सिर्फ वाणी ही नहीं दी, उनमें आत्मविश्वास भी भरा। यही वह ऊर्जा है जो दलितों को डॉ. अम्बेडकर से मिली है। डॉ. अम्बेडकर एक चेतनासम्पन्न दलित विचारक, भविष्यदृष्टा थे, जिन्होंने 'जाति-उन्मूलन' के अपने मुख्य एजेन्डे को निरंतर गतिशील रखा था। उन्होंने दलितों को धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान दी। जैसे-जैसे दलित इस प्रक्रिया से जुड़ते गए, वैसे-वैसे डॉ. अम्बेडकर की महत्ता का भी विस्तार होता गया। 'दलित-समस्या' का सीधा अर्थ है 'जाति का सवाल'।

डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं को बुद्ध के अनुयायी के तौर पर स्थापित किया। उनका विश्वास था कि राष्ट्र निर्माण में अहिंसा एक आधारभूत मूलतत्व होना चाहिए। अपनी पुस्तक 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में वे लिखते हैं कि हिंसा यदि आवश्यक है तो उसे एक ऊर्जा के तौर पर ही इस्तेमाल करना चाहिए, न कि ज़रूरत की तरह।²

'बाबरी-विध्वंस' छः दिसम्बर, 1992 'अंबेडकर निर्वाण दिवस' के दिन किया जाता है और 'परमाणु-विस्फोट' 'बुद्ध-जयंती' (1974 और 11 मई, 1998) के दिन। यह कोई संयोग मात्र नहीं बल्कि जानबूझकर होता है। बुद्ध का विश्वास था कि राज्यों के आंतरिक मामलों को, विवादों को हिंसा से नहीं निबटारा जा सकता। जब बुद्ध कालीन राजा 'अजात शत्रु' ने अपने पड़ोसी राज्य वृजियों के जनजातीय गणराज्य पर आक्रमण करने की कोशिश की थी, तब बुद्ध ने कहा था कि जब तक वृजियों का गणराज्य लोकतांत्रिक व्यवस्था को मानता है तब तक उसे प्रगति के अवसर दिये जाने चाहिए। बुद्ध ने बिंबसार के युद्धोन्माद का भी हमेशा विरोध किया था। यही बुद्ध-दर्शन 'शांति सह अस्तित्व' (पंचशील) के सिद्धांत पर आधारित 'गुटनिरपेक्ष' आन्दोलन का आधार बना था।

'जाति' के सवाल का विश्लेषण करते हुए प्रसिद्ध लेखक कांचा इलैया कहते हैं "कुछ हिन्दुत्ववादियों का मानना है कि अंग्रेजों की 'फूट डालो, राज करो' की नीति के कारण ही वर्तमान 'जाति-संघर्ष' बढ़ा है। प्रत्येक सामाजिक विघटन और राजनीति के लिए ब्रिटिश राज को ही जिम्मेदार मानते हैं। ऐसा मानने वालों में ज्यादातर कट्टरपंथी और अधिनायकवादी समूह के लोग हैं, जिन्होंने भारतीय राष्ट्र की बहुत क्षति की है। इनमें अधिकतर ब्राह्मण नेता हैं। यह ऐतिहासिक साजिश दलित-बहुजन के विरुद्ध थी क्योंकि इन्हीं ब्राह्मणों ने दलितों को अनपढ़ बनाये रखने की साजिश में धर्म को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया था।"³

'वर्ण-व्यवस्था' की संरचना भी समाज का विघटन करके अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए ही बनायी गई थी, जो एक सामाजिक, राजनीतिक उद्देश्य और सत्ता पर काबिज रहने के लिए किया गया था। आगे चलकर यही जाति में परिवर्तित हो गया। पिछले तीन हजार वर्षों में किसी भी हिन्दू विचारक ने इस 'वर्ण-व्यवस्था' और

‘जाति भेद’ से विघटित समाज को जोड़कर एक शक्ति के रूप में बदलने की संकल्पना को स्थापित नहीं किया, जिसे एक सकारात्मक रूप में लेकर कहा जा सके कि भारत एक राष्ट्र है। सामाजिक विघटन का यह सिद्धांत ‘हिन्दू-धर्म’ का आधार है और उसका प्रमुख चिंतन भी, जिसे ‘आध्यात्मिक अधिनायकवाद’ ने हमेशा सुदृढ़ किया है। जब-जब यह कमजोर पड़ता है, तब-तब युद्धोन्माद की स्थितियां पैदा करके समाज का भावनात्मक शोषण किया जाता है।

कांचा इलैय्या के अनुसार ‘आध्यात्मिक अधिनायकवाद’ की स्थापना ब्राह्मणवादी विचारकों ने की। 800 वर्ष के ‘मुस्लिम काल’ और 200 वर्ष के ‘ब्रिटिश काल’ के शासक भी इस ‘जाति-व्यवस्था’ जो ‘फूट डालो राज करो’ की मूलभूत व्यवस्था है, को तोड़ने के लिए कोई भी कारगर कार्य नहीं कर सके। यह व्यवस्था ‘में दूसरों से श्रेष्ठ हूं’ यानि ‘अहम् ब्रह्मास्मि’ पर आधारित है। ब्राह्मण ने स्वयं को ‘देवता’ कहकर समाज में प्रतिष्ठा हासिल की और ज़मीन से अन्न उगाने या जीवन उपयोगी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वालों को भिन्न जाति ठहरा कर उनकी अवमानना की। उन्हें नीची निगाह से देखा। यदि किसी ब्राह्मण ने भी ‘हल’ को छू लिया तो उसे तत्काल जाति से बाहर कर दिया।

यही कारण है कि सभी हिन्दू ‘नायक’ ईश्वर के तौर पर स्थापित हैं और वे सभी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हैं, जो उनकी ‘युद्ध-लिप्सा’ का द्योतक है। यह आदर्श ‘आध्यात्मिक अधिनायकवाद’ की देन है।

समाज में क्रूरतम हिंसा स्थापित करके दूसरों को आतंकित करने का अर्थ है, अपनी ‘आत्मा’ और ‘भावना’ को खो देना। इसका ताजा उदाहरण है हरियाणा का ‘गोहाना-कांड’, जहां समृद्ध होते ‘वाल्मीकि-समुदाय’ की पूरी बस्ती में आग लगाकर उसे खाक कर दिया गया या ‘झज्जर’ में भीड़ ने चार दलित युवकों को पुलिस की मौजूदगी में पीट-पीटकर मार डाला। भारत में ‘हिन्दुत्व’ का विचार कभी भी समानता और भाईचारे का समर्थक नहीं रहा, इसी कारण समाज में विघटन की भावना बढ़ी और राष्ट्र निर्माण सिर्फ कागज़ों पर ही हुआ।

यहां यह भी जानना जरूरी है कि ‘गोहाना-अग्निकांड’ का फैसला पंचायत ने खुलेआम लिया था। प्रशासन, पुलिस, बुद्धिजीवी, नेता सिर्फ तमाशबीन थे। पुलिस का चरित्र तो और भी ज्यादा संदिग्ध और जातिवादी था क्योंकि एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी बस्ती में आकर घोषणा करता है कि सभी लोग बस्ती खाली कर दें। ‘जाट’ बस्ती को आग लगाने आ रहे हैं। ये कुछ तथ्य हैं जो सिद्ध करते हैं कि ‘हिन्दू’ के मन में ‘जाति-वैमनस्य’ बहुत गहरा है, जो दलित को कभी भी प्रगति करते हुए देखना नहीं चाहता। डॉ. अम्बेडकर ने इस तथ्य को समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक लड़ाइयां एक साथ लड़ीं। दलितों के भीतर आत्मविश्वास पैदा किया और ‘बौद्ध धर्म’ को विकल्प के रूप में सामने रखा।

बुद्ध के विचारों की व्यावहारिकता को लेकर डॉ. अम्बेडकर ने एक कसौटी तय की थी। उनका कहना था कि, “जो बुद्धि-संगत नहीं है, जो तर्क-संगत नहीं है, वह ‘बुद्ध-वचन’ नहीं है, या कहें जो बुद्धि-संगत है, जो तर्क-संगत है, वही बुद्ध-वचन है”,⁴ इसी कसौटी पर अम्बेडकर-दर्शन को समझने की आवश्यकता है। जो ‘जाति-व्यवस्था’ में विश्वास करता है वह ‘जाति-भावना’ से मुक्त नहीं है। वह समानता और भाईचारे का विरोधी है।

मनुष्य की सामाजिक प्रतिबद्धता, बंधुता, समानता की भावना को डॉ. अम्बेडकर ने सर्वोपरि माना है। भदंत आनन्द कौसल्यायन, डॉ. अम्बेडकर के ग्रंथ ‘भगवान बुद्ध और उनका धर्म’ की भूमिका ‘नम्र निवेदन’ में लिखते हैं “आदमी एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्येत्तर प्राणियों के भी अपने-अपने समाज हैं किंतु पता नहीं जब हम किसी आदमी का उसके धार्मिक रूप में अध्ययन करना चाहते हैं, तो उसे क्यों इतना एकाकी मान बैठते हैं? हर आदमी में एक ‘आत्मा’ मान ली जाती है और सब आदमियों के ऊपर एक ‘परमात्मा’ मान लिया जाता है। उस ‘आत्मा’ का उस ‘परमात्मा’ में लीन कर सकना जीवन का परम उद्देश्य घोषित कर दिया जाता है। आदमी जितना ‘परमात्मा’ के समीप सरकता जाता है, उतना ही अपने निकट संबंधियों तक से दूर होता चला जाता है।”⁵ आखिर ऐसा क्यों न हो? जब घुड़ी के साथ यह शिक्षा दी जाती है

जाके हृदय न राम-वैदेही/ तजो ताहि कोटि बैरी सम,
जदपि परम स्नेही,
तज्यौ पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु
भरत महतारी...”

दरअसल बुद्ध के धम्म की आधारशिला आदमी का आदमी से योग्य संबंध ही है। यही संबंध सामाजिकता का आधार बनते हैं।

मजहब या रिलीजन में ‘नैतिकता’ का क्या स्थान है? डॉ. अम्बेडकर का मानना है “...सच तो यह है कि नैतिकता का ‘मजहब’ या ‘रिलीजन’ में कोई स्थान नहीं है क्योंकि इसमें ईश्वर, आत्मा, प्रार्थनाएं, पूजा, कर्मकांड, रीति-रिवाज, यज्ञ, बलि-कर्म आदि आते हैं। ‘नैतिकता’ का संबंध वहीं आता है, जहां एक आदमी का संबंध दूसरे से आरंभ होता है। अपने पड़ोसी से अच्छा व्यवहार करो, क्योंकि तुम दोनों एक ही पिता-परमात्मा के पुत्र हो। यही मजहब और रिलीजन का तर्क है। प्रत्येक ‘मजहब’ या ‘रिलीजन’ नैतिकता का उपदेश देता है किंतु ‘नैतिकता’ ‘मजहब’ या ‘रिलीजन’ का मूल आधार नहीं है। यह एक रेल के उस डिब्बे की तरह है जो यूं ही साथ जोड़ दिया गया है। यह यथा अवसर पर जोड़ भी दिया जाता है और पृथक भी कर दिया जाता है, इसीलिए ‘रिलीजन’ या ‘मजहब’ की क्रिया-परिपाटी में ‘नैतिकता’ का स्थान आकस्मिक है और कभी-कभी उसका प्रयोजन भी रहता है। इसीलिए ‘मजहब’ या

रिलीजन में 'नैतिकता' प्रभावोत्पादक नहीं है।" 6

बुद्ध के 'धम्म' में 'नैतिकता' का विशेष स्थान है क्योंकि बुद्ध ने 'धम्म' के दो तत्व बताये हैं प्रज्ञा और करुणा। 'प्रज्ञा' यानी बुद्धि और 'करुणा' यानि 'प्रेम' और 'मैत्री'। इनके बगैर समाज जी नहीं सकता, न रह सकता है, न ही विकास कर सकता है। ये दोनों तत्व बुद्ध के धम्म के मूल आधार हैं।

'मज्जहब' और 'रिलीजन' की तरह बुद्ध के 'धम्म' में ईश्वर या परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं है लेकिन नैतिकता के लिए विशेष स्थान है। बुद्ध के धम्म में प्रार्थनाओं, तीर्थ-यात्राओं, कर्मकांडों, रीति-रिवाजों, बलि-कर्म आदि के लिए भी कोई स्थान नहीं है लेकिन नैतिकता के लिए है। नैतिकता का सीधा संबंध आदमी से आदमी के बीच मैत्री भाव की आवश्यकता से है। इसमें ईश्वरीय स्वीकृति की कोई गुंजाईश नहीं है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए भी नैतिकता की जरूरत नहीं है। यह मनुष्य की अपनी आवश्यकता है कि वह दूसरों से मैत्री करे, तभी उसकी सामाजिकता बनती है।

गत दिनों शंकराचार्य की गिरफ्तारी को लेकर जो घटित हुआ, उसने एक बार फिर से इस धारणा को पुष्ट किया है कि यहां दो तरह की नैतिकताएं हैं, जो ऐसे अवसरों पर साफ-साफ दिखाई देने लगती हैं। एक वह है जो शंकराचार्य को जगतगुरु मानकर दावा करते हैं कि उन पर भारतीय संविधान की कोई भी धारा लागू नहीं होती है। ऐसी नैतिकता के वे लोग पक्षधर हैं जो धार्मिक कट्टरता, सामाजिक वितंडावाद, वर्चस्ववाद, सांस्कृतिक-वैमनस्य, सामाजिक प्रदूषण फैलाने के पक्ष में हैं। शंकराचार्य की गिरफ्तारी उन्हें धर्म का अपमान लगती है। पर्दे की आड़ में खेले जाने वाले अनैतिक, अमर्यादित कुकृत्य भी धर्म का हिस्सा लगते हैं, इसीलिए वे शंकराचार्य जैसे ध्वजवाहकों को संविधान से बाहर मानते हैं। ऐसा मानने वालों में साधारण जन नहीं बल्कि अति विशिष्ट लोगों की संख्या ज्यादा है। मसलन पूर्व प्रधानमंत्री, पूर्व उपप्रधानमंत्री, गृहमंत्री, राष्ट्रीय स्तर के राजनेता, सांसद, पत्रकार, बुद्धिजीवी, संत कहे जाने वाले अनेक पेशेवर मठाधीश आदि-आदि।

दूसरी नैतिकता के वे लोग हैं जो शंकराचार्य को संविधान के दायरे से बाहर नहीं मानते हैं। वे मानते हैं कि एक नागरिक के तौर पर उन पर भी वे तमाम संवैधानिक धाराएं लागू होनी चाहिए, जो एक सामान्य नागरिक पर लागू होती हैं।

ये दो तरह की भिन्न नैतिकताएं हैं, भिन्न राष्ट्रीयताएं हैं, जिनकी संस्कृति, संस्कार, सोच-विचार, मानसिकताएं अलग हैं। इनमें ये विभेद हजारों वर्ष पुराने हैं, जिन्हें स्थापित करने में सिर्फ धर्मग्रन्थों की भूमिका ही नहीं रही बल्कि साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों ने भी अहम् रोल अदा किया है। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' से जो असमानता का सिलसिला शुरू हुआ, उसी के परिणामस्वरूप दलितों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अमानवीय यातनाओं से गुजरना पड़ा। पुरुष-सूक्त सिर्फ वर्णभेद का ही उद्गम नहीं

है, बल्कि दर्शन, साहित्य को भी उसने प्रभावित किया और एक व्यवस्थित क्रमबद्धता दी जो आध्यात्मिक अधिनायकवाद के रूप में आज भी जारी है और वर्चस्ववाद को लगातार सुदृढ़ कर रही है।

वर्तमान संदर्भों में भी ये तथ्य गौरतलब हैं। भारतीय लोकतंत्र की इस संसदीय प्रणाली में श्रमिक और दलित की प्रतिष्ठा स्थापित करने या जातीय-व्यवस्था को समाप्त करने की कोई पहल दिखाई नहीं पड़ती। शिक्षण संस्थानों में तो स्थिति और भी भयानक है। शिक्षण संस्थान ब्राह्मणवादी वर्चस्व के घोर समर्थक हैं और श्रम के मूल्य को निम्न दृष्टि से देखते हैं। जो लोग सफाईकार्यों और अन्य जीवन उपयोगी ज़रूरतों को उपलब्ध कराते हैं, वे सामाजिक दृष्टि में नीचे हैं। वे शूद्र हैं, दलित, अंत्यज, कोटेवाले हैं। उनकी क्षमताओं को शक की दृष्टि से देखा जाता है।

सर्वहारा के पक्षधर वामपंथियों की स्थिति भी इन संदर्भों में पुरातन-पंथी है। उनके 'पूँजीवाद विरोध' के भारतीय जाति व्यवस्थावादी समाज में कोई मायने नहीं, जब तक वे दलितों के जातिवाद विरोध में शामिल होकर उनके साथ खड़े नहीं होते। उन्हें 'पूँजीवाद विरोध' में 'ब्राह्मणवाद-विरोध', 'सामंतवादी-विरोध' शामिल करना होगा, वरना वे इस संसदीय प्रणाली में हाशिए पर ही रहेंगे। दलितों का समर्थन उन्हें नहीं मिलेगा। इसकी वजह है भारतीय अर्थव्यवस्था का जातीय आधारित होना। इस तथ्य को वामपंथी अनदेखा करते रहे हैं।

यहां यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि हिन्दू मंदिरों के पास जो अगाध संपत्ति है, उसका दलितों को कोई भी लाभ नहीं मिलता। उसका पूरा लाभ वर्चस्ववादियों को मिलता है।

कांचा इलैय्या लिखते हैं "माता-पिता और बच्चों के लिए समानता और नैतिकता कोई दो अलग-अलग बातें नहीं हैं। वे बच्चों को ऊंची जाति के स्वामियों के आगे नतमस्तक होना सिखाते हैं। ऐसा इसलिए नहीं कि 'मडिग्गा', 'चक्काली' और 'मांगली' (सभी दलित बहुजन) माता-पिता में ऊंची जाति के स्वामियों, जमींदारों, ब्राह्मणों या बनियों के प्रति ज्यादा आदर था। अपने रोज़गार के छूट जाने के डर से वे ऐसा करते थे।" वे अपने बच्चों से कहते "मेरे बेटे उस हरामजादे से सावधान रहो, उसके प्रति आज्ञाकारी होने का ढोंग करो, वरना वह कमीना हमारे पेट पर लात मार देगा।" बच्चे आज्ञाकारी होने का ढोंग करते थे, जैसे गांधीजी गुरीब बनने का ढोंग रचते थे। छोटी उम्र में ही किए जाने वाला यह ढोंग जीवन भर उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता था। यह एक चित्र है दलित बहुजन के आंतरिक जीवन का, उनकी चेतना और नैतिकता का, जिसे वे वर्चस्ववादियों के प्रति अपने रोज़मर्रा के क्रियाकलापों में इस्तेमाल करते हैं।

वर्चस्ववादियों की बुद्धि (कुटिल बुद्धि) दलितों को साक्षर होने से रोकती रही है। ये सिलसिला ऐतिहासिक है। आधुनिक काल में डॉ. अम्बेडकर के आविर्भाव

और आधुनिक शिक्षा, आरक्षण ने दलितों में एक पढ़ा-लिखा वर्ग तैयार किया है, जो नैतिकता की पुनर्व्याख्या कर रहा है। प्रत्येक मान्यता, जीवन-मूल्य पर प्रश्न खड़ा करके उसकी व्यवहारिकता, लोकतांत्रिक आधार पर उपयोगिता परखना चाहता है।

दूसरी ओर वर्चस्ववादियों के अपने प्रतीकों, आख्यानों में नकारात्मक, हिंसावादी नायकों का प्रभुत्व है। उदाहरण के तौर पर महाभारत के कथानक को ही लें। वह सत्ता और संपत्ति के व्यक्तिगत झगड़ों पर आधारित है, जिसमें सत्ता और संपत्ति के लिए अपने सगे-संबंधियों की हत्या करना कोई पाप नहीं है। किसी समूह या समाज की समस्या या विकास का कहीं दूर-दूर तक भी कोई संकेत नहीं है, जबकि दलित नैतिकता में सगे-संबंधियों की हत्या, चाहे उसकी कोई भी वजह हो, अपराध की श्रेणी में रखी जाती है।

सामाजिक जीवन में वर्चस्ववादियों ने कुछ ऐसी स्थितियां निर्मित की हैं, जो यह स्थापित करती है कि वे महान हैं, उनकी संतानें महान हैं, उनकी संस्कृति श्रेष्ठ है, वे ही संस्कृति के सच्चे और सर्वश्रेष्ठ वाहक हैं। यह बात इतनी बार दोहराई जाती है कि इसे ही सच मान लिया जाता है और समूचे समाज की मानसिकता पर यह सोच हावी हो जाती है। इसी कल्पना पर आधारित मानसिकता ने वर्चस्ववादियों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों को ताकतवर बनाया है।

जिस समाज में कृषि-उत्पादन के लिए हल को हाथ लगाना पाप हो या व्यक्ति के छोटे या बड़े, निम्न या उच्च हो जाने का द्योतक हो, ऐसे लोग ही धन-धान्य से समृद्ध हों जो हल को हाथ लगाना पाप मानें और जो दिन-रात, सर्दी, गर्मी, बरसात, हारी-बीमारी में भी खून-पसीना बहाकर अनाज पैदा करें वे भूखे रहें निकम्में कहे जाएं। भारतीय जीवन का यह एक वीभत्स रूप देखकर जो पीड़ा होती है। भीतर कहीं गहरी वेदना उपजती है, जो गर्म भट्टी की तरह झुलसाती है।

वर्चस्ववादी दूसरों के श्रम पर अपना अधिकार समझता है, इसी के लिए वह दर्शन गढ़ता है, आख्यानों का निर्माण करता है। ब्राह्मणवादी भारतीय मानसिकता, लोगों में सामूहिक आर्थिक गतिविधियों के लिए कोई चेतना नहीं जगाती, इसीलिए उनकी तमाम गतिविधियों से दलित स्वयं को अलग कर लेता है। वह अपनी मजबूरियों, विवशताओं के चलते उनसे जुड़ता है, न कि अपनी स्वेच्छा से। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण मौजूद हैं। यहां दलितों ने बार-बार धोखा खाया है और वे आज भी खा रहे हैं।

‘गीता-दर्शन’ की महत्ता भारतीय समाज में उच्च श्रेणी की मानी जाती है ‘कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन’ (कर्म करो, फल की इच्छा मत करो) जैसे सूत्र वाक्य से जो प्रतिध्वनित होता है वह भी उस वर्ग के प्रति एक साजिश है, जो श्रम से जुड़ा है। इस दर्शन से आखिर लाभ किसे पहुंचता है? कर्म से जो

फल मिलता है, वह किसके पास जाता है? इस दर्शन को जन-समुदाय तक व्याख्या करके कौन लोग पहुंचा रहे हैं? उनकी जीविका का आधार क्या है? आय का स्रोत क्या है? एक प्रवचन देने के कितने रुपए लेते हैं वे लोग? वे श्रम को तो निकृष्ट मानते हैं पर उसके फल पर सिर्फ अपना हक समझते हैं। उस फल से ज़रा भी किसी ने कुछ लेने की कोशिश की तो हथ्र बुरा होता है। (जैसा मंडल आयोग के लागू करने पर हुआ या समुद्र-मंथन के समय 'अमृत' निकलने पर देवताओं ने उन पर अपना हक जताया)।

दर्शन और आध्यात्मवाद के प्रपंचों में उलझी ये तमाम व्याख्याएं, जिन्हें पवित्रता के आवरणों में लपेट कर प्रस्तुत किया जाता है यही सिद्ध करती हैं, जबकि ये पवित्र अस्तित्व, प्रकृति की महत्ता को स्वीकारने वाली नैतिकता के सामने हमेशा कमज़ोर रहे हैं। प्रकृति से उत्पन्न चेतना अपने ढंग से नैतिकता के मूल्यों का निर्माण करती है जो बाह्य शक्तियों द्वारा उत्पन्न शक्ति से भिन्न और मजबूत होती है।

धर्म और वर्चस्ववाद का मजबूत गठजोड़ एक बाज़ार-व्यवस्था उत्पन्न करता है जो एक ऐसा तंत्र तैयार करती है, जहां दलित और श्रमिक की एक वस्तु से ज़्यादा कोई अहमियत नहीं होती, उनके लिए वे सिर्फ एक उपभोग की वस्तु बन जाते हैं। इस्तेमाल किया और फेंक दिया।

दलित नैतिकता में स्त्री की स्वतंत्र महत्ता है इसके बावजूद वह पितृसत्तात्मकता की चक्की में पिस रही है। हालांकि विधवा विवाह को हमेशा उच्च श्रेणी में रखा लेकिन पितृसत्तात्मकता के दोहरे चरित्र से भी उसे रूबरू होना पड़ा। इस संघर्ष में उसने अपना विरोध प्रकट करने की स्वतंत्रता अपने पास रखी। वह गाली का जवाब गाली से देती है। मारपीट का जवाब मारपीट से देती है। दलितों में पारिवारिक व्यवस्था भी **सामूहिकता** का एक हिस्सा है। हिंसा का विरोध भी सामूहिक रूप में खुलकर होता है। दलितों में व्यक्तिगत की जगह सामूहिकता ज़्यादा है। यह उनकी चेतना का हिस्सा है। यही कारण है कि दलित साहित्य में दलित आत्मकथाएं व्यक्तिगत नहीं समूह की व्यथा- कथाएं होती हैं। यदि किसी ने व्यक्तिगत करने के प्रयास किए भी हैं तो भी वहां सामूहिकता ही प्रभावी होती है जो उसे व्यक्ति से समूह बनाती है।

दलितों में '**निजी संपत्ति**' का दर्शन नहीं था। यह उनकी शक्ति का द्योतक था लेकिन वर्चस्वादियों ने इस शक्ति को विखंडित किया और दलितों की सोच को बदलने के तमाम हथकंडों को प्रभावी रूप से फैलाने की कोशिश की।

दलित नैतिकताएं ईश्वरीय नहीं हैं। वे रोजमर्रा के जीवन की अच्छाइयों और बुराइयों पर आधारित जीवन की मानवीय संवेदनाएं और अनुभूतियां हैं। वे ज़्यादा लोकतांत्रिक और समाज-सापेक्ष हैं, जिन्हें समझना और जानना उस हर एक व्यक्ति के लिए ज़रूरी है, जो समय के साथ बदलना चाहता है और मानवीय मूल्य के प्रति

सजग है।

संदर्भ

1. स्त्री, दलित और अल्पसंख्यकों से इतनी दूर क्यों है वामपंथ? राजेन्द्र यादव, साक्षात्कार (मूलप्रश्न, सितम्बर-दिसम्बर, 2004)
2. 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' डॉ. भीमराव अम्बेडकर
3. Buffalo Natunlaim-A Critique of Spritual Fascism—Kanchla Ilaiah—Samya, Kolkata
4. भगवान बुद्ध और उनका धर्म डॉ. भीमराव अम्बेडकर
5. वही (भूमिका नम्र निवेदन-भदंत आनन्द कौसल्यायन)
6. वही डॉ. भीमराव अम्बेडकर
7. Why I am not a Hindu—Kancha Ilaiah—Samya, Kolkata

आदमी की दिशाबोध का हथियार है दर्शन

रमाशंकर आर्य

साधारणतः दर्शन को हमारी व्यावहारिकता से काटकर देखने और समझने का प्रयास किया जाता है लेकिन दर्शन कोई अव्यावहारिक विषय नहीं है। कुछ लोगों के मन में दर्शन के प्रति एक अलग तरह की धारणा बैठी हुई है। ऐसे लोग दर्शन को एक अमूर्त विषय या रहस्यमय विषय के रूप में समझने की भूल करते हैं। अधिक गंभीर दिखने वाले, बेतरतीब पहनावे या किसी तरह के ख्वाबों में डूबे रहने वाले आदमी को देखकर बहुत सारे लोग उसे दार्शनिक होने का भ्रम पालने लगते हैं पर ऐसे आडंबरी लोगों का दर्शन से कुछ लेना-देना नहीं होता। वस्तुतः दर्शन न तो कोई रहस्यात्मक विषय है और न अजीबो-गरीब दिखने वाला आदमी कोई दार्शनिक।

दर्शन मानव ज्ञान की विविध शाखाओं में से ज्ञान की एक शाखा है। जीवन और जगत की व्यावहारिक एवं जागतिक समस्याओं को सुलझाने के क्रम में ही यह विषय अपना अस्तित्व ग्रहण करता है। इस विषय को उसकी संपूर्णता में समझने तथा इसके विषय-वस्तु को स्पष्ट तरीके से जानने के लिए हमें मानव विचारों के क्रमिक विकास के इतिहास पर सम्यक् दृष्टिपात करना होगा, तभी हम इसके उद्गम विकास तथा इसकी धारणाओं को समझ सकते हैं।

दर्शन के उद्गम-स्रोत तथा इसके आकार ग्रहण करने की कहानी मनुष्य के **जंगल-युग** से शुरू होती है। मनुष्य अपने जंगली जीवन की बर्बरता से होते हुए इस धरती पर पशुपालन तथा खेती तक की लम्बी यात्रा को तय करते हुए पहुंचा है। उस असभ्य और **बर्बर-युग** में इस जीवन और जगत को समझने का जो उसका नज़रिया रहा होगा, वह निश्चित ही **वस्तुवादी** नज़रिया होगा। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि आस-पास की दुनिया को प्रारंभिक मनुष्य ने जिस रूप में देखा होगा, उसे उसी रूप में समझने का भी प्रयास किया होगा। **मनुष्य के इस दृष्टिकोण को आदिम भौतिकवादी दृष्टिकोण के नाम से जाना जाता है।** वेद के प्रारंभिक मंत्रों तथा प्राचीन यूनानी दर्शन के अंदर इस दृष्टिकोण की स्पष्ट झलक हमें देखने को मिलती है। यद्यपि मनुष्य अपने प्रयास से या स्वतः स्फूर्त तरीके से जीवन और जगत में घटने

वाली घटनाओं के कई रहस्यों को उस समय तक जान जरूर गया था लेकिन उसे अभी भी बहुत कुछ जानना शेष रह गया था।

प्रकृति और उसकी घटनाओं के साथ-साथ आदिम मनुष्य ने अपनी शारीरिक संरचना और दिमागी ताकत को शुरू-शुरू में समझने की जरूर कोशिश की होगी, मगर उसकी बौद्धिक क्षमता उतनी अधिक विकसित नहीं हो पायी थी जिससे कि वह अपने शारीरिक और मानसिक क्षमता को समझ सके। इसीलिए निद्रा की अवस्था में दिखने वाले स्वप्नों की व्याख्या वह उस समय नहीं कर पाया। फलतः उसने शरीर में निवास करने वाली एक **अदृश्य शक्ति** की कल्पना कर डाली और उसी अदृश्य शक्ति का नाम उसने बाद में चलकर **'आत्मा'** दे दिया। प्रायः सभी उपनिषदों में उस बेचैन करने वाली **'आत्मा'** नामक शक्ति की विषय चर्चा देखने को मिलती है। शरीर की इस अदृश्य शक्ति के प्रति मन में उठने वाली जिज्ञासा को शांत करने के लिए **उपनिषदिक-युग** के गुरु-शिष्यों के बीच जो लम्बे संवाद आए हैं, उन संवादों से यह पता चलता है कि आदिम मनुष्य उस अदृश्य शक्ति को जानने के लिए कितना आतुर था। कई कारणों से वह **'आत्मा'** को शरीर से अलग रहने वाली अमर और अविनाशी शक्ति मान बैठा। इस तरह आत्मा के **अमरत्व** की धारणा समाज के बीच प्रचलित हुई।

मृत्यु उपरांत आत्मा की अमरता स्वीकार कर लेने के बाद, इस आत्मा के बारे में सामान्य लोगों की अज्ञानता मनुष्य को अमरत्व की धारणा की ओर खींच ले गयी। इसी प्रकार नदी, पहाड़, जंगल, चांद आदि प्राकृतिक शक्तियों में मानवीकरण के जरिए वेदों में वर्णित असंख्य देवी देवताओं का जन्म हुआ। उन देवी देवताओं को खुश करने के लिए पूजा-पाठ, यज्ञ और हवन जादू-मंत्र तथा बलि आदि का प्रचलन मानव समाज के अंदर आ गया। इन्हीं सब प्रचलनों द्वारा समाज में **धर्म** का जन्म हुआ और बाद में धर्म ने इन मानवीय **कर्म-काण्डों** को स्थायित्व प्रदान कर दिया। वेदों में वर्णित **बहुदेववाद** की शुरुआत इन्हीं से होती है। कालांतर में मनुष्य के मानसिक विकास के साथ-साथ इस बहुदेववादी परंपरा के बीच से सिर्फ एक देवता का विचार उत्पन्न हुआ। यही विचार **एकेश्वरवाद** को जन्म देता है और बाद में चलकर अमूर्त और निराकार **ब्रह्म** का स्वरूप धारण कर लेता है।

दर्शन के क्षेत्र में आत्मा और ईश्वर की अमूर्त आवधारणाओं ने एक-दूसरी तरह की विचारधारा को भी जन्म दिया, जो आगे चलकर **आदिम भौतिकवाद** की जगह पर स्थापित हो गई। भौतिकवाद की जगह इस **अभौतिक** या **भाववादी** अवधारणा ने जीवन और जगत के संबंध में उठने वाले सवालों की व्याख्या अपने तरीके से करने का प्रयास किया जिसका कोई ठोस आधार नहीं होता। इस प्रकार मानसिक और काल्पनिक उड़ान के बल पर **अमूर्त आत्मा** और **ईश्वर** को सबका आधार मानते हुए जीवन और जगत की सभी घटनाओं की व्याख्या करने की कोशिश की गई।

आदिम मनुष्य की यह **भाववादी** अवधारणा वस्तु-संगत नहीं थी। मनुष्य ने

अपने जीवन की कई समस्याओं की व्याख्या करने तथा उसे हल करने के क्रम में ही इसे गढ़ा था। इस प्रकार कई अवैज्ञानिक और अतार्किक क्रियाकलापों को संचालित करने के बावजूद उसने प्रकृति पर नियंत्रण करने और उसे बदलने के अपने प्रयास जारी रखे। एक ओर वह शारीरिक व्याधियों को दूर करने के लिए टोने-टोटके, झाड़-फूंक तथा भूत-प्रेतों की पूजा करता रहा, प्रेतात्मा और ईश्वर से आशीर्वाद मांगता रहा तो दूसरी ओर वह उन व्याधियों से मुक्ति के लिए जड़ी-बूटियों सहित कई तरह की औषधियों का अनुसंधान और उसका प्रयोग भी करता रहा। एक तरफ वह पानी बरसाने के लिए यज्ञ, हवन और इन्द्र की पूजा का आयोजन करता था तो दूसरी तरफ सुख से बचने के लिए नहर, आहर, पोखर और जलाशय आदि के निर्माण करने के प्रयास कर रहा था।

इस प्रकार आदिम मानव की मानसिक उड़ान जहां एक तरफ उसे आत्मा और ईश्वर जैसी अमूर्त अवधारणाओं की ओर ले जाती है तो दूसरी तरफ प्रकृति के साथ भी संबंध बनाये रखने के लिए उसे बाध्य करती है। **मनुष्य की मानसिक उड़ान के इसी द्वन्द्व ने चेतना और प्रकृति के संबंध का प्रश्न उसके सामने खड़ा कर दिया।** कहना न होगा कि बाद में चलकर यही प्रश्न दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सवाल बनकर सामने आया। विचारकों और चिंतकों को दर्शन के इन्हीं दोनों बुनियादी सवालों ने अंततः दो खेमों में बांट दिया। जिन विचारकों ने **चेतना** को प्रकृति के मुकाबले में प्राथमिकता दी, उन्हें **भाववादी** खेमे के नाम से जाना गया तथा जिन लोगों ने चेतना की अपेक्षा भौतिक जीवन अर्थात् प्रकृति की प्राथमिकता स्वीकार की, उन्हें **भौतिकवादी** खेमे का समर्थक माना गया। **इन दोनों खेमों के अंतर्विरोध और उनके बीच लगातार चलने वाले वैचारिक संघर्षों के कारण ही दर्शन का विकास हुआ।**

दर्शन के इतिहास में इसी भाववादी और भौतिकवादी धारा को **वैदिक** और **अवैदिक** धारा के रूप में भी जाना जाता है। दार्शनिक शब्दावली में इसे **आस्तिक** और **नास्तिक** संप्रदाय के रूप में वर्णित किया गया है। भारतीय संस्कृति और साहित्य में इसे ही **ब्राह्मण** और **श्रमण** संस्कृति के रूप में जाना जाता है। भाववाद, वैदिक संस्कृति, आस्तिक संप्रदाय या ब्रह्मण संस्कृति जैसे शब्द लगभग एक ही खेमे के लिए आये हैं। यह खेमा अध्यात्मवाद के समर्थकों का रहा है।

ठीक इसके विपरीत संप्रदाय, अवैदिक संस्कृति या श्रमण संस्कृति जैसी चिंतन धारा रही है जो हमें भौतिकवाद की ओर ले जाती है। **यह धारा इस जीवन और जगत को सच मानकर इसे बदलने की वकालत करती है,** दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि देश के दलितों की धारा भी यही रही है। आम जनता की या श्रम करने वाले समुदाय की दार्शनिक धारा भी यही रही है। इसके समर्थकों में **लोकायतों, बौद्धों तथा जैनियों** का नाम लिया जा सकता है। ये तीनों दार्शनिक

संप्रदाय सांसारिक जीवन के अस्तित्व को सही स्वीकार करते हुए इसी जीवन को सब कुछ मानते रहे हैं। इस जीवन को बदलने तथा इसको बेहतर बनाने की बात इन्हीं लोगों ने की है। वस्तुतः इनके दर्शन का केंद्र मनुष्य ही रहा है लेकिन ठीक इसके विपरीत भाववादी संस्कृति के समर्थक अमूर्त अवधारणाओं की ओर लोगों का ध्यान खींचने की कोशिश करते हैं। वे आम लोगों में ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, कर्मफल और मोक्ष जैसी अमूर्त अवधारणाओं के प्रति आस्था जगाने की कोशिश करते हैं। कई कारणों से समाज के अंदर इनकी सत्ता स्थापित भी हो जाती है, इसलिए अपनी सत्ता को बरकरार रखने के लिए भी ये यथास्थितिवाद बनाए रखने की भरपूर कोशिश करते हैं। इन्हें समाज में किसी तरह का परिवर्तन पसंद नहीं। चूंकि उस समय तक समाज में वार्षिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और उसका सीधा लाभ अमूर्तवादियों, वेदवादियों या ब्राह्मण संस्कृति के लोगों को मिलने लगा था, इसलिए वे समाज में किसी तरह का परिवर्तन नहीं चाहते थे। समाज में अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए ही इन लोगों ने ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म तथा कर्मफल जैसी अमूर्त अवधारणाओं को जन्म दिया था। इन अवधारणाओं के नाम पर ही समाज की विषमता गैर बराबरी, ऊंच-नीच की बातों को इन लोगों ने जायज ठहराने की कोशिश की तथा शोषण के हथियार के रूप में इनका प्रयोग भी किया है। अमीरी-गरीबी, ऊंच-नीच, बड़ा-छोटा, राजा-रंक, अवर्ण-सवर्ण, सबको पूर्व जन्म का फल बताया तथा अमूर्त ईश्वर को कर्मफल का दाता बताया।

दर्शन की उपरोक्त दोनों धाराओं का यह संघर्ष अति प्राचीन है। चार्वाकियों के साथ-साथ जैनियों तथा बौद्धों ने भी इस वैदिक या ब्रह्मणी धारा की तीव्र आलोचना की है तथा इसे जन-विरोधी करार दिया है। बुद्ध ने तो इस वैदिक या ब्रह्मणी संस्कृति को कदम-कदम पर चुनौती दी तथा इसे मानव-विरोधी धारा बताया। उन्होंने इनकी इन अमूर्त अवधारणाओं को खारिज करते हुए जागतिक जीवन में प्रेम, दया, करुणा, भाई-चारा, समानता जैसे मानवीय मूल्यों की स्थापना करने का प्रयास किया है। बुद्ध ने ईश्वर की अवधारणा को काल्पनिक बताया तथा मनुष्य को तर्क और बुद्धि की रोशनी में सोचने-विचारने की शिक्षा दी।

उपरोक्त तथ्यों के संदर्भ में यहां एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कई कारणों से भारतीय दर्शन के इतिहास को समझने में बहुत बड़ी बाधा भी खड़ी होती रही है यथा दर्शन की लिखित सामग्रियों के अभाव के साथ-साथ पूरी सामग्री कंठस्थ कर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित की जाती रही है। ऐसी स्थिति में दार्शनिक तथ्यों में जोड़-घटाव होना स्वाभाविक है। इन तमाम दार्शनिक तथ्यों को बहुत बाद में लिपिबद्ध किया गया, जिससे और भी अधिक भ्रम पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में दार्शनिक तथ्यों की मौलिकता और उसकी ऐतिहासिकता में जो भ्रम पैदा हुए, वे दर्शन के बीच लंबे समय तक बरकरार रहे हैं। आधुनिक पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने इस

दिशा में कुछ मूल्यवान काम जरूर किए मगर आज भी भारतीय दर्शन की तार्किक, बौद्धिक एवं वैज्ञानिक समीक्षा बाकी है। पुनः आस्तिक संप्रदाय या वेदवादी लोगों ने श्रमण-संस्कृति या भौतिकवादी धारा के साहित्य को नष्ट करने का भी घृणित प्रयास किया। लोकायत जो उनके लिए चुनौती बनकर सामने आए, उनके पूरे साहित्य को नष्ट करने का काम किया गया। इस तरह ब्राह्मण-संस्कृति श्रमण संस्कृति पर हावी होने तथा उसके अस्तित्व समाप्त कर देने तक का प्रयास करती रही है। मगर श्रमण-संस्कृति जन-संस्कृति होने के कारण अक्षुण्ण और जिंदा रह गई और आज भी है।

दर्शन के विकास तथा उसके इतिहास को संक्षिप्त में जान लेने के बाद यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि (1) आज के संदर्भ में दर्शन क्या है, (2) इसकी विषय वस्तु क्या है तथा (3) इसकी प्रासंगिकता क्या है?

वस्तुतः दर्शन मानवीय ज्ञान की एक शाखा है। यह जीवन और जगत को समझने की एक दृष्टि है। इसे कई तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है लेकिन संपूर्णता में दर्शन की परिभाषा यही कहकर दी जा सकती है कि जीवन और जगत् के साथ मनुष्य के रिश्ते को प्रकाश में लाते हुए दर्शन ऐसे मामलों की व्याख्या करता जो मनुष्य के लिए जीवंत महत्व के होते हैं। कुछ चिंतकों के अनुसार दर्शन एक विश्व-दृष्टिकोण है तथा दुनिया को समझने तथा उसे रूपांतरित करने की संभावनाओं का विश्लेषण है। आधुनिक अकादमिक चिंतकों के अनुसार दर्शन का मुख्य काम नवीनतम वैज्ञानिक उपलब्धियों को समझने में मदद करना है। इन चिंतकों की राय है कि दार्शनिक को चाहिए कि वह केवल वैज्ञानिक ज्ञान को सरल बनाए, जटिल वैज्ञानिक संकल्पनाओं को ऐसे सरल शब्दों में पेश करें जो हर आदमी के लिए बोधगम्य हों। पर, दर्शन की यह समझ संकीर्ण मानी जाएगी। वस्तुतः दर्शन एक सोच है, विचार है, चिंतन है, जो हमें जीवन और समाज में घटने वाली घटनाओं को समझने की तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक ऊर्जा देता है। दर्शन की यह ऊर्जा हमें वामधारा की ओर ले जा सकती है तो दक्षिण धारा की ओर भी। अत्याधुनिक शब्दों में यह हमें साम्यवाद का समर्थक बना सकती है तो पूंजीवाद का भी। यहां कहना न होगा कि साम्यवाद गरीब का दर्शन है तो पूंजीवाद अमीर का दर्शन। इन दोनों दार्शनिक धाराओं की लड़ाई पुरानी है। दोनों के पास अपने अपने तर्क हैं, बौद्धिकता और विचारधाराएं भी हैं।

आज दर्शन की इन दोनों धाराओं का वैचारिक संघर्ष जारी है। विश्व स्तर पर दोनों ने अपनी पहचान बना ली है तथा दोनों धाराओं के बीच युद्ध चल रहा है। हमें तय करना है कि हम किसके पक्ष में खड़े हों। इसमें एक विचारधारा के पास तार्किकता, बौद्धिकता तथा वैज्ञानिकता है तो दूसरे के पास शब्दों का मोहक भ्रम जाल। एक आदमी में विश्वास करता है तो दूसरा आदमी से इतर जगत में। एक

का दर्शन परिवर्तनकामी है तो दूसरे का दर्शन यथास्थितिवादी। एक श्रम और सृजन के साथ-साथ मनुष्य की परिवर्तनवादी अपूर्व क्षमता में विश्वास करता है तो दूसरा भोग और भाग्यवाद में। एक के अंदर जगत और जीवन को बेहतर बनाने की अद्भुत क्षमता है तो दूसरे के पास उसको नष्ट करने की छद्म ताकत। एक समाज को दिशा देता है तो दूसरा समाज को दिग्भ्रमित करता है। एक जीवन के मानवीय मूल्यों और सिद्धांतों के अनुरूप जीने की सीख देता है तो दूसरा निर्बाध स्वच्छन्दता और सिद्धांतहीनता। एक के दर्शन में वैज्ञानिक विचारशीलता के साथ-साथ समाज के निचले पायदान पर खड़े आदमी के प्रति संवेदना और सहानुभूति है तो दूसरे के दर्शन में आदमी की कीमत 'निर्जीव वस्तु' की तरह है। एक श्रेष्ठ अल्पसंख्यक का समर्थक है तो दूसरा समानता और बहुजन का। श्रेष्ठता और समानता गरीब और दर्शन की इन दो विचारधाराओं के रूप में दोनों विकल्प हमारे सामने हैं निर्णय हमें लेना है। हम बहुजन हैं, इसलिए बहुजन-हिताय गरीबी और बहुजन दर्शन के साथ खड़े रहकर हम विश्व में मानवता के हितार्थ समता, भाईचारा और आजादी के दर्शन के प्रति प्रतिबद्ध रहें ताकि मनुष्य-मनुष्य क विभेद समाप्त हो सके।

भारतीय वैज्ञानिक-परंपरा पर ब्राह्मणवादी प्रतिच्छाया द्वारका भारती

विज्ञान की अधिकतर खोजें यूरोप में हुई हैं यह तथ्य लिखते समय अनायास ही भारत के बारे में भी जिज्ञासा होती है कि क्या भारत में भी कभी विज्ञान जैसी कोई परम्परा रही होगी? जैसे भारत के मिथकों में ऐसी बहुत सी कल्पनाओं का वर्णन मिलता है जिसके आधार पर आज के कथित राष्ट्रवादी भारत की प्राचीनता से खुद तो अभिभूत होते ही होंगे, अन्य देशवासियों की भावनाओं में भी यह भाव जगाने में कोई कोर-कसर नहीं रखते। महाभारत व रामायण जैसे प्राचीन ग्रंथों को संदर्भ के तौर पर इस्तेमाल करते हुए उनमें वर्णित **अस्त्र-शस्त्रों** और उड़न-खटोलों को भारत की प्राचीन वैज्ञानिक समृद्धि के तौर पर प्रस्तुत करते आए हैं। यह प्रभाव इतना असरदार है कि सरकार द्वारा भी आधुनिक अस्त्रों का नामकरण इन्हीं कल्पित नामों पर होता आया है। आधुनिक मिसाइलों के नाम **नाग**, **त्रिशूल** जैसे रखे जाते हैं। पाकिस्तान भी अपने आग्नेय अस्त्रों का नाम अपने ऐतिहासिक पात्रों पर आधारित रखता है, उसी प्रकार भारत की सरकार भी अपने अस्त्र-शस्त्रों का नाम अपने **मिथ्या-इतिहासिक** पात्रों पर रख कर उन पात्रों को ऐतिहासिकता की परिधि में रखने का प्रयास करती आई है। अपने देश में निर्मित विमान को पुष्पक विमान कहने में गर्व का एहसास होता है। विज्ञान के नाम पर इस प्रकार का साहित्य ही हमारे सामने आता है। इससे भी हास्यास्पद स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब यह कहा जाता है कि भारत के रहस्यमयी ग्रंथों से सूत्र चुरा कर विदेशी लोगों ने खूब वैचारिक प्रगति की और हमसे आगे निकल गये हैं। देश के ब्राह्मणवादी संगठन जिनमें वकौल राजेन्द्र यादव के वह अर्द्धशिक्षित व्यापारी लोग शामिल हैं, जो आज भी इन्हीं मान्यताओं पर आधारित भारत के विज्ञान का उल्लेख करते हुए इतराना नहीं भूलते।

बावजूद इन सबके ऐसा नहीं है कि कभी **ज्ञान-विज्ञान** की भारत में परंपरा न रही हो। **गणित** व **खगोल-विद्या** के क्षेत्र में भारत की बहुत सी उपलब्धियां रही हैं। लेकिन यह एक कड़वा सत्य है कि इन विज्ञान की तमाम अभिरुचियों पर ब्राह्मणवादी प्रतिच्छाया का प्रभुत्व जमा रहा है। एक तरफ विज्ञान की तर्कपूर्ण शैली

और दूसरी ओर ब्राह्मणवादी ग्रंथों की धूर्तता से लैस धार्मिक मान्यताएं, अभी भी विज्ञान पर इस प्रकार छाए हैं जैसे **कल्पित राहु सूर्य को अपने मुंह में छिपाए रखता है**। ऐसा कोई मौका नहीं आने दिया गया, जब विज्ञान खुल कर मैदान में आ सके। जब भी ऐसा प्रयत्न अर्थात् विज्ञान ग्रंथों की मान्यताओं के विरुद्ध खड़ा होने में प्रयासरत हो, तो ब्राह्मणवादी ग्रंथों की मान्यताएं भी सदा उसके साथ एक साथ की तरह चिपकी रही हैं। ब्राह्मणवादी रुढ़ियों को हानि न पहुंचे, इसका प्रयास सदा किया गया है। वैसे तो विश्व भर में विज्ञान के सम्मुख धार्मिक जड़ता की दीवार अटल खड़ी रही है लेकिन भारत की रुढ़िवादी मान्यताएं एक सशक्त रूप में अपना प्रभुत्व जमाए रही हैं और आज भी यह मान्यताएं विज्ञान के साथ-साथ चलती दिखाई पड़ती हैं। उदाहरण के तौर पर किसी विज्ञान-प्रदर्शनी या विज्ञान भवन का उद्घाटन या शिलान्यास करते हुए संस्कृति के नाम पर **‘गणेश पूजा या नारियल-पूजन’** आदि जैसी अवैज्ञानिक रुढ़ियां साथ-साथ चल रही हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया आज से नहीं, बल्कि पुरातन काल से दोहराई जा रही हैं। जब कभी ऐसा अवसर आया कि विज्ञान ने ब्राह्मणवादी मान्यताओं को चोट पहुंचाई, तो विज्ञान के साथ ब्राह्मणवादी मान्यताओं को भी चप्पा कर दिया गया। इसका उदाहरण हमें एक विदेशी वैज्ञानिक पर्यटक **अलबरूनी (973-1048)** के यात्रा वृत्तांत से भली भांति मिलता है। इस पर्यटक ने **(1017-1048)** में भारत की यात्रा की और अपनी यात्रा के दौरान भारतीय खगोल विद्या का पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया। अपने यात्रा वृत्तांत में उसने इन्हीं ब्राह्मणवादी रुढ़ियों, जो विज्ञान पर अपना प्रभुत्व बनाती हैं, का रोचक वर्णन किया है। उसने अपने इस अद्भुत विश्लेषण में यह सिद्ध किया है कि भारतीय खगोल शास्त्री किस प्रकार ग्रहण-संबंधी अपने विचारों का ब्राह्मणवादी-मिथकों से मेल बैठाने का प्रयत्न करते हैं। भारत के दो **खगोल-शास्त्री व गणितज्ञ वराहमिहिर (लगभग छठी शताब्दी ई. सन)** और **ब्रह्मगुप्त (लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी ई. सन्)** अच्छी तरह जानते थे कि चंद्र ग्रहण और सूर्यग्रहण के कारण क्या हैं। विज्ञान के प्रख्यात इतिहासकार **जार्ज सटिन ब्रह्मगुप्त** को भारतभूमि का एक महान वैज्ञानिक मानते हैं। इससे पहले हम **आर्यभट्ट** की चर्चा करना चाहते हैं। **आर्यभट्ट** के बारे में कहा जाता है कि वे ऐसे पहले भारतीय वैज्ञानिक थे, जिन्होंने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। लेकिन **ब्रह्मगुप्त** इस सिद्धांत का खंडन करते हैं। **आर्यभट्ट** ने कहा था कि चंद्र की छाया जब पृथ्वी पर पड़ती है तो सूर्यग्रहण होता है और पृथ्वी की छाया जब चन्द्र पर पड़ती है तो चंद्रग्रहण होता है। लेकिन हैरानी की बात तो यह है कि **ब्रह्मगुप्त** जो कि एक खगोलशास्त्री और गणितज्ञ भी थे, ने **आर्यभट्ट** की इस वैज्ञानिक धारणा का खंडन किया और ब्राह्मणवादी धारणा जिसमें **राहु-केतु** राक्षस ही इन ग्रहणों के जिम्मेवार हैं को सही ठहराया (**संसार के महान गणितज्ञ, गुणाकर मूले पृष्ठ 59**)

यात्री अलबरूनी भी स्पष्ट करते हैं

“हिन्दू खगोलशास्त्री इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि चंद्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ने से चन्द्रग्रहण और सूर्य पर चन्द्रमा की छाया पड़ने से सूर्यग्रहण लगता है। उन्होंने अपने परिकल्पनों को ज्योतिष-ग्रंथों तथा अन्य कृतियों में लिपिबद्ध किया है।” (अलबरूनी, सचौ, (2) 107)

अलबरूनी ने बराहमिहिर की पुस्तक बृहत् संहिता से कई अनुच्छेदों को उद्धृत कर इस तथ्य को प्रमाणित किया है। इन तथ्यों में बराहमिहिर पहले तो ब्राह्मणवादी परम्परा द्वारा स्वीकृत मिथक का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार राहु द्वारा सूर्य को ग्रस लिए जाने से ग्रहण लगता है। आज भी यह धारणा बनी हुई है कि राहु जब सूर्य को ग्रस लेता है तो सारी पृथ्वी पर अंधेरा छा जाता है। ऐसा भी नहीं है कि ऐसी धारणाएं (मिथ्या) भारत में ही पनपी हों, विदेशों में भी इस प्रकार की लोककथाओं का जिक्र मिलता है लेकिन आज के युग में उन मिथ्या धारणाओं या लोककथाओं को लोग भूल चुके हैं या उन्हें मिथक के रूप में ही लेते हैं, वैज्ञानिक नहीं मानते। लेकिन भारत में ऐसी धारणाओं को खत्म नहीं किया गया है। आज भी ज्योतिष अंधविश्वास की खान बने रहकर भारतवासियों को मुंह चिढ़ा रहा है। बाद में राहु द्वारा सूर्य को ग्रसने की थ्योरी को झुठलाते हुए बराहमिहिर बताते हैं कि यह मिथक झूठा है और ग्रहण का यथार्थ वैज्ञानिक कारण है कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ने से चन्द्रग्रहण और सूर्य पर चंद्रमा की छाया पड़ने से सूर्यग्रहण लगता है।

अपनी पुस्तक बृहत्संहिता में बराहमिहिर की मान्यता इस पर उल्लिखित की गई है

“(5) 1 : कुछ विद्वानों की मान्यता है कि राहु एक दैत्य था और उसकी माता का नाम सिंहिका था। देवताओं ने विष्णु से अनुरोध किया कि समुद्र से निकला अमृत वह उन लोगों के बीच वितरित कर दें। विष्णु जब देवताओं को अमृत बांट रहे थे तब राहु भी देवता के वेश में उन लोगों के बीच आ बैठा। विष्णु ने उसे थोड़ा सा अमृत दिया, जो उसने अपने मुख में डाल लिया। लेकिन तभी विष्णु को पता लगा कि वह कौन है और उन्होंने अपने चक्र से उसका सिर उड़ा दिया। फिर भी राहु के मुंह में अमृत था, अतः उसका सिर जीवित रहा और अमृत का प्रभाव शरीर में न फैल सकने के कारण उसका धड़ निर्जीव होकर गिर पड़ा। जब राहु दीनभाव से बोला ‘मेरा क्या अपराध था कि मुझे इस स्थिति में पहुंचा दिया?’ उसे संतुष्ट करने के लिए उसे आकाश में स्थान दे दिया गया और वहां का निवासी बना दिया गया।”

“(5) 2 : कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि राहु के भी सूर्य और चंद्रमा जैसा शरीर है, लेकिन वह बहुत काला है, इसलिए आकाश में दिखाई नहीं

पड़ता...।”

आगे चलकर **अलवरुनी** टिप्पणी करते हैं “इन बेतुकी बातों का वर्णन कर चुकने के बाद **वराहमिहिर** कहते हैं

“(5) 4 : राहु का यदि अपना शरीर होता तो वह तत्काल सक्रिय हो उठता, लेकिन हम देखते हैं कि वह दूर से ही ग्रसता है उसके और चंद्रमा के बीच छह राशियों का अंतर होता है। इसके अतिरिक्त उसकी गति न तो घटती है और न ही बढ़ती है। इसलिए हम यह नहीं सोच सकते कि उसके शरीर के चंद्रमा के निकट पहुंच जाने के कारण चंद्रग्रहण होता है।...”

“(5) 8 : दैव-अनुग्रह-सम्पन्न विद्वानों ने जैसा कहा है कि पृथ्वी के छाया-भाग में चंद्रमा के प्रवेश से चन्द्रग्रहण लगता है। इसलिए चंद्र ग्रहण कभी पश्चिम की ओर से नहीं होगा और न सूर्यग्रहण पूर्व की ओर से।”

“(5) 9 : वृक्ष की छाया की भांति पृथ्वी की छाया दूर तक फैलती है।”

“(5) 10 : चंद्रमा जब सूर्य से दूर सातवीं राशि में रहते हुए बहुत ही सामान्य अक्षांश पर आ जाता है और वह बहुत उत्तर अथवा बहुत दक्षिण में स्थित नहीं रहता, तो पृथ्वी के छाया-प्रदेश में प्रवेश कर जाता है, जिससे चंद्रग्रहण लगता है। इसका प्रथम प्रभाग पूर्व की ओर से शुरू होता है।”

“(5) 11 : चंद्रमा जब पश्चिम से सूर्य के निकट पहुंचता है, तो वह सूर्य को ढक देता है, मानो किसी मेघखंड ने उसे ढक लिया हो। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से यह ढका हुआ अंश भिन्न-भिन्न दिखाई देता है।

“(5) 12 : चंद्रमा को जो ढकता है, वह चंद्रमा से बड़ा है, इसलिए चंद्रमा का आधा भाग जब ग्रहण-ग्रस्त हो जाता है, तो चंद्रमा का प्रकाश मलिन पड़ जाता है, लेकिन सूर्य को जो ढकता है, वह सूर्य से बड़ा नहीं, इसलिए ग्रहण के बावजूद सूर्य की किरणों की प्रखरता विद्यमान रहती है।”

“(5) 13 : चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण से राहु का कोई संबंध नहीं। इस विषय पर विद्वानों का अपने-अपने ग्रंथों में मतैक्य है।”

अलवरुनी इस पर अपनी टिप्पणी जाहिर करते हैं, अपनी समझ के अनुसार दोनों ग्रहणों का वर्णन करने के बाद यह दुखड़ा रोते हैं कि लोग इनके कारणों से अनभिज्ञ हैं और कहते हैं “राहु नहीं होता और वह सूर्य अथवा चंद्रमा को नहीं ग्रसता तो ब्राह्मण स्नान नहीं करते।”

वराहमिहिर इसका उत्तर देते हैं

“(5) 14 : इसका कारण यह है कि सिर कट जाने पर राहु का अहंकार नष्ट हो गया और ग्रहण काल में ब्राह्मण जो हवन करते हैं, उसका एक अंश ब्रह्मा राहु को भी देते हैं।”

“(5) 15 : अतएव वह ग्रहण-स्थल के निकट रहकर अपना भाग प्राप्त करना

चाहता है। इसलिए उस अवस्था में लोग बहुधा उसकी चर्चा करते और उसे ही ग्रहण का कारण समझते हैं, हालांकि इन बातों से उसका कोई संबंध नहीं, कारण कि ग्रहण पूर्वतः चंद्रमा की कक्षा की एकरूपता और अपक्रम पर निर्भर करता है।”

उपरोक्त संदर्भ में वराहमिहिर की दोहरी मानसिकता प्रकट होती है। एक तरफ तो वह राहु को चंद्रग्रहण का कारक नहीं मानते लेकिन दूसरी ओर राहु की चर्चा करते हुए अंधविश्वास से भी अपनी नज़रें नहीं हटाते। अपनी पुस्तक ‘व्हाट इज द लाइव एंड डेड इन इंडियन फिलासफी’ (*What is the live and dead in Indian Philosophy*) में मार्क्सवादी लेखक देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय वराहमिहिर की इस मानसिकता पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं

“यह स्पष्ट हो जाने पर कि वराहमिहिर राहु को ग्रहण का कारण नहीं मानते उनका यह वक्तव्य बहुत विलक्षण लगता है। जाहिर है, इस बात को अच्छी तरह जानते हुए कि ग्रहण से राहु का वस्तुतः कुछ लेना-देना नहीं, वह यह भी जानते हैं कि वैज्ञानिकों पर ब्राह्मणवादी परम्परा का जबर्दस्त दबाव है और ब्राह्मणवादी कर्मकांडों का प्रामाणिकता के प्रति संदेह उठाना बहुत दुस्साहसिक सिद्ध हो सकता है। इसलिए येन-केन प्रकारेण उन्हें कर्म-कांडों का औचित्य सिद्ध करना अथवा उसके लिए तर्काधार ढूँढ निकालना पड़ता है।” आगे चलकर देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय इस संबंध में अलवरूनी की टिप्पणी को उद्धृत करते हैं

“वराहमिहिर ने पूर्व उद्धृत अनुच्छेदों में जो कहा है, उससे प्रकट है कि उन्हें जगत् के स्वरूप का सही ज्ञान था, लेकिन बाद में उन्होंने जो कहा वह विचित्र और आश्चर्यजनक है। जो भी हो, लगता है कि वह यदाकदा ब्राह्मणों का पक्ष लेने लगते हैं क्योंकि वह उन्हीं के बीच से आए हैं और अपने को उनसे अलग नहीं कर सकते। फिर भी उसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि समग्र रूप से देखें तो सत्य के धरातल पर उनके पैर मजबूती से टिके हैं और उन्होंने सत्य का स्पष्टतया उद्घाटन किया है...।”

इसके साथ ही वे (अलवरूनी) अपनी टिप्पणी को और आगे बढ़ाते हैं। ब्रह्मगुप्त का उदाहरण देते हुए वे उस पर आए ब्राह्मणों के स्पष्ट दबाव की चर्चा करते हैं जिससे यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण अपने धर्मग्रंथों में व्यक्त अंधी व अवैज्ञानिक धारणाओं को बचाने में किस हद तक जा सकते हैं। अलवरूनी की यह टिप्पणी इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं

“खुदा का कितना रहम होता अगर सभी लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों ने उन्हीं की मिसाल का अनुसरण किया होता। लेकिन ब्रह्मगुप्त का उदाहरण देखिए, जो सचमुच एक लब्ध-प्रतिष्ठ खगोलवेत्ता थे। एक ब्राह्मण के रूप में पुराणों में उन्होंने पढ़ा था कि सूर्य चंद्रमा के नीचे है, इसलिए उन्हें राहु की आवश्यकता पड़ जाती है, जो सूर्य को अपना ग्रास बनाकर उसे ग्रहण करे। इस पौराणिक वर्णन के आधार पर वह सत्य

को दरकिनार कर देते हैं और बनावटी बात का समर्थन करते हैं। यदि वह घृणावश ऐसा काम नहीं करते और हम समझते हैं कि ऐसा नहीं करना उनके लिए असंभव था और पौराणिक मान्यताओं का उपहास करते अथवा उन मान्यताओं के विरुद्ध बिल्कुल बेलौस ढंग से अपने विचार व्यक्त करते, तो उन्हें अपने जीवन से हाथ धो बैठने के लिए तैयार रहना पड़ता।”

अपने इन विचारों को और समझाने हेतु अलबरूनी ब्रह्मगुप्त के सिद्धांत जिसका नाम ‘ब्रह्मसिद्धांत’ है, को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस पुस्तक (ब्रह्मसिद्धांत) के प्रथम अध्याय में व्यक्त उनके (ब्रह्मगुप्त) के विचारों को उद्धृत करते हैं

“कुछ लोग मानते हैं कि ग्रहण का कारण राहु नहीं है। लेकिन यह मूर्खतापूर्ण विचार है, क्योंकि वही ग्रहण करता है और आम तौर पर लोग कहते हैं कि राहु ही ग्रसता है। वेद जो कि ब्रह्मा के मुख से निकली ‘ईश्वरीय वाणी’ है, बताते हैं कि राहु ग्रसता है। मनु द्वारा प्रणीत स्मृति और ब्राह्मण-पुत्र गर्ग द्वारा रचित संहिता ने भी इस बात का समर्थन किया है। इसके विपरीत, वराहमिहिर, श्रीषेण, आर्यभट्ट और विष्णुचंद्र का मत है कि ग्रहण का कारण राहु नहीं है बल्कि चंद्रमा और पृथ्वी की छाया इसका कारण है। यह बात सबकी (जनसाधारण की) मान्यता के बिल्कुल विपरीत है और यह सद्यः निरूपित सनातन विचार के प्रति वैमनस्य से जनित है क्योंकि यदि राहु को ग्रहण का कारण नहीं माना जाता तो ग्रहण-काल में ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित रीति-रिवाज, जैसे अपने शरीर पर गरम तेल का लेपन और पूजा-पाठ से संबंधित अन्य कार्य, भ्रामक मान लिए जाएंगे और उनको दिव्य-सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इन बातों को भ्रामक समझने वाला व्यक्ति जनसाधारण द्वारा स्वीकृत धर्मसिद्धांत का पोषक नहीं माना जायेगा और, ऐसा करने की किसी को छूट नहीं। मनु ने स्मृति में कहा है “राहु द्वारा सूर्य अथवा चंद्रमा के ग्रसे जाने के बाद पृथ्वी का संपूर्ण जल गंगाजल की भांति पवित्र रहता है।” वेदोक्ति है कि “राहु दैत्यों की पुत्री सैनका (सिंहिका) का पुत्र था।” अतः लोग प्रचलित पूजा-पाठ करते हैं। इसलिए उक्त लेखकों को आम मान्यता का विरोध नहीं करना चाहिए, क्योंकि वेद, स्मृति और संहिता की सभी बातें सच हैं।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रसिद्ध खगोल शास्त्री जो अच्छी तरह जानता था कि चंद्र ग्रहण के वैज्ञानिक कारण हैं, ब्राह्मणों से इतना डरा हुआ था कि वह चाह कर भी वेदों स्मृतियों को झुठला नहीं पाया। ब्राह्मण की कही बातों को झुठलाने का उसमें जीवट नहीं था, इसी कारण वह ब्राह्मणवादी पौराणिक धारणाओं को भी पुष्ट करने जैसा कार्य करता रहा। ब्राह्मणों की मान्यताओं से त्रस्त वराहमिहिर-आर्यभट्ट तक तो झूठा सिद्ध करने की भूमिका निभाने को विवश था। ब्राह्मणों के समक्ष विज्ञान पस्त था और धर्म-ग्रंथ विजेता।

वैज्ञानिक पर्यटक **अलबरूनी** एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखता था, इसलिए वह **ब्रह्मगुप्त** जैसे प्रखर वैज्ञानिक के क्रियाकलापों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखता है। **ब्रह्मगुप्त** को लेकर वह अपनी टिप्पणी आगे बढ़ाते हैं, जिससे उस काल की ब्राह्मणवादी रूचियों का भी पर्दाफाश होना स्वाभाविक है। अपनी अगली टिप्पणी में वे स्पष्ट करते हैं

“इस मामले में **ब्रह्मगुप्त** यदि उन लोगों में से है, जिनके बारे में ईश्वर का कहना है कि यद्यपि उनके हृदय में किसी प्रकार की आशंका नहीं है तथापि उन्होंने द्वेषवश अथवा अहंश हमारे संकेतों को टुकरा दिया है, तो हम कोई तर्क-वितर्क नहीं करेंगे, लेकिन उनके कान में धीरे से कहेंगे यदि लोग परिस्थितिवश धर्मसंहिताओं का विरोध करना छोड़ देते हैं (जैसा कि आपके मामले में देखा जाता है) तो आप खुद अपने बारे में वह बात भूल जाते हैं? क्यों आप ऐसे विचार व्यक्त करने के बाद सूर्यग्रहण के बाद चंद्रमा को जिम्मेदार मानते हुए चंद्रमा के व्यास का हिसाब और चंद्रग्रहण के लिए पृथ्वी को जिम्मेदार मानते हुए, पृथ्वी की छाया के व्यास का हिसाब लगाने लगते हैं? आप जिन विचारों को उचित समझते हैं, उन्हें छोड़ कर क्यों आप धर्म-विरोधी सिद्धांत के प्रति सहमति-प्रकट करते हुए दोनों ग्रहणों को परिकलित करने लगते हैं? यदि ग्रहण के समय पूजा-पाठ करने अथवा कोई और कार्य संपादित करने के लिए ब्राह्मणों से कहा जाता है, तो ग्रहण से इन बातों की एक तिथि का ही बोध होता है और इसे इन बातों का कारण नहीं माना जा सकता।

जहां तक मेरी बात है, मैं तो समझता हूँ कि जिस आधार पर **ब्रह्मगुप्त** ने उपर्युक्त बातें कहीं (जो स्वयं उनकी अपनी आत्मा के खिलाफ पाप था) वह आधार एक दुःखद स्थिति का द्योतक था “जिसका शिकार सुकरात को भी होना पड़ा था और जिसने उनके अपने प्रचुर ज्ञान, तीक्ष्ण मेधा शक्ति और युवकोचित ओज के बावजूद उन्हें अभिभूत कर लिया था क्योंकि उन्होंने तीस वर्ष की आयु में ही **ब्रह्मसिद्धांत** का प्रणयन किया था। सचमुच यह यदि उनका मात्र एक बहाना था, तो हम इसे स्वीकार करते हैं और इस विषय को यहीं छोड़ देते हैं।”

यहां यह बताना स्पष्ट होगा कि **ब्रह्मगुप्त** का जन्म 598 ई. में हुआ था और तीस वर्ष की आयु (628 ई.) में उन्होंने **ब्रह्मस्फुट-सिद्धांत** की रचना की थी। वे एक महान वेधकर्ता भी थे। इस महान वैज्ञानिक के प्रति **अलबरूनी** की यह टिप्पणी बहुत मार्मिक है, जो हमें यह बताती है कि किस प्रकार उन्होंने **ब्राह्मणी तंत्र** की दहशत में अपना वैज्ञानिक कार्य किया होगा।

इसी प्रकार **आर्यभट्ट** के प्रति एक टिप्पणी हमारी आंखें खोलने के लिए काफी होगी। उनके बारे में कट्टर वेदांती **अप्पय दीक्षित** (1530-1600) की टिप्पणी जो उनके धरती के घूमने के सिद्धांत को हेय बनाने की पूरी कोशिश करती है, यह है कि **आर्यभट्टाद्यमिमत् भूभ्रमणदिवानां श्रुतिन्याय विरोधन हेयवृत्त्** अर्थात् **आर्यभट्ट** द्वारा प्रतिपादित **भूभ्रमण** का वाद श्रुति और न्याय के विरुद्ध होने के कारण हेय

है। (संसार के महान गणितज्ञ : गुणाकर मूले)

इसी प्रकार की आर्यभट्ट के बारे में एक और टिप्पणी हमें चौंकाती है “जब भारत में अप्पय दीक्षित जैसे दुराग्रही वेदांती आर्यभट्ट के भूभ्रमणवाद का विरोध कर रहे थे, तब यूरोप में कोपर्निकस के सूर्य केन्द्रवाद की स्थापना हो चुकी थी...।”

गुणाकर मूले की टिप्पणी इस संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है “परंपरावादियों (ब्राह्मणवादियों) ने आर्यभट्ट के मतों का भले ही विरोध किया हो, मगर उनका महान कृतित्व विद्वत्जगत् में सदैव आदृत रहा।”

इस संदर्भ में प्रसिद्ध मार्क्सवादी विद्वान देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के विचार बहुत सटीक जान पड़ते हैं। वे कहते हैं “भारत के महान खगोलशास्त्री ब्रह्मगुप्त को ग्रहण के वैज्ञानिक कारणों का भरपूर बोध होने के बावजूद, उन्हें अपने अनूठे ओतिष-ग्रंथ के प्रथम अध्याय में ही यदि वेद और मनुस्मृति के प्रति अगाध निष्ठा व्यक्त करनी पड़ी बल्कि धर्म-ग्रंथों की अवज्ञा करके ग्रहण की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाली बातों की घोर निंदा तक करनी पड़ी तो कणाद और गौतम की स्थिति तो और भी चिंताजनक है। ऐसे में ब्राह्मणवादी परम्परा और उस परम्परा के प्रवक्ताओं, अर्थात् धर्मशास्त्र प्रणेताओं की प्रताड़ना से बचने के लिए वेद के प्रति प्रकटतः भक्तिभाव दिखाने के सिवा उनके सामने चारा ही क्या था?” (भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पृ. 254)

भारत में विज्ञान की प्रगति-यूरोप के मुकाबले बहुत कम ही देखने में आती है इसका कारण भारतीय संस्कृति का ही सबसे ज्यादा अंधविश्वास भरा दखल रहा है। वेदों को लेकर तरह-तरह के महिमा-मण्डन किए गए हैं और इस तरह किए गए हैं कि उन पर आज भी अंगुली उठाना खतरे से खाली नहीं है। वेदों में धरती को लेकर तथा सूर्य के घूमने की भ्रांतिया आज के वैज्ञानिक युग में भी खूब प्रचलित हैं। अथर्ववेद में कहा गया है कि इंद्र ने सृष्टि के आरम्भ में कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया है (2.12.1) अनेक रूपों वाली अचल पृथ्वी की इन्द्र रक्षा करता है। (12.1.17)

इसी प्रकार सूर्य के संदर्भ में भी वेदों की अपनी अवैज्ञानिक-मान्यताएं दर्ज हैं। कहा गया है कि सूर्यदेव स्वर्णमय रथ पर चढ़कर देवताओं और मनुष्यों को अपने-अपने कर्म में लगाते हुए संपूर्ण लोगों को देखते हुए आते हैं (यजु. 33/43)

कहा जाता है कि धरती को वेदों में अचल माना जाता था इसी कारण इसका एक नाम अचला भी पड़ गया है। पृथ्वी के साथ उसके कथित अचल होने के गुण को इतना ज्यादा जोड़े जाने के कारण ही संस्कृत और हिन्दी में अचला शब्द पृथ्वी का पर्याय बन गया। पृथ्वी का विशेषण ‘अचला’ पृथ्वी का ही दूसरा नाम (संज्ञा) बन चुका है। ‘अचला’ कहने पर और किसी वस्तु का बोध न होकर पृथ्वी का ही बोध होता है। इन ब्राह्मणवादी ग्रंथों का उन दिनों इतना प्रभाव होता था कि तमाम

वैज्ञानिक मान्यताओं का खूब मजाक उड़ाया जाता था। उदाहरणतया ब्रह्मगुप्त के सिद्धांत पर यह कहकर व्यंग्य किया गया था कि यदि धरती घूमती है तो ऐसा होने पर पक्षी अपने-अपने घोंसलों में कैसे पहुंचते हैं। यदि पृथ्वी तीव्र वेग से पूर्व की ओर भ्रमण करती है, तो ध्वजा को पृथ्वी के वेग से सर्वदा पश्चिम की ओर ही उड़ना चाहिए और यदि वह मंद वेग से चलती है तो ऐसे में वह 24 घंटों में चक्र पूरा नहीं कर पाएगी। आश्चर्य की बात यह है कि यह टिप्पणी आर्यभट्ट के बारे में वराहमिहिर ही ब्राह्मणों के दबाव में करते हैं।

एक और ब्राह्मणवादी टिप्पणी सातवीं-आठवीं शताब्दी में (639-748) एक विद्वान लट्टाचार्य भी करते हैं। उन्होंने कहा है “यदि पृथ्वी चलती है तो फिर पक्षी अपने घोंसलों में नहीं पहुंच सकेंगे और आकाश में फेंका हुआ वाण सदा पश्चिम में गिरेगा। यदि पृथ्वी पूर्व की ओर घूमती है तो फिर बादल हमेशा पश्चिम को जाएगा। यदि कही कि पृथ्वी धीरे-धीरे चलती है इसलिए बादल पश्चिम की ओर नहीं जाते, तो हमारा कहना है कि ऐसी मंदगति से एक दिवस में पृथ्वी का भ्रमण कैसे पूर्ण होगा? इसी प्रकार भास्कराचार्य भी (1114-1400) के मध्य कहीं पृथ्वी के गतिशील होने से इंकार करते रहे हैं। पृथ्वी को अचल मानते हुए वे कहते हैं जैसे सूर्य और अग्नि में उष्णता, चांद में शीतलता, जल में गति और पाषाण में कठोरता है, उसी प्रकार पृथ्वी स्वभाव से ही अचल है।” (सिद्धांत शिरोमणि, गोलाध्याय 5) आश्चर्य नहीं होगा यदि यह कहा जाएगा कि इस गणितज्ञ पर भी ब्राह्मणवादी दबाव काम कर रहा हो।

ब्राह्मणवादी ग्रंथों में वैज्ञानिकों ज्योतिर्विदों को बदनाम करने के लिए लगातार अभियान चलाया गया। उन्हें जहां कहीं भी अवसर प्रदान हुआ, यह घोषणा की कि ज्योतिर्विद लोग नीच हैं, घृणा के पात्र हैं और अपवित्र हैं, उन्हें किसी प्रकार का सहयोग व सम्मान नहीं दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के धर्मशास्त्रीय आदेश प्रस्तुत हैं

“ज्योतिर्विदों को श्राद्ध, यज्ञ और किसी बड़े दान के लिए नहीं बुलाना चाहिए। इन्हें बुलाने से श्राद्ध अपवित्र, दान निष्फल और यज्ञ फलहीन हो जाता है। आविक (बकरीपाल), चित्रकार, वैद्य और नक्षत्रों का अध्ययन करने वाले यह चार तरह के ब्राह्मण यदि देवताओं के गुरु वृहस्पति के समान भी विद्वान हों, तो भी उनका सम्मान नहीं करना चाहिए।” (अत्रिसंहिता)

इसी प्रकार की एक और टिप्पणी हमें महाभारत से मिलती है। उसमें नक्षत्रों का अध्ययन करने वालों पर सख्त टिप्पणी की गई है, कहा गया है

“जो ब्राह्मण नक्षत्रों के अध्ययन से जीविका चलाता हो, ब्राह्मणों को उसे अपनी पंक्ति में बैठकर भोजन नहीं करने देना चाहिए। हे युधिष्ठिर, ऐसे व्यक्ति द्वारा खाया गया श्राद्ध-भोजन राक्षसों के पेट में जाता है, न कि पितरों के।” (महाभारत अनु. पृ, अ 90 श्लो. 11/12)

इसी प्रकार मनुस्मृति में भी आदेश दर्ज है

“नक्षत्रजीवी लोग निर्दित, पंक्ति को दूषित करने वाले और द्विजों में अधम हैं। इन्हें विद्वान द्विज देवयज्ञ और श्राद्ध में कभी भोजन न कराएं।” (मनुस्मृति, अ.3)

इस प्रकार के उद्धरणों से ब्राह्मणवादी ग्रंथ भरे पड़े हैं, जिनसे भलीभांति ज्ञात होता है कि भारतीय खगोल-विद्या व विज्ञान को पस्त करने में हर प्रकार के हथकण्डे अपनाए गए। वैज्ञानिकों को हर प्रकार से हतोत्साहित करने के प्रयास किए गए ताकि ब्राह्मणी ग्रंथों को वैज्ञानिक-तर्कों के तेज के समक्ष निस्तेज होने से बचाया जा सके। इसका दुःपरिणाम यह हुआ कि भारत में एक स्वस्थ वैज्ञानिक परिपाटी उतनी फल-फूल न सकी, जितनी फलनी चाहिए थी। पुरोहित शाही के कड़े पहरे में खगोल विद्या जैसे दम तोड़ती दिखाई पड़ती है। विज्ञान के विरोधी खुद को दैवज्ञ घोषित करके वैज्ञानिक पद्धति पर आक्रमण तो करते ही थे बल्कि उन पर निजी-स्तर पर भी ओछे आक्रमण किए गए। इनके बारे में यह टिप्पणी बहुत मनोरंजक है जो कि ज्ञान-विज्ञान का विरोध करने वालों के मानसिक-स्तर का आभास तो करवाती ही है, उनके ओछेपन का परिचय भी देती है

“आकाश में दूर स्थित ग्रहों के अच्छे-बुरे प्रभाव को बताने वाले दैवज्ञ को यह पता नहीं होगा कि घर में उनकी पत्नी किससे अवैद्य संबंध स्थापित कर आनंद मना रही है।”

वैज्ञानिकों को ‘नास्तिक’, ‘मलेच्छ’, ‘चांडाल’ आदि कहकर उन्हें जाति से भी च्युत करने तक के हथकण्डे अपना कर जलील करने के सभी प्रकार के सामान जुटाए गए। उनको इतना प्रताड़ित किया गया कि उनकी आने वाली पीढ़ियां भी इस प्रकार के खोज कार्य न कर सकें। हकीमों, जराहों (शल्य- चिकित्सकों) को शूद्रों की श्रेणी में रखा गया।

यह तय है कि यदि भारत में ब्राह्मणवादी शक्तियों का ज्ञान-विज्ञान पर इतना कठोर प्रतिबंध न होता तो भारतीय ज्ञान-विज्ञान के आकाश पर सदा चमक बिखरी होती। वेदों को अपौरुषेय घोषित कर, तमाम प्रकार के अंध विश्वासों को फलने-फूलने तथा ब्राह्मणशाही को ताकतवर बनाने के तमाम फार्मूले इजाद किए गए ताकि विज्ञान का गला घोंटा जा सके।

कला

क्या रंगकर्मी शूद्र होते हैं दलितों की कला को देन

चरणदास सिद्धू

वर्ण-आश्रम जैसे कानून बनाकर गरीबों का शोषण करने वाले अमीर हिन्दुओं ने रंगकर्मियों-कलाकारों को सदियों से 'शूद्र' कहकर दुत्कारा है क्यों?

अगर कला सिरजना शूद्रों का ही काम है तो क्या इसका एक नतीजा यह नहीं निकलता कि 'हिंदोस्तानी' नाटक-संगीत-नृत्य-मूर्तिकला-चित्रकला-साहित्य में, दलितों का योगदान-देन महान है?

क्या किसी रूढ़िवादी ब्राह्मण से, तलवार-चलाऊ क्षत्रिय से, पैसा-पुत्र वैश्य से, एक शूद्र बेहतर रचनाकार होता है?

हज़ारों सालों में सिरजी गई अछूतों की कला के कौन-से नमूने बाकी बचे हैं? और अगर उनकी कला-कृतियां बचाई नहीं जा सकीं, तो क्यों?

(1)

सत्ताधारी जातियों की नज़र में 'शूद्र' कौन होता है? इस सवाल के कई जवाब होंगे लेकिन कला के क्षेत्र में इसका उत्तर सिर्फ एक है : जो कलाकार घमंडी उच्चवर्णों का मखौल उड़ाए, उनके शास्त्रों को मानने से इन्कार कर दे, वह 'शूद्र' है! सबूत के लिए देखो भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का आखिरी अध्याय।

जब भरत मुनि अंगिरस, वशिष्ठ, आत्रेय वगैरह ऋषियों को अपने 'पांचवें वेद' नाट्य के पूरे पहलुओं पर लंबे चौड़े भाषण सुना चुका तो ऋषियों ने पूछा "हमने माना कि आपकी नाट्यकला सीधी ब्रह्मा से उतरी है तो फिर आपके पुत्रों को, अभिनेताओं को, रंग कर्मियों को, शूद्र क्यों कहा जाता है?" भरत मुनि ने उत्तर दिया "मेरे पुत्र किसी की नकल उतारकर दर्शकों को हंसाने में पारंगत हो गए। उन्होंने ब्राह्मणों की करतूतों को नंगा किया। देखने वाले खूब हंसे। यह देखकर, उच्च वर्ग के ऋषियों को, ब्राह्मणों को, बहुत गुस्सा आया। क्रोध से उनके शरीर थरथराने लगे। उन्होंने कलाकारों को शाप दिया तुम ब्राह्मणों की खिल्ली उड़ाते हो, तुम्हें अपने कुज्ञान पर घमंड हो गया है। जाओ तुम हमेशा वेदों के निंदक, 'शूद्र' कहलाओगे! तुम्हारी आने वाली पीढ़ियां भी 'शूद्र' कहलाएंगी।" (अध्याय 36, श्लोक 1 से 51)

अपने आपको उच्च वर्ण का समझने वाले ऋषियों का गुस्सा जायज़ था। सबके सामने अपनी खिल्ली उड़ते हुए कोई धीर वीर ही देख सकता है। किसी लट्ठबाज़ दुश्मन का मुकाबला तो सैकड़ों लोग कर सकते हैं, मगर सरेआम अपना उल्लू बनता हुआ कोई विरला ही बर्दाश्त कर सकता है। तानाशाहों के दिलों में लेखकों और मसख़रों का, खौफ बना रहता है। **नाट्यशास्त्र के ये गुस्सैल ब्राह्मण बिल्कुल वही रास्ता अपनाते हैं जो औरंगजेब ने गाने बजाने वालों के खिलाफ़ अपनाया था।** जो प्राचीन यूनान में प्लेटो ने कवियों के खिलाफ़ अपनाया था **“कल्पनाशील कवियों को गणतंत्र में मत घुसने दो क्योंकि ये दबी हुई लालसाओं को भड़काने का काम करते हैं!”** आज भी जब कोई किताब किसी ज़ालिम के जबर को नंगा करती है, जब कोई चित्र किसी देवी-देवता का असली रूप पेश करता है, जब कोई कार्टून किसी नेता को बेनकाब करता है, कट्टरपंथी झट चिल्ला उठेंगे : किताब जला दो! चित्र फाड़ दो! मूर्तियां बमों से उड़ा दो! फ़िल्म पर बैन लगा दो!

धर्म के अंधे गोली बारूद से कम डरते हैं। कवियों से, नाटककारों से, अभिनेताओं से, ज़्यादा डरते हैं, इसीलिए उन्हें शूद्र का दर्जा देकर उनका दमन करना चाहते हैं। उनकी कला को कुचलना चाहते हैं और नहीं तो कहेंगे : तुम अछूत हो? गांव के बाहर बसो? अपने भौंडे मज़ाक, अपने नंगे नाच को हमारी बीवियों से, बेटियों से, बहुओं से, दूर रखो!

सत्ताधारी ‘द्विजों’ के लिए ‘शूद्र’ होने का मतलब है दमनकारी कानूनों को मानने से इन्कार करने वाला, पाखंडी पुजारियों के शोषण का शिकार बनने से इन्कार करने वाला। ‘शूद्र’ का अर्थ है : ब्राह्मण, निंदक, वेद-निंदक, बागी, इन्क़लाबी, नास्तिक!

ब्राह्मणों-क्षत्रियों-वैश्यों के दिलों में हमेशा एक दहशत रही है कहीं ये दास-दस्यु अपने कला-कौशल से, सृजन शक्ति से हमारे प्रभुत्व की धज्जियां न उड़ा दें। अखाड़े में खड़ा मसख़रा, मखौलिया, मिरासी, तानाशाहों का, घमंडियों का दुश्मन है। भयभीत हाकिम जातियों ने हर कलाकार को नीच कहकर, नफरत दिखाकर, दवाने की कोशिश की है। यह बात हिन्दू कानून साजों की हर पुरानी पुस्तक से ज़ाहिर है। खासकर *मनुस्मृति* से। मनु के मुताबिक **“सवर्णों को किसी अभिनेता से, रंगकर्मी से, खाना लेकर नहीं खाना चाहिए क्योंकि वो चुगलख़ोर, झूठे, दरजी, कृतघ्न, लोहार, मलाह, सुनार जैसे नीच लोगों में शामिल हैं।”** (*मनुस्मृति, अध्याय 4, श्लोक 214, 215*)। नाचने गाने वाली अभिनेत्रियों के वास्ते मनु की नफरत असीम है

पराई औरतों से बातचीत करने पर पाबंदी है लेकिन यह पाबंदी नाचने गाने वाली औरतों पर लागू नहीं होती क्योंकि अभिनेता और गवैए अपनी औरतों का हार

क्या रंगकर्मी शूद्र होते हैं दलितों की कला को देन 123

शृंगार करके उन्हें पराए मर्दों को पेश करते हैं। (मनुस्मृति : 8-362)

परंतु कलाकार को दबाना आसान नहीं। दुनिया से हंसी मज़ाक को हटाना नामुमकिन है। राजा के पास शारीरिक सज़ा देने की ताकत होगी। लेकिन उसका विदूषक किसी भी अहंकारी की नक़ल उतारकर उसको भरी सभा में धराशायी कर सकता है। इंसान का हंसी-ठट्ठा गंभीर पाखंडों को फाड़कर बरबस बाहर निकल आएगा और इसके उदाहरण ऋग्वेद के ज़माने से ही काफ़ी मिल जाते हैं। मिसाल के तौर पर देखिए ('मंडूक सूक्त' मंडल 7, सूक्त 103, श्लोक 3 से 7)

जिस प्रकार मेंढक बरसात के आने पर जोहड़ के चारों ओर बैठकर खुशी से टरति हैं वैसे ही सोमयाग में ब्राह्मण एक स्वर से मंत्र दोहराते हैं। (ऋग्वेद : 7-103-3 से 7)

यह पूरा सूक्त पुरोहितों के वेदपाठ की नक़ल उतारता है। पैरोडी पेश करता है। ऐसे व्यंग्यात्मक गीतों के बहुत दिलचस्प उदाहरण हैं नौवें मंडल के सूक्त 112 और 113। ये देहाती गबरूओं का सहगान है, बिल्कुल वैसा ही जैसा आज के पंजाब के नौजवान दारू चढ़ाकर भंगड़ा नाचते हुए गाते हैं और इन सूक्तों का स्थाई दोहराते हैं। "बहले बल्ले मई सोमरस चालू रहे! इंद्र के लिए चालू रहे!" ऐसे जश्न में, शुगल मेले में, गीतकार बिना झिझक ब्राह्मण पुजारियों का धिनौना चेहरा नंगा करता है। अपने बाप का, मां का, मखौल उड़ाता है

हम सबको पैसा कमाने के लिए कई तरह के पापड़ बेलने पड़ते हैं। ब्राह्मण हमेशा जजमान को फांसने की ताक में रहता है। मैं गीत गढ़ता हूँ। मेरी मां चक्की पीसती है। मेरा बाप दवा-दारू बेचता है। उसे हर वक़्त इंतज़ार रहता है कि बीमारियां फैलें और उसकी आमदनी बढ़े। (ऋग्वेद, 9-112-1, 3)

ज़ाहिर है कि पंद्रह सौ ईसवी पूर्व से ही ब्राह्मणों का वेदमंत्र टराना कमाई का धंधा बन चुका था। उनके द्वारा अपने वर्ण को सबसे ऊंचा बताने की असलियत भी यही है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण डींग बघारते हैं

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः।

उरु तदस्य यद् वैश्यः शूद्रो अजाय ॥ (ऋग्वेद, 10-90-12)

यानि, ब्राह्मण विराट पुरुष के मुख से, क्षत्रिय बाजुओं से, वैश्य जांघों से और शूद्र पैरों से पैदा हुए। ब्राह्मणों का असली मुद्दा है तीनों वर्णों को गुलाम बनाए रखना। उनकी कमाई पर जीना। ब्राह्मण परजीवी है, पैरासाइट है। दूसरों को बुद्ध बनाकर रकमें ऐंठता है और उसका तरीका रहा है तीनों जातियों को भ्रम में जकड़ना। स्वर्ग-नरक के, पाप-पुण्य के, चौरासी लाख जूनों के किस्से गढ़कर ब्राह्मणों ने सबको भयभीत कर रखा है। अपनी हकूमत जमा रखी है। जन्म से लेकर मरण तक जजमान को धार्मिक रस्मों में कैद कर रखा है। अपना पेट भरने के ढकौसले रचा रखे हैं।

हज़ारों बरसों से ब्राह्मण इसी तरह गरीबों को ठगते आए हैं। किसी भी हिन्दू तीर्थ

पर हरिद्वार, बनारस, इलाहाबाद आप इन ठगों की करतूतें देख सकते हैं लेकिन इन शोषकों का जुर्म कभी छुपा नहीं रहा है। ऋग्वेद का नौजवान गीतकार हो, नाट्यशास्त्र के रंगकर्मी हों, उनके व्यंग्यबाण पाखंडियों को हमेशा बींधते रहे हैं।

(2)

ब्राह्मणों की साज़िश को अकेले कलाकारों ने ही चुनौती नहीं दी। चार्वाक दार्शनिकों ने उन्हें आड़े हाथों लिया। उनके आवागमन के, स्वर्ग-नरक के, पाप-पुण्य के फलसफे को ढोंग बताया। गौतम बुद्ध ने, जैन धर्म ने हिन्दुओं की कुरीतियों से ग़रीबों को आज़ाद कराने की मुहिम चलाई। भक्तिकाल के संतों ने ब्राह्मणों के हर पाखंड को ललकारा। रविदास चमार ने, चोखेमेला माहर ने, सद्ने कसाई ने, नामदेव दरज़ी ने अपनी शायरी से साबित किया कि काव्यकला केवल ब्राह्मणों की बपौती नहीं। संस्कृत भाषा के एकाधिपत्य को ख़त्म किया। लोगों की 'मां-बोली' में गीत बनाए और गाए। नानक ने जनेऊ पहनने से इन्कार कर दिया। गंगा पहुंच कर पंडितों को झूठा साबित किया।

पितृ की रूहों को पानी पहुंचाने का बहाना बनाकर जजमानों से पैसे बटोरने को धोखा करार दिया। कबीर ने ग़रीबों को बार-बार समझाया इन ब्राह्मणों के चंगुल में मत फंसो। किसी अक्लमंद को वेदों की उल-जलूल बातों में नहीं उलझना चाहिए

*बाम्हन गुरु जगत का, साधु का गुरु नहीं।
उरभि पुरभि कर मरि रहा, चारिऊं बेदों माहीं॥*

(3)

किस तरह का पुरुष, किस किस्म की स्त्री, बढ़िया कलाकार बन सकते हैं? अच्छा रचनाकार बनने के लिए बंदे में कौन-कौन से गुण होना लाज़िमी है?

कला मांगती है साधना, निरंतर मेहनत, कल्पना का इस्तेमाल, हर वक्त कुछ नया सिरजने की ललक, थोड़ी कमाई में संतोष करके सृजन में ही सुख की तलाश।

इस कसौटी पर परखें तो सत्ताधारी धनाढ्य जातियां कलाकार बनने के लायक नहीं हैं। ब्राह्मण रूढ़िवादी है। रीतियां, रस्में सदियों तक जैसे के तैसे कायम रखने पर आमादा रहता है। युगों युगांतरों पहले गढ़े गए श्लोकों को पीढ़ी दर पीढ़ी टरति रहना ब्राह्मण का स्वभाव है, धर्म है। श्लोक भी ऐसे जिनका कोई जजमान अर्थ न समझ सके! ये रूढ़िवादी पुरातन के पुजारी हैं। नए को शक की नज़र से देखते हैं। नूतन के दुश्मन हैं। ये सच्चे कलाकार नहीं बन सकते।

कुछ ऐसा ही हाल क्षत्रियों और वैश्यों का है। लड़ाई करने वाले क्षत्रिय के अंदर गीत-संगीत, नाच-गाना, मूर्ति तराशने का रुझान नहीं हो सकता। अनुशासन नहीं

क्या रंगकर्मी शूद्र होते हैं दलितों की कला को देन 125

हो सकता। सितार की नाजूक तारें, राग-विधा की बारीकियां तलवार चलाने वाले के बस की बात नहीं। न ही कला की किसी निन्यानवे के चक्र में फंसे बनिये का खाजा है। चोखी ज़मीन का मालिक, सत्ता के नशे में धुत्त सामंत अपने अहम् को भुलाकर, अखाड़े में नहीं खड़ा हो सकता है। अभिनेता बनकर, मसख़रा बनकर हंसने-हंसाने का धंधा नहीं अपना सकता।

सिर्फ़ नीच समझी जाने वाली ग़रीब जातियां ही कला सिरजक बन सकती हैं। थोड़ी कमाई में गुज़ारा करने वाला ही मूर्तिकार बन सकता है। चित्रकार बन सकता है। कला के लिए निष्ठा चाहिए, दृढ़ता चाहिए, बरसों की तपस्या चाहिए। ऐसा संतोष, सब्र, परिश्रम केवल किसी ग़रीब लड़के-लड़की में ही हो सकता है। यह उनके स्वभाव का हिस्सा है। भेड़-बकरियां चराने वाला लड़का भले ही ग्रंथ न पढ़ सके मगर वो बांसुरी बजा सकता है, अलगोज़े बजा सकता है, गीत गा सकता है। एक अनपढ़ लड़की भी भरत नाट्यम् सीखकर मंदिर में नाच सकती है। अमीर लोग इन रचनाकारों को बेशक 'शूद्र' कहें मगर इन्हें अपने कला-कौशल पर गर्व होना चाहिए क्योंकि ऐसे कर्मठ लोगों ने ही हमेशा कला को ज़िंदा रखा है।

(4)

क्या सबूत है कि भारतीय कला को शूद्रों की देन महत्वपूर्ण है?

इस सवाल का जवाब ढूंढते वक्त एक बात का ध्यान रखनी होगी। सरमायेदार लोग नीच समझी जाने वाली जातियों की हर चीज़ को तबाह करना अपना दायित्व समझते हैं। सत्ताधारी जातियां सिर्फ़ अपनी किताबें ज़िंदा रखती हैं। अपने क़ानूनों के संग्रह संभालती हैं और उनके पास अपने ग्रंथों की, अपनी कला की, रक्षा करने के लिए पर्याप्त साधन भी होते हैं। यों भी ब्राह्मणों की निगाह में कलाकार वेद-निंदक, नास्तिक होते हैं। भला ब्राह्मण बागियों की रचनाएं क्यों संभालने लगे? ये ब्राह्मणों की कारस्तानी थी कि उन्होंने जात-पात तोड़कर गौतम बुद्ध का अस्तित्व मिटाने के लिए उसे विष्णु का अवतार कह कर हिन्दुत्व में विलय करने की कोशिश की और उनके चलाए पंथ को भारत से भगा दिया। चार्वाक दर्शन का, नास्तिक ग्रंथों का नामोनिशान मिटा दिया। कोई हैरानी वाली बात नहीं कि दलितों के पुरातन ग्रंथ हमारे तक नहीं पहुंच सके।

सवर्ण जातियों की कलाकारों से दुश्मनी का एक और बड़ा कारण है कलाकारों। नाचने गाने वालों की तरफ़ नौजवान लड़के-लड़कियां का यौन आकर्षक भागे चले आते हैं। आज के फिल्म अभिनेता, पॉप सिंगर, मिनटों में हज़ारों की भीड़ इकट्ठी कर लेते हैं। कुछ इसी तरह का जादू रंगकर्मियों ने, नचारों ने, गायकों ने, समाज पर हमेशा चलाया है। कोई भी गौरे चराने वाला छोकरा बांसुरी बजाकर गांव की राधाओं को पगला सकता है। उच्च वर्ण के मर्द भयभीत रहते हैं कि उनकी औरतें

गवैयों संग भाग न जाएं। हिन्दुओं की कानून की किताबों में सवर्ण औरतों के संग संभोग करने के लिए सज़ा सजाएँ इसीलिए तय की गई हैं

“अगर कोई शूद्र दूसरे वर्ण की स्त्री का आनंद लेता है, उसका लिंग काट दिया जाए।” (गौतम : विष्णु धर्म सूत्र 5, 115)

“पति या पिता द्वारा सुरक्षित या असुरक्षित द्विज स्त्री से संभोग करने पर, उस मर्द का लिंग काट दिया जाए और सारी जायदाद ज़ब्त कर ली जाए अगर स्त्री असुरक्षित भी, मर्द को फांसी की सज़ा देनी चाहिए।” (मनुस्मृति : 8, 374)

खुद सवर्ण मर्द कलाकार स्त्रियों की तरफ़ हमेशा खिंचे रहे हैं, उन्हें देवदासी बनाकर मंदिरों में नचाते रहे हैं। कोठे वालियों के संग रंगरलियां मनाते रहे हैं और उनके कानून साजों ने ग़रीबों की बहू-बेटियों को हवस का शिकार बनाने की खुली छूट दी है

“अगर कोई ऊंची जाति का मर्द किसी शूद्र औरत के साथ संभोग करे, इसे जुर्म नहीं समझना चाहिए।” (कौटल्या : अर्थशास्त्र 3-8)

सत्ताधारी वर्णों का कुछ ऐसा ही दोगला रिश्ता कला के साथ, कलाकारों के साथ हमेशा रहा है। वे कला का आनंद भी लेते रहे हैं और कलाकारों को अपना-शत्रु भी मानते रहे हैं। आर्य लोगों को दस्यु जातियों की हर शक्ति का, कला-कौशल का ख़ौफ़ खाता रहा है। यही कारण था राम द्वारा शंबूक की हत्या करने के पीछे यही वजह थी द्रोणाचार्य के एकलव्य का अंगूठा काटने के पीछे। यही कारण थे जिसने ग़रीबों की कला के, साहित्य के ज़्यादा नमूने हमारे तक नहीं पहुंच पाए।

प्राचीन कला के नष्ट होने में किसी हद तक कलाकारों का अहम्, स्वाभिमान भी जिम्मेवार हो सकता है। एक उदाहरण हैं लोक गीतों के रवैया! जैसे बंगाल के बाउल कवि। स्वयं रवींद्रनाथ टैगोर अपने को बाउल कहलाने में गर्व महसूस करते थे। एक बार टैगोर ने एक बाउल गीतकार से पूछा : क्या तुमने अपने दादा-पड़दादा के बनाए हुए गीत इकट्ठे कर रखे हैं? बाउल का जवाब था “हम ऐसा काम नहीं करते। हम खुद अपने गीत गढ़ सकते हैं। हम पिछली पीढ़ी की कै (उलटी) को, क्यों चार्टें?”

(5)

मगर पूरी कला को नष्ट कर पाना असंभव है। अभी भी हमारे पास दलित रचनाओं के ढेरों नमूने बाकी हैं।

लोकगीत ही लीजिए। अगर हमारे पास पांच सौ बरस पहले गाए गए गीतों का लिखित संग्रह नहीं बचा, कोई खास नुक़सान नहीं हुआ।

दादी से पोती तक हमारी बहू-बेटियां सीखती आ रही हैं। साथ में अपने जीवन से जुड़ी घटनाएं जोड़ती रही हैं। बदलते हालात को नई सतरों में समेटती रही

क्या रंगकर्मी शूद्र होते हैं दलितों की कला को देन 127

हैं। लोक गीत निरंतर बहता हुआ दरिया है। यह सदा चलता रहेगा। इसका चलते रहना ही इसका वजूद है। इनमें से सदियों पुराने गीतों के नमूने तलाशना फिजूल है।

दलितों की रची हुई अमर कृतियां देखनी हों तो प्राचीन हिन्दू मंदिरों को देखिए। बौद्ध-जैन मूर्तिकला बांचिए। अजंता-एलोरा जाइये। कोणार्क और खजुराहों में सबूत ढूंढिए। निस्संदेह ये अद्भुत मूर्तियां शूद्रों की, गरीबों की साधना की उपज है। ऐसी कठिन कला में जात-पांत आड़े नहीं आती। आज भी बंगाल और उड़ीसा में दुर्गा की, महाराष्ट्र में गणेश की मूर्तियां आमतौर पर मुसलमान कारीगर बनाते हैं।

नाचने गाने की कला को सिर्फ दलितों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी जिंदा रखा है (अमीर लोगों के बेटे-बेटियां थोड़ी कमाई वाले धंधे नहीं अपनाते। मिसाल के तौर पर देखो आज के गुरु ग्रंथ साहिब के पाठी। वाणी के गायक। उनमें से 90 फीसदी सेवक बेजमीन जातियों से आते हैं।) लोक नाटक, रासलीला, कृष्ण लीला, कथकली, तमाशा, जात्रा, नकल, नौटंकी इन मंडिलियों में आज भी ज़्यादा कलाकार शूद्र कहलाने वाली जातियों से आते हैं।

भारतीय कला को, साहित्य को, संस्कृति को दलितों की देन बहुत ज्यादा है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर को शूद्रों की सृजन शक्ति पर नाज़ था

हिन्दुओं को वेदों की जरूरत पड़ी और उन्होंने व्यास को बुला भेजा जो कि उच्च जाति का नहीं था!

हिन्दुओं को महाकाव्य की जरूरत पड़ी और उन्होंने वाल्मीकि को बुला भेजा!
हिन्दुओं को संविधान की जरूरत पड़ी और उन्होंने मुझे बुला भेजा!

संस्कृति एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता
सांस्कृतिक राष्ट्रवाद : पृष्ठभूमि, स्वरूप और मंतव्य
ज्ञानसिंह बल

बहुसंख्यक संकीर्णतावादी समुदाय कितना असहिष्णु हो सकता है, इसका अनुमान लगाना प्रायः कठिन होता है क्योंकि यह अपने धिनौने संकल्पों का प्रकरण देश सेवा, देश की अखंडता, जातीय सर्वोच्चता और सांस्कृतिक महानता इत्यादि नामकरणों से महिमांडित करते हुए अन्य समुदायों के प्रति हेय दृष्टिकोण रखता है। वह प्रत्येक प्रकार के छल-बल से छद्म प्रचार और विष-वमन करते हुए तथ्यों और ऐतिहासिक घटनाओं को संदर्भ से हटाकर/ तोड़मरोड़ करने के जघन्य अपराध करके भी घृणित शाब्दिक-चातुर्य से साधारणजन की भावनाओं से खिलवाड़ कर सकता है। हिटलर और मुसोलिनी के संदर्भ में इसे जाना जा सकता है।

समय की नब्ज पर एकाधिकार जमाए रखने के लिए अलग-अलग समय और स्थानों पर इनके वक्तव्य और मंतव्यों के अलग-अलग प्रारूप और वाक्-चातुरी का जब प्रबुद्धजनों के सामने पर्दाफाश हो जाता है, तो इनका दमनकारी रूप अपनी शालीनता का मुखौटा चौराहे के बीच फेंक देता है। जब इनकी भयानक वास्तविकता सामने आती है तो समय दंग रह जाता है। बहुसंख्यक संकीर्णतावादी समुदाय निश्चित रूप से मानवता विरोधी है।

‘वाटर’ फिल्म के सम्बन्ध में उभरे वाद-विवाद ने सदियों पुरानी भारतीय संस्कृति के प्रति लोगों का ध्यान पुनः आकर्षित किया है। इस संस्कृति की श्रेष्ठता एवं महानता बनाए रखने के लिए इसे ‘वाद’ की संज्ञा दी जा चुकी है। यह है ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’। इसके समर्थकों और व्याख्याताओं के अनुसार भारतीय संस्कृति मूलतः हिन्दू है और हिन्दू-संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ है, अन्य संस्कृतियां दूसरे दर्जे की हैं और उन्हें द्वितीय दर्जा स्वीकार करना होगा’ ऐसी भावना को सामाजिक मान्यता प्रदान करना ही इस ‘वाद’ का मूल ध्येय है। अखंडता और गतिशीलता इस सर्वश्रेष्ठ संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं हैं।

यद्यपि इस संस्कृति की श्रेष्ठता सदियों से स्थापित है परन्तु देश के

स्वतंत्रता-संग्राम में इसके समर्थन में उच्च स्तर उभरने लगे थे। अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध जब आंदोलन आरम्भ हुआ तो कुछ हिन्दू नेताओं और चिंतकों को लगा कि जब देश स्वतंत्र हो जाएगा तो जिस संस्कृति के आधार पर 'सामाजिक-साम्राज्य' स्थापित रहा है उस पर संकट आएगा। वास्तव में यह संकट स्वतंत्रता-संग्राम में निहित था क्योंकि देश की स्वतंत्रता निश्चित थी और इस स्वतंत्रता के पश्चात 'नए मानव मूल्यों' की उत्पत्ति भी आवश्यक थी। इन मूल्यों में मुख्यतः वैयक्तिक स्वतंत्रता, स्त्री-पुरुष समानता, मौलिक अधिकार तथा अन्य नागरिक स्वतंत्रताएं इत्यादि का स्थापत्य निश्चित था। अब निम्न जातियां भी सिर उठा रही थी, और स्वतंत्रता के फलस्वरूप उनकी सामाजिक पराधीनता के बंधन ढीले होने को थे।

स्वतंत्रता-संग्राम में तीन सामाजिक और राजनीतिक शक्तियां सक्रिय थी, पहली और बड़ी सामाजिक शक्ति कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में युद्धरत थी, इसके साथ ही कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट शक्ति भी संघर्षशील थी। यह शक्तियां बड़े पैमाने पर साम्राज्य का मुकाबला कर रही थीं। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध इन्कलाबियों ने उग्र रूप से जंग छेड़ रखी थी जिसमें भारतीय सोशलिस्ट पार्टी, रिपब्लिकन सभा/तथा अन्य गर्म-दल के संगठन भी सम्मिलित थे। एक और सक्रिय मुहाज (मोर्चा) निम्न वर्गों (जातियों) का था, जो देश की स्वतंत्रता के साथ-साथ अपनी सामाजिक पराधीनता से मुक्ति को भी केंद्रीय-बिन्दु बना रहा था। स्त्रियों और इन निम्नवर्गीय-जातियों की संगठित लड़ाई से हिन्दू संस्कृति को अधिक भय था। इसी दौरान प्रचलित संस्कृति के रक्षार्थ 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के झंडे के तहत मुहिम (आन्दोलन) आरम्भ हुई, जिसका परिणाम 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के संकल्प-सिद्धान्त के रूप में सामने आ रहा है। इसका भावी स्वरूप क्या होगा; इसका अभी स्पष्ट अनुमान नहीं लगाया जा सकता। संभवतः यह सांस्कृतिक उग्रवाद/फासीवाद का रूप धारण करेगा।

हिन्दू राष्ट्रवाद के संस्थापकों में वीर सावरकर, मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, गोल्वलकर, दीनदयाल उपाध्याय और हेडगेवार थे। यद्यपि, ये सभी सिद्धान्ततः एक ही थे परन्तु कई राष्ट्रीय बिन्दुओं पर इनके वैचारिक मतभेद भी थे। किसी को भ्रम नहीं होना चाहिए कि वीर सावरकर राष्ट्रवादी था परन्तु वह प्रथम विद्वान था जिसने हिन्दू राष्ट्रवाद की बात आरम्भ की। उसने दो छोटी-छोटी पुस्तिकायें लिखीं, 'हिन्दुत्व : हिन्दू कौन है?' तथा दूसरी 'हिन्दुत्व की चार प्रमुख विशेषताएं' उसके अनुसार "जो भारतवर्ष की भूमि (दरिया सिन्धु से समुद्र तक) को अपनी पितृ-भूमि, (फादरलैंड) पवित्र-भूमि और अपनी धरती को धर्म का पालना माने, वह हिन्दू है।" पहली पुस्तक में पितृ-भूमि, पुण्य-भूमि का संकल्प उभारा गया है। यह पुस्तिका उसने अंडमान जेल में लिखी थी। वीर सावरकर के अपने ही शब्दों में हिन्दुत्व की व्याख्या निम्नानुसार अंकित है

"In expounding the ideology of the Hindu movement, it is absolutely necessary to have correct grasp of the meaning of these three terms. From the word Hindu has been coined the word Hinduism in English. It means the schools or system of religion the Hindus follows. The second word Hindutva is far more comprehensive and refers not only to the religious aspect of the Hindu people as the word *Hinduism* does not comprehend even their cultural, linguistic, social and political aspects as well. It is more or less akin to Hindu Polity and its nearly exact translation would be *Hinduness*. The third word *Hindudom* means the Hindu people spoken of collectively. It is the collective name for the *Hindu World, just as Islam denotes the Muslim World.*"

भावार्थ "वह अत्यंत आवश्यक है कि हिन्दू आन्दोलन की व्याख्या करते समय इन तीन शब्दों के उचित अर्थ समझे जाएं। अंग्रेजी भाषा का शब्द 'हिन्दुइज्म' हिन्दू शब्द से बना है, जिसका अर्थ उन धार्मिक विचारधाराओं या धर्म के दर्शन-शास्त्रों से है जिन्हें हिन्दू लोग मानते हैं। दूसरा शब्द 'हिन्दुत्व' इससे अधिक विस्तृत है, जिसमें हिन्दुओं के मात्र धार्मिक-दर्शन ही नहीं, बल्कि इस दर्शन के अन्तर्गत सांस्कृतिक, भाषाई, सामाजिक और राजनीतिक पहलू भी शामिल है। इसका वास्तविक अर्थ तो 'हिन्दू राजतंत्र' (हिन्दू पालिटी) के समीप जा पहुंचता है और इसका उचित अनुवाद 'हिन्दू जन' होगा। तीसरे शब्द, 'हिन्दुज्म' का अर्थ समूह हिन्दू भाईचारे से है। यह हिन्दू जगत् का सामूहिक नाम है, बिल्कुल उसी प्रकार, जैसे इस्लाम का अर्थ मुस्लिम जगत् से है।"

वीर सावरकर के अनुसार हिन्दुओं के लिए स्वराज का जो अर्थ है, उसकी व्याख्या निम्नानुसार की जाती है

"Swaraj to the Hindu must mean only that in which their *Swaraj*; their *Hindutva* can assert itself without being overlorded by any non-Hindu people, whether, they be Indian territorials or extra terri-torials. Some English men are or may continue to be territorially born Indians, can therefore the overlordships of these Anglo-Indians be a *Swaraj* to the Hindus? Aurangzeb or Tipu were hereditary Indian, nay well the sons of converted Hindu mothers. Did that mean that the rule of Anrajgzeb or Tipu was a *Swarajya* to the Hindus? No! Although they were territorially Indians they proved to be worst enemies of Hinduism and

therefore a Shivaji, a Gobind Singh a partap or the Peswa had to fight against the Moslim domination and establish real *Hindu Swarajya*."

अर्थात् "स्वराज का अर्थ है कि हिन्दुओं के लिए उनका अपना स्वराज होना चाहिए, जिसमें उनके हिन्दुत्व की प्रभुसत्ता हो, गैर-हिन्दुओं की प्रभुसत्ता बिल्कुल न हो, यद्यपि वे भारतीय सीमा के अन्दर रहते हों या बाहर। कुछ अंग्रेज लोग ऐसे हैं जो इस धरती पर पैदा हुए हैं, और भी हो सकते हैं, क्या इन एंग्लो-इंडियन का प्रभुत्व हिन्दुओं के लिए स्वराज हो सकता है? औरंगजेब या टीपू सुल्तान वंश-परम्परा की दृष्टि से हिन्दुस्तानी थे, ये धर्म-परिवर्तित हिन्दू माताओं की सन्तान थे, क्या इनका यह अर्थ लिया जाए कि उनका राज्य हिन्दुओं के लिए स्वराज्य था? नहीं, यद्यपि वे इस देश की धरती पर पैदा हुए और हिन्दुस्तानी थे, परन्तु वे हिन्दू धर्म के बहुत भयंकर शत्रु सिद्ध हुए हैं, इसीलिए किसी शिवाजी, गुरु गोविंद सिंह, प्रताप या किसी पेशवा को इस मुस्लिम प्रभुत्व के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप हिन्दू स्वराज की स्थापना करनी पड़ी।"

हिन्दुत्व की इस व्याख्या से सिद्ध हो जाता है कि 'दो-राष्ट्रों के सिद्धान्त' का बीज मुहम्मद अली जिन्ना ने नहीं, बल्कि वीर सावरकर ने बोया था।

यहीं, यह भी निर्णय हो जाना चाहिए कि वीर सावरकर कितना राष्ट्रवादी था। डॉ. प्रेमसिंह ने 17-05-2002 के दैनिक **नवां जमाना (पंजाबी)** पत्र में विस्तार से लिखा है। हम उन्हीं के शब्दों को यहां अंकित करते हैं। वे लिखते हैं

"सावरकर की बहादुरी और बौद्धिक प्रखरता का वह समय था, जब उसने 1857 के गदर के सम्बन्ध में पुस्तक लिखी जो प्रवासी भारतीयों में स्वीकृत हुई और देशभक्तों व इन्कलाबियों के लिए प्रेरणास्रोत बनी। सन् 1910 ई. को उसे इंग्लैंड में पकड़ लिया गया। समुद्री जहाज द्वारा जब उसे भारत भेजा जा रहा था तो मरसेलज के बन्दरगाह पर वह पुलिस के शिकंजे से फरार होने में सफल हो गया परन्तु शीघ्र ही पुनः पकड़ा गया। पुलिस के शिकंजे से भागने के कारण उसकी देशभक्त शूरवीर की छवि की बड़ी चर्चा हुई। दिसम्बर 1910 ई. में नासिक षड्यंत्र के अधीन एक स्पेशल ट्रिब्यूनल ने उसे उम्र कैद की सजा सुनाई। जनवरी 1911 में उसे जलावतन की एक और सजा दी गई।"

"इतिहास की वाह्यमुखी और वैज्ञानिक खोज की मांग है कि स्वतंत्रता संग्राम में सावरकर की भूमिका को रेखांकित किया जाए। सन् 1975 में, भारत-सरकार के शिक्षा मंत्रालय के गजेटियर यूनिट की ओर से **पीनल सैटलमेंट इन अंडेमान** नामक पुस्तक प्रकाशित की गई थी। इसके संपादक प्रसिद्ध इतिहासकार आर. सी. मजुमदार थे। इसमें 14 नवम्बर, 1913 में सावरकर की जेलाधिकारियों द्वारा ब्रिटिश सरकार तक भेजे गए पहले पत्र का वर्णन है, जिसमें उसने क्षमा किये जाने की प्रार्थना की

थी।” यह पत्र 1911 में लिखा गया था यानी अंडमान जेल में भेजे जाने के तुरंत बाद ही। पुनः 1913 की चिट्ठी में उन्होंने लिखा

“यदि सरकार अपनी सर्वांगीण उदारता और दयालु-हृदय की भावना के अनुसार मुझे रिहा कर दे, तो मैं वैधानिक ढंग से प्रगति और ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी का सबसे शक्तिशाली मुद्दा हूंगा। सरकार से वफादारी प्रगति की पहली शर्त है। जितना समय हम लोग जेलों में है, उतना समय भारत में राजा की प्रजा के सैकड़ों-हजारों घरों में खुशी नहीं आ सकती क्योंकि मानवीय नाते बहुमूल्य हैं। यदि हमें रिहा कर दिया जाता है तो लोग प्रसन्न होकर सरकार के प्रति शुक्राने का जयघोष करेंगे। प्रतिशोध की अपेक्षा क्षमा करने और ठीक करने का ढंग सरकार अधिक जानती है।”

सावरकर ने यह भी लिखा “इसके बाद, मेरे द्वारा विधान के अनुसार चलने की राह अपनाए जाने पर, विदेशों में रह रहे उन सभी युवकों को इसी राह पर ले आया जाएगा, जो मुझे अपना मार्गदर्शक मानते हैं। मैं किसी भी हैसियत में सरकार की सेवा करने को तैयार हूँ क्योंकि मेरे द्वारा मार्ग-परिवर्तन चेतन-रूप में किया जा रहा है। भविष्य में भी मेरी भूमिका इसी प्रकार की होगी। मुझे रिहा करके जो कुछ प्राप्त हो सकता है, वह जेल में रखने से नहीं हो सकता। सिर्फ शक्तिशाली पक्ष ही दयालु हो सकता है, इसलिए एक शाह-खर्चीला पुत्र, सरकार के मां-बाप जैसे घर की अपेक्षा और किस द्वार की ओर मुड़ सकता है?”

डॉ. प्रेमसिंह आगे वर्णन करते हैं कि “जेल से रिहा होकर कोई देशभक्त या इन्कलाबी कैसे व्यवहार करता है, कैसी राजनीति अपनाता है, इस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। सावरकर ने रिहाई के बाद स्वतंत्रता-संग्राम से कोई नाता नहीं रखा। गदर पार्टी के ‘बाणियां’ का मार्ग भी नहीं अपनाया। जहां तक कांग्रेस पार्टी का प्रश्न है, वह इनकी कट्टर विरोधी थी। वह (सावरकर) महात्मा गांधी को देश का शत्रु मानता था। कांग्रेस के नेतृत्व में चले आन्दोलनों में उसकी कोई भूमिका नहीं रही। न ही 20वें दशक में उभरे इन्कलाबी-गर्दी के साथ उसका कोई संबंध था।”

“स्वतंत्रता-संग्राम की मांग के बिल्कुल विपरीत उसने हिन्दू महासभा की नींव रखी और उसका प्रमुख नेता बन गया। सन् 1937 ई. में इस सभा की अध्यक्षता करते हुए उसने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न को जिस रूप में प्रस्तुत किया, वह है “हिन्दुओं और मुसलमानों में सांस्कृतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय विरोध सदियों से चला आ रहा है। भारत को संगठित और एक जैसा राष्ट्र नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं।”

यह है सारांश में वीर सावरकर के राष्ट्रवादी होने की कहानी। हर हिन्दू ...और हर हिन्दू के साथ जाति, जो पहले से ही जुड़ी हुई थी अब उससे आशा की जाने लगी कि वह धर्म भी वही अपनाये जो उसके पूर्वजों का था और वह भी जो भारत की धरती

पर पैदा हुआ हो। हिन्दू की यह परिभाषा समाज-शास्त्र की दृष्टि से अलगावाद के भाव (Exclusivist) से भरपूर है, यह शत्रुता की भावना पैदा करती है और मानव को मानव से दूर रखने वाली है।

हिन्दू महासभा की स्थापना के साथ हिन्दू ने राष्ट्रवादी मिलीटेंसी के चरण में प्रवेश किया। इसके साथ ही हिन्दुओं में एक अलग राजनीतिक संगठन की भावना उत्पन्न हुई, यद्यपि इसके प्रमुख नेता मालवीया जी, लाजपतराय इत्यादि कांग्रेस पार्टी के प्रसिद्ध नेता थे। इस अलग-चिंतन को आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद के सत्यार्थ-प्रकाश ने भी प्रभावित किया, विशेषतः पंजाब, यू.पी. की हिन्दू राजनीति को। बाद में गोलवलकर के बंच ऑफ थार्ट्स' ने तो इस विचारधारा को खूब उत्साहित किया। डॉ. के.बी. हैडगेवर और पं. दीनदयाल उपाध्याय ने इसे और भी विस्तृत किया। दीनदयाल उपाध्याय ने एकीकृत-मानववाद (Integral Humanism) का संकल्प परिभाषित किया और उसे आर.एस.एस. की सांस्कृतिक विचारधारा का हिस्सा बनाया। उक्त विचारधारा ने समूचे रूप में जो संकल्प उभारे हैं, उनकी चर्चा करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है।

बात हैडगेवर के प्रवचनों से शुरू करते हैं। वे कहते हैं, “प्रतिदिन (हिन्दू) एकत्रित होकर 15 मिनट प्रार्थना करो, फिर देखो हिन्दू कैसे अविजित की भावना से लैस होते हैं।” वास्तव में यह शब्द सिस्टर निवेदिता¹ कहा करती थी, जो कि स्वामी विवेकानंद की शिष्या थी। इस भावना की पृष्ठभूमि और मंतव्य मुस्लिम भाईचारे पर मानसिक दबाव डालना था। यही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रमुख विशेषता है कि हिन्दुओं में मुस्लिमों (ईसाइयों, बोधियों, मार्क्सवादियों, अम्बेडकरवादियों और समाजवादियों) के प्रति भिन्नता की भावना पैदा की जा सके। राज्य स्थापना के उद्देश्य से वीर साबरकर द्वारा दिया गया ‘हिन्दू राष्ट्रवाद की स्थापना’ का यह नारा सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद की धुरी था। उसका कहना था राजनीति का हिन्दुकरण करो और हिन्दुत्व का सेनाकरण करो। (Hinduise Politics and Militarise-Hinduism) इस आशय को लेकर अब तक संघ परिवार गतिविधियां चला रहा है। गोलवलकर की धारण है कि “हिन्दू सदियों से स्वतंत्रता के लिए तड़प रहे हैं। वे सोचते हैं कि मुस्लिम राज्य ने उन पर मुस्लिम संस्कृति हावी कर रखी है परन्तु अब यह संघर्ष संगठित होकर आगे बढ़ रहा है और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने ही वाला है।” गोलवलकर कहा करते थे कि सामूहिक तौर पर “हिन्दू सदैव अच्छा ही सोचते हैं। इसे इस तरह भी प्रस्तुत किया जा सकता है “हिन्दू सामूहिक रूप में कभी कुछ ऐसा नहीं करते, जो दोषपूर्ण हो।” इसे दार्शनिक गहराई से कहना हो तो कहा जाएगा कि “हिन्दुओं की विजय और राष्ट्रवाद की स्थापना पूर्व-निश्चित है।” ऐसा होना ही है क्योंकि हिन्दुओं की यह नियति (भाग्यवाद) है।” भाव यह कि हिन्दू-राष्ट्र का निर्माण अटल है।

आइए, एक और पहलू से देखा जाए। राष्ट्र धर्म का संकल्प हिन्दू-धर्म का केंद्रीय संकल्प है। यह सर्वोच्च है। धर्म (Dharma) नैतिक और सामाजिक सिद्धान्तों का समूह है, जिसके बल पर सामाजिक व्यवहार कार्य-व्यापार में रुचि लेता है। यहां क्या प्रसन्नतापूर्वक है और क्या लाभदायक है, इसका निर्णय धर्म ही करता है। **कठोपनिषद (1/2/2)** के अनुसार काम, अर्थ, धर्म और मुक्ति (मोक्ष) जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य धर्म ही निर्धारित करता है। इसीलिए दीनदयाल उपाध्याय धर्म को सर्वोच्च मानते हैं और यही धर्म भारत की आत्मा और इसकी पहचान है। इसे **भारतीयता** की संज्ञा भी दीनदयाल ने ही दी है। यह संकल्प सर्वव्यापक भी है। यह भी स्मरण रखना होगा कि सदियों पुरानी वर्ण-व्यवस्था (**जो बाद में जाति-प्रथा बनी और जिस जाति-प्रथा ने आगे छूत-अछूत को जन्म दिया**) के प्रति है ही वाचक रुख अपनाया है। इतना ही नहीं जाति-प्रणाली 'धर्म' के निहित है। धर्म तो जनता से भी सर्वोच्च है क्योंकि जनता इसे निर्धारित नहीं करती, बल्कि इसके आदेशानुसार चलती है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हिन्दू-परम्पराओं और त्यौहारों को श्रेष्ठता प्रदान करता है। दीनदयाल कहा करते थे कि परम्पराएं तो पार्लियामेंट से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं और धर्म वोटों द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। कानून इन धर्मों के विरोध में नहीं, बल्कि इसके अनुसार ही ढलना और बनाना चाहिए क्योंकि परम्पराएं अधिक महत्वपूर्ण हैं और सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिए यह राष्ट्रवाद आधुनिक लोकतंत्र के पक्ष में न होकर राजतंत्र के पक्ष में है।² हमारे देश की राजनीति की परम्परा राजतंत्र ही रही है। बौद्धों के समय जो रिपब्लिक थे, मात्र वही लोकतंत्र थे। वैसे यह **सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी बहु-केन्द्रित-बहुवादी विश्व (Muth Culture Plurish World)** के समर्थक होने का खोखला दावा कहते हैं।

पुरातनपंथी विचारधारा के समर्थकों का इस राष्ट्रवाद के आधुनिक विज्ञान के सम्बन्ध में रुख भी खूब है। दीनदयाल का सबल मत था कि पश्चिम-विज्ञान का तो स्वागत करें परन्तु पश्चिमी जीवन शैली का नहीं। वैसे यह विचार भी खुलेआम प्रकट किया जाता है कि पश्चिमी-विज्ञान वास्तव में हिन्दू ग्रंथों में अंकित फार्मूलों को चोरी करके विकसित किया गया है। यह 'वाद' यह कहना चाहता है कि हिन्दू सांस्कृतिक परम्परा बहुत सीमा तक वैज्ञानिक है और जो रचना ज्ञान अथवा विज्ञान के, हिन्दू ऋषि-मुनियों ने की है वह पश्चिमी विज्ञान का प्रकट रूप है। अतः वे सांस्कृतिक राष्ट्रवादी पुरातन विचारों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों को जस का तस बनाये रखना चाहते हैं। फिल्म 'वाटर' की शूटिंग रोकने के पीछे यही प्रवृत्ति काम कर रही है। हिन्दू कोड-बिल का विरोध भी इसी भावना के अधीन किया गया था।

विधवा प्रथा, जाति प्रथा, हिन्दू-मुस्लिम और हिन्दू ईसाइयत् असहनशीलता अन्तर्निहित रस्में, जैसे मछलियों को आटा-डालना, कीड़े-मकोड़ों को अनाज डालना,

पीपल या वृक्ष पूजन, स्त्री को पुरुष से हेय मानना, मृत्यु उपरांत 60 से अधिक किस्म की रीति-रिवाज ठोंसना, लोकतंत्र के प्रति अनादर प्रकट करना, इतिहास को विकृत करना ताकि नए मूल्य प्रफुल्लित न हो सकें इत्यादि दिखाई दे रहे सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भावना कार्य कर रही है।

ये सांस्कृतिक राष्ट्रवादी मार्क्सवाद और पूंजीवादी व्यक्तिवाद के प्रखर विरोधी हैं। पूंजीवादी व्यक्तित्व क्योंकि मानवीय स्वतंत्रता, स्त्री-पुरुष में समानता, अभिव्यक्ति और आर्थिक सभ्यता पैदा करता है इसलिये हिन्दू संस्कृति को विकृत करने में लक्षित है, देश-समाज का शत्रु है। मार्क्सवाद क्योंकि समाज को एक अलग दार्शनिक नैतिक दृष्टि से देखता है, पुरातनपंथी विचारधारा को इससे भी भय है, इसीलिए यह राष्ट्रवादी आधुनिक युग में पनपी दोनों विचारधाराओं का डटकर विरोध करता है। वास्तव में, यह राष्ट्रवाद हिन्दू शास्त्र और स्मृतियों पर आधारित संस्कृति को ही भारतीय संस्कृति मानता है और भारत में प्रफुल्लित अन्य दार्शनिक और नैतिक विचारधाराओं को शून्य के समान समझता है, जैसे 'बुद्धिज्म और चार्वाक दर्शन'। शक्तिशाली दार्शनिक और सांस्कृतिक आधार बनाकर ही ऐसे राष्ट्रवाद के विरुद्ध संघर्ष किया जा सकता है। केवल राजनीतिक लड़ाई ही कुछ सार्थक परिणाम नहीं ला सकती। सांस्कृतिक-स्तर पर कार्यरत समूह लोकतांत्रिक संस्थाओं को व्यावहारिक स्तर पर एक अलग सांस्कृतिक जीवन-शैली अपनाने की आवश्यकता है, जैसे तपन वासु और दूसरे कार्यकर्ताओं ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'खाकी शार्टज-सैफर्न फ्लैगज' में इसका वर्णन किया है।

हिन्दुत्व-संगठनों की प्रार्थना और एकात्मता-भजन

सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि सहित इससे पूर्व व्याख्या की जा चुकी है। हिन्दुत्व के सांस्कृतिक पक्ष को और विस्तार से जानने के लिए यहां आर.एस.एस. के एकात्मता स्त्रोत्र अर्थात् एकीकरण भजन और इसके सारांश को समझने का प्रयास करेंगे। आर.एस.एस. की शाखाओं में प्रतिदिन इस भजन का गुण-गान किया जाता है। वास्तव में यह दावा किया जा रहा है कि यह भजन अखंड भारत की प्रस्तावना है क्योंकि हिन्दुत्व-शक्तियां दावा करती हैं कि इसके द्वारा ही भारत की सांस्कृतिक परम्परा जीवित रखी जा सकती है। यह प्रार्थना अर्थात् भजन ही हमारी परम्परा को जीवित रखता है। इसके द्वारा हमारा राष्ट्रीय जीवन और इसकी भावना-एकता में अनेकता की भावनाएं प्रकट होती हैं। यह भजन भारत माता और अखंड भारत, इसमें दरियाओं और पर्वतों सहित, जो सदैव इसकी चतुर्दिक सेवा में लीन रहते हैं, की याद ताज़ा कराता है। यह याद करवाता है उस सर्वशक्तिमान के संबंध में, जिससे पूरे विश्व ने जन्म लिया और जो बाद में उस दैवी मां का स्वरूप धारण कर चुका है, जिसके चरण कमलों को समुद्र और सागर हर समय धोते हैं और जिसके सिर पर

हिमालय रूपी ताज सदैव सजा रहता है। इस भारत मां (**Mother India**) की पूजा तो इस सृष्टि का सृजक 'ब्रह्म' भी करता है। इस भारत माता (**A Divine Motherly Form**) की वैदिक काल से लेकर आज तक सभी राष्ट्रीय नेता, ऋषि-मुनि और संत-महात्मा आराधना करते आये हैं।

इस भारत माता को बंकिम चंद्र ने मां सरस्वती-लक्ष्मी और देवी दुर्गा के नाम से याद किया है। रविन्द्रनाथ टैगोर ने उसे एक विलक्षण देवी, विवेकानंद ने स्त्री देवी-देवताओं की मां और अरविन्द ने उसे आदिशक्ति कहा, जिसकी पूजा हर कवि करता है। गुरुजी गोलवलकर ने उसे त्रिमूर्ति (मां, पिता और गुरु) के रूप में देखा।

हमारी मातृभूमि उन सभी विचारधाराओं और मूल्यों, जो यहां प्रफुल्लित होते हैं, को गले लगाती है। समूचे वैदिक ज्ञान, गीता के आदर्शवादी लक्ष्य और सिख मत के समर्थक सभी संतों-गुरुओं की शिक्षाओं का पालना है (झुलने वाला पधुंड़ा) यह भारत मां। यह मातृभूमि इस संकल्प की भी प्रतीक है कि परमात्मा/ईश्वर तो एक ही है, उसे प्राप्त करने के मार्ग ही अलग-अलग हैं। इस मातृभूमि का यह दर्शन सर्व-सम्मिलित (**All Inclusive**) दर्शन है और यही दर्शन हमें नरसंहार से बचा सकता है और यही दर्शन रामायण, महाभारत और लोक-कथाओं द्वारा हमें प्रकाश पहुंचाता है। यह केवल मात्र दर्शन है जो संसार में सबका भला करने में समर्थ है। केवल यही विश्वयहीभर में चुस्त-दुरुस्त दर्शन (**Only Smart Phylosophy**) है। इसकी विशेषता यह है यह विरोधी दर्शनों को भी अपने में विलीन कर लेता है। हम निम्नानुसार, इसकी व्याख्या करते हैं। स्मरण रहे कि यह भजन काफी लम्बा है और आर.एस.एस. इसे नियमित रूप से प्रातः स्मरण करता है। इस भजन के 33 पद्यांश हैं। पहले पद्यांश में ब्रह्मांड के सृजन की प्रशंसा की गई है और उसे नमस्कार किया गया है। दूसरे में प्रकृति में निहित त्रिगुणों (**ससो, रजो, तमो गुण**) पांच तत्वों, नवग्रहों और उनका वातावरण अर्थात् स्वर्ग, आरती, हवा, संगीत, दश-दिशाये, सगम/काल (**वर्तमान भूत, भविष्य**) आदि का वर्णन है। चौथे में भारत माता की आराधना, पांचवें में पवित्र पर्वतों जैसे महेन्द्रा, मलय पर्वतों, विन्ध्याचल और अरावली पर्वतों का वर्णन है। छठे में पवित्र नदियों जैसे गंगा, सरस्वती, सिंधु, ब्रह्मपुत्र, कावेरी, यमुना, नर्मदा (**रिवा**), कृष्णा और महानदी को नमस्कार किया गया है। छठे और सातवें में, भारत माता की गोद में बसे पवित्र स्थानों का वर्णन है। ये हैं अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची, उज्जैन, द्वारिका, वैशाली, जगन्नाथपुरी, तक्षशिला और गया। प्रयाग, पटना (**पाटलीपुत्र**), महाविजय नगर, इन्द्रप्रस्थ (**पांडवों की राजधानी**) नैमिषारण्य और प्रेम शहर अमृतसर को पवित्र स्थानों का सिरताज माना गया है और बार-बार आग्रह किया गया है कि इन स्थानों को प्रत्येक दिन स्मरण किया जाये। आठवें और नवम में, उन पवित्र ग्रंथों का स्मरण है जिन्हें ज्ञान का भंडार कहा गया है,

जैसे चारों वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, गीता और जैन व बौद्धों के दार्शनिक ग्रंथ। जैन ज्ञान-शोध, बौद्ध त्रिपिटक और गुरु ग्रंथ साहिब में अंकित संतों की वाणी हिन्दूवाद की उत्तम बुद्धि का उदाहरण हैं। इसी शृंखला में षटदर्शन, जिनके प्रति हमारी अगाध श्रद्धा है, गूथे गये हैं।

अगले दो पद्यांशों में उन स्त्रियों के प्रति श्रद्धा अर्पित की गई है जिन्होंने धार्मिक और रणभूमि में ख्याति प्राप्त की है, जैसे ऋषि वशिष्ठ की पत्नी अरुंधति, अत्रि की पत्नी अनसूया, सावित्री, सीता, पक्षऋषि की पुत्री व शिव की पत्नी सती, शूरवीर द्रोपदी, द्राविड धरती की रानी कानगी, राजा जनक के न्यायालय में विद्वान गार्गी, चित्तौड़ राज्य की मीराबाई, बहादुर महारानी दुर्गाबाई, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, इन्द्र की माता-तुल्य अहल्याबाई, कर्नाटक की शूरवीर चेन्नमा मां, आंध्रा की शूरवीर रानी रुद्राम्बा, स्वामी विवेकानंद की शिष्या निवेदिता, श्री रामकृष्ण की पत्नी मां श्रद्धामणि आदि। एकात्मता सूत्र के अनुसार ये सभी स्त्रियां मातृ-तुल्य पूजनीय हैं।

इसी प्रकार 12वें से 19वें पद्यांश में उन नासिकाओं, देवताओं, दार्शनिकों, संतों-भक्तों के नाम हैं जिन्होंने हिन्दुत्व शक्तियों के अनुसार हिन्दूवाद के बढ़ने-फूलने में योगदान किया है, इनके नाम श्रीराम, भरत, कृष्ण, भीष्म, अच्छाइयों का राजा युधिष्ठिर, अर्जुन, मार्कण्डेय, हरिश्चंद्र, प्रह्लाद, ध्रुव, हनुमान, जनक, वासुदेव, वशिष्ठ, शुकदेव, बलि, विश्वकर्मा, पृथु, वाल्मीकि, परशुराम, भागीरथी, एकलव्य, स्मृति निपुण मनु, धनवंत्री, दयालु राजा साहिबी और शांतिदेव जिनके कार्य पुराणों में वर्णित हैं।

इनमें बुद्ध के अवतार और समूह जैन तीर्थंकर, गुरु गोरखनाथ, पाणिनी, पातञ्जलि, शंकराचार्य, निम्बकाचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य भी सम्मिलित हैं। अनेक संत जैसे सिन्धु प्रदेश के संत झूलेलाल, महाप्रभु चैतन्य व्यासदेव, तिरुवल्लुवर, नाम्मियार, और अलवर के संत, तमिल रामायण के रचयिता काम्ब और शिव भक्त वासवेशर के साथ-साथ उन संतों-भक्तों को भी शामिल किया गया है जो परिवर्तन सिद्धान्त/नियम के सम्पर्ण बताये गये हैं, ये हैं देवल, संत रविदास, कबीर, गुरुनानक, वैष्णव मत के गुजराती संत नरसी, तुलसीदास, शूरवीर दशमेश गुरु गोविंद सिंह, आसाम प्रान्त के वैष्णव संत श्रीमद् शंकरदेव, वेद-वाचक सायणाचार्य, माधवनाचार्य, संत ज्ञानेश्वर, तुक्काराम, सामरथ रामदास और पुरंदर दास।

वनवासियों के नेता भगवान बिरसा, स्वामी सहजानंद, स्वामी रामानंद और इसी प्रकार और महान व्यक्ति जो हमेशा अद्भुत प्रकाश प्रदान करते हैं तथा कवि, चित्रकार और ऋषियों के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है; जैसे नाट्य स्कूल के प्रथम गुरु भरतमुनि, महान कवि कालिदास, राजा भोज, जनक आचार्य, संत सूरदास, दक्षिण भारत के महान कवि श्यागराज और कवि रसखान। चित्रकार रवि वर्मा, गायक भाटखांडे, मनीपुर के राजा भाग्यचन्द्र, और इसी प्रकार के कई कलाकारों का

स्मरण भी शामिल है।

ऋषि अगस्त्य, कानू चोल वंश के राजा राजेन्द्र, महान सम्राट अशोक, पुष्यमित्र, शक्तिशाली और ईमानदार सम्राट खरबेल, चाणक्य और चन्द्रगुप्त, शूरवीर शालिवाहन, राजा समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, शैलेन्द्र और थप्परवाल। यह सब 20 से 23वें पद्यांश में अंकित हैं।

विशाल साम्राज्य के संस्थापक लाचित बरफूकन, हूण वंश के विजेता राजा यशोधर्मा विजय नगर साम्राज्य के संस्थापक श्री कृष्ण देव रे, काश्मीर के योद्धाराजा ललित साहित्य, बहादुर राणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, महाराजा रणजीत सिंह आदि का नाम 24 व 25वें पद्यांश में अंकित किया गया है। 26, 27 और 28वें में भौतिक-दार्शनिक वैज्ञानिकों और अन्य चिंतकों व समाज-सुधारकों का वर्णन है जिन्होंने अपने अपने क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की है, जैसे साख्य दर्शन के संस्थापक कपिल, भौतिकवादी दर्शनचार्य कणद, सर्जन सुश्रुता आयुर्वेदाचार्य, गणितज्ञ और तारा-वैज्ञानिक भास्कराचार्य और आर्यभट्ट, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर, रसायनज्ञ-वैज्ञानिक नागार्जुन, खगोल-वैज्ञानिक भारद्वाज, वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु, भौतिक-वैज्ञानिक चन्द्रशेखर वैकटारम्मन, और प्रसिद्ध गणितज्ञ रामानुज इत्यादि। भारत मां के अन्य प्रसिद्ध बेटे रामकृष्ण परमहंस, महर्षि दयानंद, विश्व कवि रविन्द्रनाथ टैगोर, राजा राममोहन राय, रामतीर्थ, महर्षि अरविन्द और विश्व प्रसिद्ध स्वामी विवेकानंद भी इसमें सम्मिलित हैं।

29 और 30वें पद्यांश में देशभक्त दादा भाई नैरोजी, महात्मा गांधी, महर्षि रमन, मदन मोहन मालवीय और कवि सुब्रह्मण्यम स्वामी, सुभाषचन्द्र बोस, भारत सेवा आश्रम संघ के संस्थापक स्वामी प्रणवानंद, वीर सावरकर, ठाकुरबप्पा, संविधान निर्माता डॉ. भीमराव अम्बेडकर समाज-सुधारक ज्योतिराव फूल्ले और केरला में समाज सुधारक श्री नारायण गुरु (के नाम अंकित है)।

इस महान अंतिम तीन पद्यांशों में प्रेरणा दी गई है कि संघ शक्ति के संस्थापक डॉ. के. बी. हैडगेवार, माधव सदाशिव गुरुजी गोलवलकर और अन्य महान पुरुषों, जिन्होंने हिन्दू-समाज को पुनःजीवित किया है, को सदैव स्मरण किया जाये। भारत माता के अन्य श्रद्धालु जो ईश्वर में लीन हो चुके हैं अथवा जिनके नाम यहां शामिल नहीं किए जा सके परन्तु उन्होंने चुपचाप भारत माता के शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है, जिन्होंने सामाजिक सुधार के लिए कार्य किए हैं और जिन्होंने अलग-अलग क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त करके भारत माता का नाम उजागर किया है, उन्हें प्रतिदिन याद किया जाए। अन्तिम पद्य में कहा गया है कि जो भी व्यक्ति इस भजन का हर रोज सादर भावना से पाठ करता है, वह राष्ट्र और अखंड भारत के प्रति समर्पित हो जाता है।

हिन्दू संगठन और विशेषतः आर.एस.एस. के दैनिक पाठ निर्धारित है एक,

एकात्मकता भजन भाव एकीकरण का पाठ, जिसका विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है और दूसरा है, आर. एस.एस. की प्रार्थना जो संघ का प्रत्येक सदस्य प्रतिदिन गुनगुनाता है, यह वन्देमातरम की शैली पर आधारित है, जिसमें भारत को हिन्दू राष्ट्र घोषित किया गया है।

एकात्मकता भजन/प्रार्थना के पहले 30 पद्यांश थे और इसे भारत भक्ति अलग (स्तोत्र) कहा जाता था और इसमें आर.एस.एस. संघ के संस्थापकों और हिन्दू राष्ट्र की स्थापना के लिए मर-मिटने वालों के नाम नहीं थे परन्तु अन्तिम तीन पद्यांशों में हैडगेवार और गोलवलकर को भी शामिल किया गया है। इस तरह ये दोनों प्रतिक्रियावादी भी मुख्यधारा में सम्मिलित कर दिए गए हैं।

एकात्मकता स्तोत्र एक आलोचनात्मक विश्लेषण

सामान्य पाठक के लिए यह निःसन्देह राष्ट्रीय एकता का प्रतीक लगेगा परन्तु वास्तव में यह विरोधाभास और साम्प्रदायिक भावना पैदा करने वाला है।

इस स्तोत्र पर साधारण दृष्टि डाली जाए तो यह बात सामने आती है कि यह विचारवादी दर्शन से जुड़ा हुआ है, और विचारवाद भी वह, जो हिन्दूवाद का आधार है। भाव यह कि यह दूसरे विचारवादी दर्शनों का न तो पूरी तरह समर्थन करता है और न ही उत्साहित करता है। वेद हमारे बहुत पुराने ग्रंथ हैं और ऋग्वेद का समय 1500 ई. पूर्व बताया जाता है और इन्हें हिन्दू विचारवादी अथवा आध्यात्मवादी मान लिया गया है। ऋग्वेद के अध्ययन से एक स्पष्ट प्रकृतिवादी समाज की झलक मिलती है और न ही वेद अनादि माने जा सकते हैं क्योंकि यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि कोई स्थूल वस्तु अनादि (भाव आदि और अंत से रहित) हो। अतः वेद न नैतिकता भरपूर और न ही वैज्ञानिक माने जा सकते हैं, जैसे कि हिन्दुत्व संगठन दावा करते हैं।

पहले जैन और बौद्धमत के प्रति आर.एस.एस. संघ की दृष्टि उपेक्षित-सी थी। आर.एस.एस. संघ के मुख्यवक्ता ऑर्गेनाइजर का लम्बे समय तक यही दृष्टिकोण रहा है। 1963 के जून अंक में स्पष्ट अंकित है कि जैन और बौद्धमत ने सामाजिक और राजनीतिक विचारधारा में कोई वृद्धि नहीं की है। लिखा है कि “किसी प्रकार के आर्यशास्त्र अथवा धर्मशास्त्रों जैसे किसी महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना ने जैनइज्म और न ही बुद्धइज्म कर सका है। इन दर्शन-प्रणालियों ने व्यक्तिगत आत्माओं की मुक्ति के लिए अलग-अलग मोक्ष शास्त्र ही लिखे हैं परन्तु अब एकात्मकता में बौद्ध ग्रंथ त्रिपिटका की बात तो की है परन्तु बौद्धों व नवबौद्धों के प्रति निंदनीय व्यवहार वैसा ही चला आ रहा है।”

फिर भी यह कहा जा सकता है कि इन प्रणालियों को तो शामिल किया गया है परन्तु बौद्ध-आन्दोलन को फलने-फूलने से रोका जा रहा है। अरुण शौरी ने देश

के प्रति निर्भाई डॉ. अम्बेडकर की सार्थक भूमिका को नकारते हुए लिखा कि “वे बौद्ध बनकर देश की मुख्यधारा से निकल गये थे।” डॉ अम्बेडकर को एक पद्यांश भाग में मात्र संविधान लेखक कहा है अर्थात् उन्होंने जैसे संविधान की पांडुलिपि ही तैयार की हो, संविधानिकवाद को जैसे उनका कोई योगदान न हो और न ही संविधान-निर्माण की प्रक्रिया में उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका ही हो! यहां यह भी स्मरण करना होगा कि ‘भारत भक्ति स्तोत्र’ में पहले डॉ. अम्बेडकर का नाम नहीं था, इसे अभी-अभी शामिल किया गया है।

एकात्मकता-स्तोत्र की गहराई से जांच की जाए तो मालूम होता है कि यह भारतीय आध्यात्मिक परम्परा को उत्साहित करता है, उसी परम्परा को, जिसने देश के साधारण कर्मियों, मजदूरों, गरीब किसानों और जन सामान्य को मानसिक नपुंसकता को अब तक शिकार बनाये रखा है। इसमें चार्वाक दर्शन के संस्थापकों और हीनयान बौद्ध परम्परा के दार्शनिकों का कोई स्थान नहीं है। इसमें एम. एन. रॉय, जवाहरलाल नेहरू, शहीद भगत सिंह आदि का कहीं वर्णन नहीं है। स्वतंत्रता संग्राम में योगदान देने वाले इन्कलाबी संगठनों का भी कहीं वर्णन नहीं है। टैगोर और राजा राममोहन राय उदारवादी समाज-सुधारक तो हैं परन्तु इन्हें सम्मिलित करना विरोधाभास युक्त कदम है अथवा इनके व्यक्तित्व को सीमित करना है।

इस स्तोत्र में मुसलमान नाम का न कोई विद्वान, न कोई स्वतंत्रता-संग्रामी, न रचनात्मक लेखक और न ही इतिहासकार शामिल किया गया है। देश के महान सम्राट अकबर बादशाह का नाम भी शामिल नहीं है जो कि हिन्दू-मुस्लिम एकता का सबल समर्थक था। स्वतंत्रता सेनानी फिरोजशाह महता, अली ब्रदरज़, अब्दुल कलाम आजाद इत्यादि नाम शामिल नहीं हैं।

संगीत, कला और साहित्य के क्षेत्र में मुसलमानों ने मील-पत्थर कायम किए हैं। तानसेन को भला कौन भूल सकता है? बहादुर शाह जफर और डॉ. इकबाल की उपेक्षा की गयी है। संगीत के क्षेत्र में अलाउद्दीन खां, उनके बेटे अली अकबर खां और बेटी अन्नपूर्णा को अलग रखा गया है, यद्यपि भारतीय संगीत के प्रति समर्पित होने के कारण मुसलमान भी इन्हें पूरा आदर नहीं देते थे। गालिब, मीर और अन्य (कवियों) को अलग कर दिया है, मुसलमानों के स्थान को पूजनीय नहीं माना गया है। भारतीय इतिहास में से इस्लाम के योगदान की बिल्कुल उपेक्षा करके अलगाववाद को उत्साहित किया गया है।

इसी प्रकार भारतीय ईसाइयों और मिशनरियों को अलग रखा गया है। ईसाइयत का भाषा से सम्बन्ध इस्लाम से भी पहले का है। ईसाई मिशनरियों का योगदान, विशेषतः शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में, भारतीयों की सेवा-सुश्रुषा में दिया है, उसके उदाहरण अनुपलब्ध हैं। ईसाइयत ने इस देश के सांप्रदायिक ताने-बाने को समानता की ओर मोड़ा है, फिर भी इनके प्रति उदासीनता दिखाई जाती है।

एकात्मकता में साम्प्रदायिकता का उदाहरण, इससे बड़ा क्या हो सकता है?

यदि व्यावहारिक स्तर पर गौर किया जाए तो बाबरी मस्जिद को गिराना क्या भारतीय आत्मा को मजबूत करने का कदम था? ईसाई मिशनरियों पर आक्रमण और नृशंस हत्यायें करना क्या एकता के कदम हैं? अन्तर-धर्म/अन्तर्जातीय विवाहों को और इन्हें सांप्रदायिक रंगत देना क्या राष्ट्रीय एकता की ओर ले जाने वाले कदम हैं? कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं

गुजरात के शहर बारदौली में मुस्लिम लड़के **हनीफ़** और जैनी लड़की **वर्षा** में परस्पर प्यार था। दोनों परिवार पूरी तरह इससे अवगत थे। जब इसकी सूचना वीएचपी और बजरंग दल वालों को मिली तो शोर मच गया कि मुस्लिम लड़के हिन्दू लड़कियों को फुसलाकर मुस्लिम देशों में **यौन शोषण** के लिए भेजते हैं। नगर के हालात बिगड़ने पर जब हनीफ़ के परिवार ने दोनों को पुलिस को सौंप दिया और कहा कि यह दोनों शादी रचाना चाहते हैं तो पुलिस ने हनीफ़ को हवालात में बंद कर दिया और वी.एच.पी. ने वर्षा को अपने कब्जे में लेकर उस पर अत्याचार करके, विवश कर प्रेस नोट लिखवाया कि हनीफ़ ने उसे यौन-शोषण के लिए विवश किया है। फिर, साम्प्रदायिक संगठनों ने शहर में विष उगला, परिणामस्वरूप मुसलमानों की लाखों की सम्पत्ति नष्ट की गई परन्तु बाद में वर्षा ने ही न्यायाधीश के सम्मुख बयान दिया कि वह हनीफ़ के साथ ही रहना चाहती है और यह भी कि पूर्व प्रेस नोट **वी.एच.पी.** वालों ने उसे मारपीट करके लिखवाया था।

गुजरात के दो और शहरों रणधीकपुर और संजोली में भी यही कुछ हुआ। जब संजोली के दो लड़कों **आरिफ़** और **टीनियों** के साथ दो हिन्दू लड़कियां **कांता** और **नंदा** अलोप हो गईं तो वी.एच.पी. तथा बजरंग दल ने रणधीकपुर के मुसलमानों को चेतावनी दी कि यदि 48 घंटे के अंदर-अंदर लड़कियां वापिस न मिलीं तो गंभीर परिणाम निकलेंगे। जब लड़कियां नहीं मिलीं तो दोनों शहरों में हिंसा की गई, परिणामस्वरूप 60 मुस्लिम परिवारों को घर-परिवार छोड़कर जाना पड़ा। इन संगठनों की सांप्रदायिक सोच की पुष्टि एक और घटना से भी हुई है, जिसके अनुसार एक हिन्दू लड़की एक आदिवासी लड़के के साथ चली गई परन्तु इन संगठनों ने कोई कार्यवाही नहीं की। संजोली शहर में आज मुस्लिम बाजार नष्ट हो चुका है।

बाबरी मस्जिद की घटना के बाद हिन्दुत्व-संगठनों की ओर से बयान आ रहे हैं कि दूसरे स्थानों पर स्थित महत्वपूर्ण मस्जिदों को भी गिराया जाएगा और इसकी तैयारियां हैं। दूसरी ओर इन संगठनों ने साम्प्रदायिकता के झंडे तले जमीनें हड़पने और मुस्लिम मस्जिदों पर अधिकार जमाना शुरू कर दिया है। **‘न्यू डेमोक्रेसी’** के सैकुलर संगठन की ओर से गुजरात से संबंधित एक रिपोर्ट में से उद्धृत किया गया

है। एक बाईआरा शहर में स्थित मुसलमानों की बस्ती के सामने एक बहुत कीमती जमीनी प्लाट था, जहां इन संगठनों ने रातों-रात मंदिर बना लिया। जब शोर मचा तो कहा गया कि मुसलमानों के कुछ शरारती लड़के मंदिर के ऊपर अंडे और हड्डियां फेंक रहे थे। बस, फिर क्या था, दंगे भड़क उठे, परिणाम निकला; खानदेशी मुसलमानों को शहर छोड़कर जाने को विवश कर दिया गया।

दूसरी घटना अहमदाबाद के गांव पिराना की है, जहां सूफी संत पीर इमामशाह की मजार थी, जिसकी पूजा हिन्दू-मुसलमान दोनों ही करते थे। वह हिन्दू मंदिर में परिवर्तित कर दी गई। सन् 1939 तक इस मजार का प्रबंध दोनों भाई-चारे की सम्मिलित कमेटी द्वारा चलाया जाता था। वी.एच.पी. ने षड्यंत्र के अधीन एक हिन्दू कर्सन दास को मजार का मुखी (काका) मनोनीत कर दिया। इस काका ने एक दिन (रातों-रात) हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां मजार में रख दीं और साजीया रस्म भी बंद कर दी। काका कर्सन दास अब आचार्य कर्सन दास बन बैठा है। अब यह मंदिर हिन्दू-मुसलमानों की सहनशीलता और सह-अस्तित्व का केंद्र न रहकर घृणा और साम्प्रदायिकता का केन्द्र बन चुका है।

‘न्यू डेमोक्रेसी’ की यह रिपोर्ट विस्तृत है और अन्य ऐसी घटनाओं का वर्णन करती है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ‘एकात्मकता-भजन’ का कीर्तन करने वाले संगठन किस तरह घृणित से घृणित दंगों द्वारा देश के अल्पसंख्यकों पर हावी होकर उनमें भय का अहसास पैदा कर रहे हैं। यदि यह कहा जाए कि वी.एच.पी. तथा ‘बजरंग दल’ से ‘आर.एस.एस.’ का कोई सम्बन्ध नहीं है तो आर.एस.एस. को इसका स्पष्टीकरण देना चाहिए।

अपनी कार्यशैली और विचारधारा की दृष्टि से एकात्मकता भजन के समर्थक संगठन फासिस्ट चरित्र के हैं। इसका मूल कारण है कि अपने प्रारम्भिक स्वरूप में आर.एस.एस. और इसके संस्थापक स्वयं इसी रुचि के स्वामी हैं। यह भजन मुख्यतः हिन्दूवाद का ही प्रचार-प्रसार है। इस विचारधारा का विश्लेषण पहले ही किया जा चुका है। एम.एन. राय ने मनु और जर्मन फिलास्फर नित्से को बराबर रखा है। डॉ. अम्बेडकर ने भी दोनों के विचारों में समानता पाई है। यही नहीं, महात्मा गांधी भी आर.एस.एस. को, जिसका यह भजन है, फासिस्ट संगठन मानते हैं। जब उन्हें बताया गया कि आर.एस.एस. ने देश के बंटवारे के समय बाघा-सीमा पर राहत-कैम्पों में प्रशंसनीय कार्य किया है तो गांधी जी ने उत्तर दिया था “परन्तु यह मत भूलो कि इसी प्रकार के कार्य हिटलर के नाज़ी और मुसोलिनी की रुमांड अधीन फासिस्ट भी करते रहे हैं।” और यह भी कहा था “आर.एस.एस. सर्वसत्तावादी दृष्टिकोण का अनुयायी एक साम्प्रदायिक संगठन है।”

इस ओर भी ध्यानाकर्षित होना चाहिए कि कुछ विद्वानों/नेताओं के हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों से सम्बन्धित विचारों की उपेक्षा करके उन्हें एकात्मकता-भजन के प्रचारकों के

रूप में प्रस्तुत किया जाता है जबकि वास्तविकता यह है कि वे हिन्दूवाद की परिभाषा को बहुत विशाल अर्थों में व्यक्त करते हैं, जैसे महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानंद, डॉ. राधाकृष्णन, सुभाषचन्द्र बोस इत्यादि। वैसे यह सभी 'हिन्दू चेतना' के मुद्दई भी थे। इनकी इस दुर्बलता का लाभ हिन्दुत्व-शक्तियां उठा रही हैं।

इनकी मूल विचारधारा के विरुद्ध कई महानुभावों के नाम इस भजन में सम्मिलित किए गए हैं जैसे अम्बेडकर, जगदीशचन्द्र बोस, स्वामी विवेकानंद की शिष्या निवेदिता, दादाभाई नैरोजी इत्यादि। अम्बेडकर ने तो हिन्दूवाद को ही अस्वीकार कर दिया है जगदीश चन्द्र बोस मात्र एक वैज्ञानिक थे। सुभाषचन्द्र बोस यद्यपि हिन्दू आध्यात्मिकता में विश्वास रखते थे परन्तु वह मुसलमानों के प्रति बहुत आदर की भावना रखते थे। निवेदिता, बाद में, इन्कलाबी संगठनों की साम्राज्य-विरोधी शक्तियों में सक्रिय रही हैं। इसी प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस की हिन्दूवाद की परिभाषा बहुत विशाल थी। वह बहुत उदारवादी थे और राजा राममोहन राय भी ऐसे थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अपनी विचारधारा को अग्रसर करने के लिए इन पुरुषों का मात्र नाम प्रयोग कर रही है। भारत माता 'हिन्दू अखंड भारत' है यह आर.एस.एस. के संस्थापक स्पष्ट कर चुके हैं।

इस देश में, यद्यपि राजवंशीय धारा ने अपना प्रभाव हमेशा बनाये रखा है परन्तु लोकतंत्र के विचारों की बात भी पराधीन समय से चली आ रही है। हमारी प्रमुख राजनीतिक संस्कृति राजतंत्र की समर्थक रही है जिसमें राजा और राज-पुरोहित (ब्राह्मण) की समूचे सामाजिक सरोकारों में प्रभुसत्ता रही है। समूचा हिन्दू धार्मिक साहित्य, जैसे रामायण, गीता, महाभारत आदि राजतंत्र का समर्थक है। यहां तक कि कौटल्य का 'अर्थशास्त्र', मनु की स्मृति, बृहस्पति का नीतिशास्त्र आदि सभी दस्तावेज़ प्रमुखतः राजतंत्र की ही बात करते हैं और इन्हीं को 'एकात्मकता-भजन' केन्द्र बिन्दु बनाता है। इस भजन की समर्थक शक्तियां व संगठन भी इन ग्रंथों में प्रयुक्त भाषा का प्रयोग करते हैं, जैसे राजा को 'राजन' कहना इत्यादि। इस दृष्टिकोण से यह भजन हिन्दू-एकता का भजन है न कि भारतीय-एकता का। इस भजन में संविधान में अंकित लोकतांत्रिक विचारों, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मूल अधिकारों इत्यादि का कोई महत्व नहीं है। अतः मूलतः यह भजन सेकुलर छवि का नहीं है और न ही प्रतिदिन इसका पाठ करने वाले संगठन जीवन के खुले विशाल अर्थों में विश्वास करते हैं। यद्यपि एकात्मकता भजन में स्त्रियों को सम्मान दिया गया है परन्तु ये सभी हिन्दू स्त्रियां ही हैं; किसी मुस्लिम या ईसाई स्त्री को इसमें शामिल नहीं किया गया। वैसे भी आर.एस.एस और बी.जे.पी. स्त्रियों की समान-स्थिति की समर्थक नहीं है। बी.जे.पी. की पहली मोर्चा-प्रधान मृदुला सिन्हा ने 1993 में स्पष्ट किया था कि "हम बी.जे.पी. वाले विभिन्न लिब्रेशन के विरुद्ध हैं क्योंकि

यह पुरुषों के विरुद्ध है। हम चाहते हैं कि स्त्रियां पुरुषों के साथ सामंजस्य बनायें क्योंकि यदि पति उन्हें त्याग दें तो कहां जाएंगी?" 1992 में प्रकाशित वी.जे.पी. की एक पुस्तक में स्त्री-अधिकारों के कानून को इस आधार पर रद्द किया गया है कि इन प्रगतिशील कानूनों ने परिवारों में झगड़े खड़े कर दिये हैं और परिवार नष्ट हो गये। वी.एच.पी. के स्वामी मुक्तानंद सरस्वती ने संविधान-समीक्षा के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए कह ही दिया कि **स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार देने से सामाजिक एकता समाप्त हो रही है।** आर.एस.एस के प्रमुख स्त्री-संगठन राष्ट्रीय सेविका सम्पत्ति की सदस्य क्यों आर.एस.एस के पुरुष-सदस्यों के साथ कार्य करती नहीं दिखाई दीं, यहां तक कि इस सम्पत्ति की प्रार्थना की शब्दावली भी अलग है। पिछले कुछ वर्षों से संघ-संगठनों द्वारा जैसी एकता पैदा करने के प्रयास किए जा रहे हैं, वह देशवासियों के सामने है।

निष्कर्ष

जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का आन्दोलन भी उतना ही पुराना है जितना स्वतंत्रता-संग्राम परन्तु हिन्दुत्व संगठनों द्वारा 1980 के दशक में अचानक राजनीतिक गतिविधियों में तेजी लाने के कुछ विशेष कारण हैं। हिन्दू राष्ट्रवादियों का अंतिम लक्ष्य ऐसी हिन्दू पालिटी स्थापित करना है जिसमें वर्ण आश्रम धर्म को पुनः लागू किया जा सके और दलितों की सहूलियतें समाप्त करके दलित-आन्दोलन या अम्बेडकरी आंदोलन को रोका जा सके। "It may be important in the I context to recall the—motive force behind Hindustan and direct linkage between its—and the emancipatory zeal of Dalits." (See 'SPRING THUNDER', spacial issue, p. 43)

इसी के साथ कम्युनिस्ट आंदोलन, समाजवादी आंदोलन को भी निर्बल करके, समाप्त करना है और लोकतांत्रिक ढांचे को नष्ट करके हिन्दू-पालिटी के आधार राजतंत्र-व्यवस्था स्थापित करना है इस जन-विरोधी कार्य में यह संगठन पिछले लगभग 60 वर्षों से अलग-अलग क्षेत्रों में जुटे हुए हैं। सन् 1981 में दलितों के आरक्षण के विरोध में गुजरात में भड़के जातीय-दंगों ने इन शक्तियों को तुरंत अवसर प्रदान किया। जहां कांग्रेस ने 'खाम' (KHAM) (क्षत्रिय, हरिजन, आदिवासी और मुस्लिम) संगठनों को पिछड़े और दलित व मुसलमानों की वोट हासिल करने के लिए उत्साहित किया, वहीं हिन्दुत्व शक्तियों ने उच्च-जाति के वोट प्राप्त करने और दलितों के आरक्षण समाप्त करने के लिए हिन्दू-कार्ड खेल कर उन्हें संगठित किया। हिन्दूवादी शक्तियों में ब्राह्मण, वैश्य, पटेल और पट्टीदार जातियां सम्मिलित हुईं। आरक्षण के पक्ष में केवल दलित ही लड़े। परिणामस्वरूप, लड़ाई दलितों और उच्च जातियों की बीच ही रह गई। वस्तुतः यह ऐसे ही होना था क्योंकि हिन्दुवादी

शक्तियों का लक्ष्य भी दलितों को सबक सिखाना ही था। गुजरात के 19 जिलों में से 18 जिलों में दलितों के विरुद्ध भयंकर दंगे और लूटमार हुई किसी भी गैर-दलित संगठन ने इनकी सहायता नहीं की।

जब 1985 में मंडल कमीशन की सिफारिशों का विरोध हुआ तो एक बार पुनः लड़ाई दलितों व उच्च जातियों के बीच ही रह गई। विडम्बना यह कि पिछड़ों ने, जिनके लिए मंडल कमीशन 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिशें की थीं, इस लड़ाई में दलितों का साथ नहीं दिया; दलित मूर्खों की तरह पिटते और हानि उठाते रहे परन्तु आश्चर्य है कि इस स्थिति में **हिन्दू राष्ट्रवादी कुछ दलित नेताओं को खरीदने में कामयाब हो गये**। इन्हीं नेताओं ने अडवाणी की रथयात्रा में भाग लिया और बाबरी-मजिस्द गिराने में सक्रिय भूमिका निभाई। अतः अयोध्या-समस्या को भड़का कर **सांस्कृतिक-राष्ट्रवादियों** ने अपने कार्यक्रम को आगे बढ़ाते हुए चार तरह से लाभ उठाया, जैसे

1. हिन्दू चेतना को हिन्दू राजनीतिक चेतना में परिवर्तित करके हिन्दू वोट-बैंक को मजबूत बनाया।
2. मंडल कमीशन की रिपोर्ट फौरी तौर पर लागू नहीं होने दी।
3. सबसे अधिक सफलता मिली आरक्षण के मामले में दलित और उच्च जाति के युवकों में परस्पर शत्रुता पैदा करके। मैरिट को आधार बनाकर पैदा की गई यह शत्रुता आज भी बनी हुई है और किसी समय स्थिति विस्फोटक भी हो सकती है **(विस्तार के लिए देखें समाचार 'दि हिन्दू' का 22 जून 2003 का रविवार, मैगजीन अंक में छपा नीना व्यास का लेख)**।
4. सन् 1992 से ही अल्पसंख्यक भाईचारे, विशेषतः मुसलमान और ईसाइयों के विरुद्ध दंगों में वृद्धि की है। यह भावना फैलाई जाती है कि यह दोनों अल्पसंख्यक समुदाय हिन्दू संस्कृति के लिए खतरा पेश कर रहे हैं मुसलमान अब भी मुस्लिम राजाओं के वंशज समझ कर हिन्दुओं में हेय भावना पैदा करते हैं और ईसाई दलितों व आदिवासियों तथा वनवासियों के धर्म परिवर्तन द्वारा ईसाइयों की संख्या में वृद्धि करके हिन्दू और उनकी संस्कृति को क्षीण कर रहे हैं।

गुजरात में किसी विशेष दलित या अम्बेडकरी या वामपंथी आंदोलन के मजबूत न होने की सूरत में हिन्दुत्व शक्तियों ने दलितों में एक भाग और आदिवासियों की कुछ आबादी में अपने कार्यक्रम लागू करने में कुछ सहायक पैदा करने में सफलता प्राप्त कर ली है। इस प्रभाव के अधीन 2004 में गुजरात में अल्पसंख्यक मुस्लिम भाईचारे का जो नरसंहार और आर्थिक नुकसान हुआ है,

उसमें (कुछ) दलितों ने भाग लिया है। इस नरसंहार के बाद, **चुनावों में दलितों ने हिन्दू राष्ट्रवादियों की खूब सहायता की है**, अर्थात् अपने ही शत्रु को राजसत्ता देकर शक्तिशाली बनाया है। इन दलितों के लिए इससे अधिक शर्म की बात क्या हो सकती है कि जिन शक्तियों से सदियों से पिटते आ रहे हैं, उनकी नीति न समझते हुए उनके समर्थन में जुट जायें। **देश की दलित लीडरशिप के लिए यह खतरे की घंटी है और भविष्य में, संभल जाने का संकेत भी।**

इसे एक संयोग ही समझें कि 1920 के दशक में स्वतंत्रता, आंदोलन बल पकड़ता है और वामपंथी आन्दोलन भी संगठित रूप धारण करता है। इसी समय दलित आन्दोलन डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में क्रियाशील होता है और यही समय है जब सांस्कृतिक राष्ट्रवादी आन्दोलन की संगठित रूप में स्थापना होती है।

सांस्कृतिक-राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम में दलितों, आदिवासियों के बाद कम्युनिज्म और कम्युनिस्टों पर आक्रमण करना है। इस आशय के लिए इन शक्तियों ने वामपंथी लेखकों और इतिहासकारों पर लिखी पुस्तक **‘The Only Fatherland’** के माध्यम से 1991 में आक्रमण आरम्भ किये। ये अभी भी उसी प्रकार जारी हैं। अब इन्होंने सैकुलरों को भी आक्रमण का लक्ष्य बना लिया है। भारत में मुख्यतः कम्युनिस्ट आम्बेडकरी और लोकतांत्रिक और सैकुलरिज्म में विश्वास रखने वाले लोग ही सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रम को आगे बढ़ा रहे हैं। हिन्दुत्व शक्तियों की ओर से इनके सीधे विरोध में **‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’** की विचारधारा का प्रचार/प्रसार किया जा रहा है। इन शक्तियों की बात एक ओर इस्लाम और ईसाइयों से तथा दूसरी ओर कम्युनिज्म, अम्बेडकरवाद और सैकुलरवाद के विरुद्ध **‘सांस्कृतिक संकट’** पैदा करके **‘सांस्कृतिक पिछड़ापन’** की स्थिति पैदा करने के बाद राजसी सत्ता द्वारा **‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’** देश के लोगों पर ठोंसना है। यह नितान्त प्रतिक्रियावादी आन्दोलन है। इसे रोकने के लिए जन-आन्दोलन पैदा करने की शीघ्र आवश्यकता है यह जन-आन्दोलन एक सांस्कृतिक विकल्प भी साथ लेकर चले तो इस प्रतिक्रियावाद को रोका जा सकता है। **‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’** को सबसे अधिक वैश्वीकरण से सहायता मिल रही है। अतः इसी के साथ वैश्वीकरण के विरुद्ध भी एकजुट होना चाहिए। यह समय, कम्युनिस्टों, आम्बेडकरी, लोकतांत्रिक और सैकुलर-चिंतकों, बोधियों, आदिवासियों, वनवासियों, मुसलमानों, ईसाइयों और सभी शोषित भारतीयों द्वारा संगठित रूप में इस प्रतिक्रियावादी आक्रमण से बचने का है। जिस तरह सभी अग्रगामी शक्तियों और मीडिया के महत्वपूर्ण हिस्से ने इन प्रतिगामी शक्तियों की अमानवीय और देश-विरोधी गतिविधियों को नंगा करके बखिया उधेड़ा है, उससे उज्वल भविष्य की आशा जगाती है।

संदर्भ

1. सिस्टर निवेदिता का वास्तविक नाम माग्रेट नोबल था, वह आयरलैंड निवासी थी और 45 वर्ष की आयु में उसका निधन हो गया था। संघ परिवार को शायद यह न मालूम हो कि अपनी आयु के अंतिम चरण में वह एंटी-ब्रतानवी इन्कलाबी सरगर्मियों में भाग लेने लगी थी और बंगाल में साम्राज्य विरोधी एक संगठन की स्थापना में वह अग्रणी थी और अब उसने साधुओं जैसे वस्त्र उतार दिए थे। उसकी विचारधारा में आए इस परिवर्तन से स्वामी विवेकानंद बहुत नाराज थे। निवेदिता के इस उदारवादी, प्रगतिशील दृष्टिकोण से देश-भक्त और इन्कलाबी लोग प्रसन्न थे (देखें पार्था बैनर्जी की पुस्तक *In the Belly of the Beast*, पृ. 66)
2. भारतीय संविधान की समीक्षा की पृष्ठभूमि में जो उद्देश्य है वह यही है कि किसी न किसी प्रकार से लोकतांत्रिक ढांचे की मजबूती और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के फैलाव को रोका जा सके। वामपंथी आज भी संविधान को अर्थहीन समझते हैं। संभवतः इसीलिए वे संविधान समीक्षा का उतना जोरदार विरोध नहीं करते, जितना करना चाहिए।

अनु. : तरसेम सागर

एक वैकल्पिक : दलित दृष्टिकोण की आवश्यकता

डॉ. कांचा इलैया

विश्व ने अभी तक चार बड़े धर्म और उनके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक-आध्यात्मिक प्रणालियों को देखा तथा अनुभव किया है। ये धर्म हैं बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम तथा हिन्दू धर्म। इन चारों में बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम को मोटे तौर पर उनके द्वारा रचे गए सिद्धांतों के आधार पर आध्यात्मिक लोकतन्त्र का धर्म कहा जा सकता है। इन सभी धर्मों में यह समतामूलक भाव विद्यमान है कि ईश्वर ने सभी मनुष्य को समान बनाया है किन्तु संस्थाबद्ध रूप लेने की प्रक्रिया में यानी मानव जीवन के लिए एक आचार संहिता बनाने तथा उसे लागू करने में इन तीनों धर्मों ने तानाशाही के नख-दंत विकसित कर लिये हैं और अमानवीय कुरीतियों को अपनाया है। अपना विरोध करने वाले व्यक्तियों तथा समूहों के प्रति आंतरिक रूप से तथा अपने विस्तार की प्रक्रिया दोनों में इन धर्मों ने हिंसा का सहारा लिया है। इन धर्मों के नाम पर बहुतेरे हिंसापूर्ण अत्याचार किए गए हैं लेकिन अपनी पुस्तकों में जिन सिद्धांतों को इन धर्मों ने रखा है उनसे अपने अनुयायियों को, चाहे वे किसी भी हैसियत के क्यों न हों, प्रबुद्ध होने के और उनमें प्रस्तुत आदर्शों की कामना करने और उन्हें प्राप्त करने के समान अवसर मिले हैं, हालांकि लैंगिक आधार पर समानता की बात इसमें शामिल नहीं है। बौद्ध धर्म में लिखित **आचार संहिता** के जनक बुद्ध का जीवन तथा उनकी शिक्षाओं पर आधारित **सुत्त** तथा **पिटकों** में शामिल मानव जीवन के सिद्धांत ही मानवता के पथ प्रदर्शक रहे हैं जो उन्हें सकारात्मक और अहिंसा के रास्ते पर आगे ले जाएंगे। बौद्ध धर्म के सबसे पहले अंतर्राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्थापित होने का यह एक प्रमुख कारण है। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के क्रम में अपने विरोधियों के प्रति बड़े पैमाने पर हिंसा का प्रयोग किया गया हो इसके कोई खास प्रमाण नहीं मिलते।

इस आध्यात्मिक समतावादी धर्म से उपजे सिद्धांतों ने एक मजबूत समाजवादी परंपरा को परवान चढ़ाया है और उनसे कई ने जीवन के सभी क्षेत्रों में मनुष्य की बराबरी स्थापित करने में गंभीर रुचि दिखाई है। चीन जो कि भारत जितना ही

विशाल देश है, ने नागरिक-सामाजिक जीवन में समानता की एक प्रबल भावना विकसित की है जिससे सरकार को अधिक सकारात्मक संस्थाओं को विकसित करने में सुविधा हुई है। समाजवादी सिद्धांतों की बहुत सी विशेषताएं जिनका चीनी लोग आदर करते हैं के मूल कारण के रूप में बौद्ध सामाजिक नियमों तथा कन्फ्यू शियस के दर्शन पर आधारित जीवन-मूल्यों की पृष्ठभूमि की बड़ी भूमिका रही है। व्यवहार में दोषों और कुरीतियों के बावजूद मार्क्स और माओ द्वारा प्रतिपादित मनुष्य मात्र की समानता के सिद्धांत के प्रति चीनी समाज में व्याप्त सम्मान का कारण उनके समाज में पहले से ही मौजूद बौद्ध विचार हैं। चीनी समाज की जड़ में विद्यमान बौद्ध विचारों ने चीनी लोगों को गहन प्रत्यक्षवादी बना दिया। इतिहास द्वारा सृजित प्रत्यक्षवादी सामाजिक आधार के बिना कोई भी समाज आधुनिक समतामूलक सामाजिक आधार का विकास नहीं कर सकता। सामाजिक नियमों की दृष्टि से समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही समाज का भविष्य तय करती है। एशिया के पश्चिमी क्षेत्र में धर्म के रूप में ईसाई धर्म के अपनी जड़ें फैलाने के बहुत पहले ही प्रत्यक्षवादी बौद्ध सिद्धांत पूरे पूर्वी एशिया में फैल गए थे। एक प्रत्यक्षवादी सामाजिक सिद्धांत की रचना करने में ईसाई धर्म बौद्ध धर्म के सदृश्यता था। हम बुद्ध और ईसा के जीवन और शिक्षाओं में समानता के बिन्दुओं को देख सकते हैं। संसार में आज अधिकांश भूभाग पर ईसाई धर्म छाया हुआ है। इसके अनुयायी भी सबसे अधिक संख्या में हैं। ईसा के ईश्वरीय प्रेरणा सम्पन्न होने और हिंसा के दृढ़ अस्वीकार के कारण यह धर्म संसार में अन्य धर्मों की तुलना में अधिक तेजी से फैल गया। आज बाइबिल और ईसा के जीवन से प्रेरित होकर गुलामी और अत्याचार से मुक्ति के लिए लड़ने वाले लोगों की संख्या सबसे अधिक हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि ईसाई समाज की कोख से जन्मे **स्वायत्त** राष्ट्रों यहां तक कि धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रों ने हिंसा का सहारा नहीं लिया। अपने समाज में धर्म विमुख तथा उनसे असहमत व्यक्तियों तथा दूसरी संस्कृतियों और विश्वास वाले लोगों के विरुद्ध उन्होंने घोर हिंसा का रास्ता अपनाया। बाइबिल नवसृजित राष्ट्रों के संविधानों का आधार रहा है। राष्ट्र की अवधारणा ही बाइबिल से विकसित हुई है, इसके बावजूद राज्य के विस्तार, क्षेत्र तथा प्रकृति के अध्ययन के लिए रचित राजनीति विज्ञान ने ईसा को हिंसा-मुक्त राष्ट्र के निर्माण के लिए प्रेरणा स्रोत के योग्य कभी नहीं समझा। हालांकि ईसा की अहिंसावादी शिक्षाओं का लोगों के जीवन पर अपने पूर्ववर्ती बुद्ध की अपेक्षा अधिक गहरा प्रभाव था। ईसा द्वारा इस आध्यात्मिक लोकतांत्रिक सिद्धांत का व्यापक प्रचार-प्रसार किया गया कि सभी मनुष्यों को ईश्वर ने बराबर बनाया है लेकिन मानव जीवन के सृष्टा और निर्णायक के रूप में ईश्वर की अवधारणा के संबंध में महात्मा बुद्ध ने मौन बनाये रखा। चूंकि ईश्वर की अवधारणा की बुद्ध ने कभी पुष्टि नहीं की। समानता संबंधी उनकी शिक्षाओं का ताना-बाना ईश्वरीय अध्यात्म से नहीं रचा

हुआ था। इसके विपरीत नैतिक व्यवस्था कायम करने के लिए उन्होंने कानून के विचार का प्रयोग किया। ईश्वर में आस्था रखने वाले लोगों की दुनिया में गैर आध्यात्मिक भाषा का प्रभाव सीमित ही रहता है और जन सामान्य के उत्साह को जगाने में यह समर्थ नहीं हो पाता। बाइबिल के पहले अध्याय में घोषित यह आधारभूत सिद्धांत कि मनुष्य चाहे वह स्त्री हो या पुरुष ईश्वर की दृष्टि में समान है, ईसाई धर्म द्वारा मानवता को दिया गया सबसे गहरा आध्यात्मिक लोकतंत्रवादी सिद्धांत है। हालांकि इस संदेश को कमजोर करने के प्रयत्न भी हुए। उसके बाद इस्लाम धर्म आया उसी एशिया महादेश से। पूर्ववर्ती परंपराएं जिनसे यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म जन्मे थे, से ही जुड़े होने का दावा इस्लाम ने किया। यद्यपि इस्लाम की छवि आज तलवार के सहारे फैले धर्म की बन गई है पर जिस धर्मग्रंथ पर यह आधारित है वह ईश्वर के बनाए मनुष्य मात्र की बराबरी के बिन्दु पर उतना ही दृढ़ है जितना कि बाइबिल। सारे मनुष्यों की बराबरी की अवधारणा ने इसके अनुयायियों को एक राष्ट्र के इस्लामी सूत्र में बांध दिया। एकता की इस भावना तथा इस प्रबल विश्वास कि ईश्वर उनके साथ है ने उन्हें इतना प्रेरित किया कि एक के बाद एक देश वे जीतते चले गए। इन विजय अभियानों में बहुत खून-खराबा हुआ। इस्लाम की विकृत व्याख्याओं के कारण आज विश्व में आतंकवादी हमले हुए हैं और इस्लामी समाज के भीतर स्त्रियों तथा धार्मिक मामलों पर असहमति दिखाने वाले लोगों पर अत्याचार की स्थिति बनी है पर इससे कुरान तथा पैगंबर मुहम्मद की मनुष्यों की बराबरी के विचार जो इस्लाम का आधारभूत विचार है के प्रति प्रतिबद्धता को कम कर के नहीं देखा जा सकता।

यह एक प्रबल धारणा रही है कि बाइबिल तथा कुरान दोनों पुरुष और स्त्री के बीच अटल असमानता के पक्षधर हैं पर उन्होंने भी जाति तथा वर्ण भेद तथा गैर बराबरी को कभी स्वीकार नहीं किया और इनके विरुद्ध आवाज उठाई। इस दृष्टि से बाइबिल और कुरान को पितृसत्ता का पक्षधर कहा जा सकता है पर उन पर वर्णवादी और जातिवादी होने का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। धार्मिक पुस्तकों में जिन **पितृसत्तात्मक** व्यवस्थाओं का जन्म हुआ है वे राष्ट्रों के विकास के मार्ग में बड़ी बाधा हैं। पूरी दुनिया में नारी आंदोलनों के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में **स्त्री-मुक्ति** के मुद्दों पर कई मौलिक प्रश्न उठाए गए हैं। अब ये नारी आंदोलन किस प्रकार बाइबिल तथा कुरान की पितृसत्तात्मक व्यवस्था से सम्बंधित नियमों को पुनः प्रतिपादित करते हैं यह भविष्य पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

इस्लाम के समतावादी विमर्श को इस धर्म को स्वीकार करने वाले प्रारंभिक लोगों में कबीलाई पहचान के बने रहने के कारण शुरू में ही आघात पहुंचा और इस्लाम के आरंभिक कानून निर्माताओं के समक्ष जो बड़ी चुनौतियां प्रस्तुत हुईं उनमें से एक यह थी कि **नवमुस्लिमों** का स्वागत किस प्रकार किया जाए। पर इस्लाम

ने जितनी तीव्र गति से सफलता अर्जित की और जन्म के बाद थोड़े समय में ही कला, विज्ञान, साहित्य, तकनालोजी, खोज तथा अनुसंधान के प्रोन्नयन में सबसे आगे आ खड़ा हुआ। इन सबका श्रेय इस धर्म द्वारा प्रस्तुत समानता तथा भाईचारे के सिद्धांत में इसके अनुयायियों के विश्वास को ही दिया जा सकता है। इस्लाम के अस्तित्व में आ जाने के बाद ईसाई तथा बौद्ध दुनिया को इस नए धर्म के लिए जगह बनाना जरूरी हो गया। इसके अलावा जैसा कि शोधकर्ताओं और विद्वानों के समक्ष तथ्य उद्घाटित हो रहे हैं, यूरोप में आए रिनैसां की प्रेरक शक्ति के इस्लामी स्रोत थे, जिनमें यूनानी ज्ञान के अवशेषों को संग्रहीत, अनुरक्षित और व्याख्यायित किया गया था। हिन्दू धर्म के संसार में इस्लाम को प्रवेश करने में कोई कठिनाई नहीं हुई और वस्तुतः यह अल्प समय में ही हिन्दू विज्ञान, गणित तथा दर्शनशास्त्र को पश्चिमी जगत् तक पहुंचाने में सहायक बना। व्यापार इस्लाम को सुदूरपूर्व तक ले गया और पिछली सहस्राब्दी में ही इंडोनेशिया, बांग्लादेश, अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान को हिन्दू धर्म से मुक्त कर वहां अपना प्रभाव स्थापित किया। इसके विपरीत हिन्दू धर्म किसी छोटे क्षेत्र या प्रदेश तक अपनी पहुंच बनाने में असमर्थ रहा क्योंकि वे क्षेत्र अन्य संगठित धर्मों के प्रभाव में पहले से ही थे। इस्लाम ने तो ईसाई धर्म को भी जीवन के लगभग सभी क्षेत्र जिनमें विज्ञान एवं टेक्नोलॉजी शामिल हैं, 16वीं शताब्दी तक चुनौतियां दीं।

3

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाई धर्म को इस्लाम की संगठित एकता को परास्त करने के लिए संघर्ष तथा अपना विकास करना पड़ा। कुस्तुनतुनिया को जीत लेने के बाद ईसाई जगत् को यूरोप में अपना आध्यात्मिक तथा सांसारिक दबदबा बचाए रखने के लिए स्वयं को एकीकृत तथा पहले से ज्यादा संगठित करना पड़ा। ईसाई जगत् के अपनी पराजय के अहसास जो धर्म युद्धों में उसके मुंह की खाने के कारण शिद्दत पकड़ गया था, ने उसे इस्लाम के साथ संस्कृति, विज्ञान एवं व्यापार के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा के लिए बाध्य किया। रिनैसां तथा सुधारीकरण तथा उसके परवर्ती काल में हुए कई आविष्कार तथा अनुसंधान इसी प्रतिस्पर्धा की इच्छा से हुए। उसके बाद से ही अन्य मतावलंबियों पर समूचे संसार में ही ईसाई संसार का प्रभुत्व रहा है। ईसाई धर्म ने स्वयं को आधुनिकता के पर्याय के रूप में स्थापित कर लिया है। जिन राष्ट्रों के अंदर विद्यमान सामाजिक शक्तियां एकीकृत हो जाती हैं तो वे अन्य राष्ट्रों पर अपना दबदबा बनाने की सामर्थ्य अर्जित कर लेते हैं। आध्यात्मिक एकता की धुरी पर एकता के अन्य रूप संगठित होते हैं। ब्राह्मणवाद जो हिन्दू धर्म के केन्द्र में है, के कारण भारत ने ऐसी धुरी बनने का अवसर खो दिया है। हिन्दू धर्म की जो वर्तमान दिशा है उससे पता चलता है कि यह अन्त की ओर बढ़ रहा है। समकालीन

हिन्दुत्व आंदोलन और बीजेपी की सरकार द्वारा हिन्दू धर्म के प्रभाव की प्रक्रिया को मंद करने की तिकड़मों ने इस की गति को और भी त्वरा प्रदान की है।

हिन्दू धर्म का जन्म ब्राह्मणवादी दर्शन की कोख से हुआ है जो कहता है कि ईश्वर ने मनुष्यों को बराबर नहीं बनाया है। यह सिद्धांत ऋग्वेद में ही प्रतिपादित है। इसने देश को क्षति पहुंचाई है। साथ ही इस ने भारतीय दलित बहुजनों को भी सबसे अधिक चोट पहुंचाई है। न केवल पुरुष सूक्त का मूल पाठ, जिसमें इस दर्शन को स्पष्ट आकार दिया गया है, बल्कि समग्र हिन्दू धार्मिक साहित्य में मनुष्य की गैर-बराबरी के सिद्धांत को प्राकृतिक और दैवीय सिद्धांत के रूप में सुनियोजित रूप से स्थापित किया गया है और इसी का प्रचार-प्रसार किया गया है। ऐसा करके उन्होंने अपने समय की सामाजिक ऊंच-नीच को इस प्रकार प्रतिष्ठापित कर दिया है मानो वे शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय हैं। अन्य सभी धर्मों में मनुष्य का एक समुदाय उत्पीड़ित हुआ है पर कालांतर में स्थितियां पलट जाती हैं और शोषक वर्ग को शोषित बनना पड़ा है। सामाजिक परिवर्तन के इस चक्र के कारण सरकारें बदल गईं, प्रभुत्व संपन्न वर्गों के समक्ष चुनौतियां खड़ी हो गईं और नियम-कानून ध्वस्त हो गए और यह उथल-पुथल एक बेहतर समतामूलक समाज के बनने पर ही थमी जिसकी समाज को कभी-कभी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। आध्यात्मिक संसार की संरचना लोक समतामूलक होने के कारण ही इन धर्मों में ये परिवर्तन आ सके। सुधार तथा न्याय के विचार धार्मिक आस्थावान लोगों का आदर्श बने जिससे सामाजिक दमन की व्यवस्था को उलट देने और सामाजिक श्रेणियों को एक नया क्रम देने की कोशिशें उन्होंने की। समाज का दोलक यदि किसी एक दिशा में अधिक खिसक गया तो उसे संतुलन की स्थिति में लाने के लिए एक क्रांति घटित हुई और यह क्रम हर विचलन को सही करने के लिए चलता रहा पर भारत की कई उच्च जातियों द्वारा समाज के दलित बहुजन वर्ग पर इतने लंबे समय तक दमन करते रहने का जो उदाहरण है वैसा मानव इतिहास में और कहीं नहीं मिलता। भारत की तथाकथित उच्च जातियों ने ऐसा करने के लिए आध्यात्मिक फासिज्म की एक प्रणाली ही गढ़ी।

दूसरे धर्मों ने अपना स्थायित्व बनाए रखने के लिए उद्यम किया है, हालांकि उनकी कोशिशों में कुछ महत्वपूर्ण अंतर हैं। इस्लाम ने हालांकि अपने धार्मिक ग्रंथ के मूल पाठ में परिवर्तन की अनुमति नहीं दी पर व्यवहारिक स्तर पर वस्तुतः इस्लाम ने कई प्रकार के परिवर्तन को जगह दी है और बदलते समय की आवश्यकताओं के अनुरूप स्वीकृत रीतियों तथा प्रथाओं को समायोजित करने के लिए धार्मिक नियमों की 'व्याख्या' के उपकरण का प्रयोग किया गया है। ईसाई धर्म ने ज्यों ही अपनी सत्ता चर्च में प्रतिस्थापित कर दी, अपने नियमों में परिवर्तनहीनता का यह चारित्रिक गुण धर्म और उसके साहित्य के स्तर पर बना

रहा। ईसाई समाज परिवर्तनकामी दबावों के प्रबल होने पर स्वयं में बदलाव के लिए तैयार था। और ऐसे परिवर्तन आए भी। ईसाई पुरोहित, उलेमा तथा अन्य धार्मिक सत्ता संपन्न लोग आवश्यकतानुसार सामाजिक रीति-रिवाजों तथा धार्मिक आस्था में सामंजस्य बिठाने के लिए जरूरी कार्रवाई करने में समर्थ थे। हिन्दू धर्म में संगठित चर्च का सा अवरोध न होने के बावजूद यह अपने आप में ही परिवर्तन विरोधी रहा है और यह एक जड़, भूतविहीन, इतिहासविहीन समाज, जिसमें समाज के लोगों की आवश्यकताओं तथा दबावों की उपेक्षा कर उच्च तथा निम्न सभी श्रेणियां (जातियां) सदा-सर्वदा के लिए आरोपित कर दी गईं, की भ्रामक छवि यदि हम इसे वास्तविक न भी मानें को पूर्णता प्रदान करने को उद्धत रहा। मनुष्य जीवन में परिवर्तन को रोकने का ऐसा व्यापक प्रयास, जिसके परिणामस्वरूप समाज में उन्नति करने के अवसरों से तथा अपनी क्षमताओं के अनुरूप अपना पूर्ण विकास करने से बहुतेरे लोग वंचित कर दिए गए और जिस कारण उन्हें घोर दुख और विपत्तियां झेलनी पड़ीं, को **आध्यात्मिक फासीवाद** ही कहा जा सकता है?

आध्यात्मिक फासीवाद की अवधारणा के संदर्भ में हिन्दू धर्म के ऐतिहासिक सार तत्व, जो कि मूलतः फासीवाद है, को देखा जाना चाहिए। यह धर्म सामाजिक गैर-बराबरी की व्यवस्था को मंहिमामंडित करने, तर्कपूर्ण बहस और बदलाव के प्रति इसकी घृणा, उत्पादक कार्य को लेकर इसकी उदासीनता और शारीरिक शक्ति, प्रतीकों तथा अनुष्ठानों जैसे वाह्य कार्यों पर अनावश्यक जोर देकर अपने प्रति असहमति अथवा अपने सुधार की सारी संभावना को समाप्त कर देने का प्रयास करता है। मेरी समझ में ऐसी स्थिति है, उससे धार्मिक ढांचे के अंदर से किसी प्रकार का परिवर्तन संभव प्रतीत नहीं होता। इस ऐतिहासिक सारतत्व को आधुनिक ब्राह्मणवादी संगठनों यथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल आदि का निर्माण करके पूरी तरह सक्रिय रूप दिया जा रहा है। अपने अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ इन संगठनों का लक्ष्य अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी), अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के युवाओं को संगठित कर और उन्हें त्रिशूल, चक्र, तीर, धनुष (जो हिन्दू मिथकीय इतिहास के नायकों द्वारा कई अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग के लोगों को मारने के लिए प्रयुक्त हथियार रहे हैं) तथा अन्य घातक अस्त्र देकर एक सैन्य शक्ति बनाना है ताकि उनकी योजनाओं एवं कार्यक्रमों को लागू करने के लिए आवश्यक बाहुबल उपलब्ध किया जा सके। इन वर्गों के लोगों को तो अस्त्र-शस्त्र दिए गए जब कि पुस्तकें तथा अन्य बौद्धिक उपयोग के अस्त्र ब्राह्मणों, बनियों और इतर उच्च जातियों के युवाओं को दिए गए। इसे त्रासदी ही कहना चाहिए कि अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़ा वर्ग के युवा लोग इन प्रयासों को अपने सशक्तिकरण के उपक्रम के रूप में देखते हैं, बिना यह महसूस किए

कि जब तक हिन्दू धर्म के मूल में अंतर्निहित ऊंच-नीच की व्यवस्था को समाप्त नहीं किया जाता उनकी स्थिति उच्च जातियों के सेवकों की ही रहेगी। जब कार्रवाई की जरूरत होगी तो इन वर्गों के लोग मोर्चे पर आगे लगाए जाएंगे पर जब विचार, संगठन और योजना की आवश्यकता होगी तो इन लोगों को दक्षता के अभाव के आधार पर बाहर छोड़ दिया जाएगा जिसका नुकसान इन वर्गों को भुगतना होगा।

यही विभाजन उच्चजाति के बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा की सुविधा भी जुटाता है जबकि निम्न जातियों के बच्चे क्षेत्रीय भाषाएं सीखने को विवश होते हैं। इसका उद्देश्य उन्हें उच्च जातियों के आधुनिक सेवकों के रूप में तैयार करना होता है। प्राचीन हनुमान की तरह इन जवानों को एक प्रकार की आधुनिक दासता में सहयोजित किया जा रहा है। उच्च जातियां उन्हें आधुनिक अस्त्र-सज्जित सांस्कृतिक शक्तिशाली दल में बदलना चाहती हैं पर उन निम्न जातियों का किताबों और पढ़ने-लिखने पर कोई अधिकार नहीं होगा क्षेत्रीय भाषाओं में इसकी जितनी सुविधा मयस्सर है बस वही उनकी पूंजी होगी। ये क्षेत्रीय भाषाएं उतनी संपन्न नहीं हैं कि समानता, आधुनिकता, सामाजिक प्रगति और आत्मज्ञान के वैश्विक विचार का अनुभव दे सकें और उन्हें आत्मविश्वासपूर्ण प्रशासक बनने के लिए तैयार कर सकें। स्थिति यह है कि कम्युनिस्ट हिन्दू भी इस भाषाई भेदभाव को बनाए रखते हैं या इसे और बढ़ाने को सक्रिय कोशिश करते हैं। शीर्षस्थ कम्युनिस्ट हिन्दू नेता अपने बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा देते हैं और जनसाधारण के बच्चों को क्षेत्रीय भाषाएं सीखने का उपदेश देते हैं। राष्ट्रवाद का **द्विद्वारा** पीटने का उद्देश्य भी यही है कि इस प्रकार के प्रभुत्व और दमन या वशीकरण की पद्धति को बनाए रखा जाए कुछ मामलों में इस राष्ट्रवाद को एक संकीर्ण क्षेत्रीय रूप भी दे दिया जाता है।

ब्राह्मणवादी शक्तियों का सीधा सा लक्ष्य है : दलित बहुजन अपने लिए नहीं उच्चजातियों की शिक्षा, आनंद, संपत्ति को बढ़ाने के लिए जिएं और काम करें। यह आधुनिक आध्यात्मिक फासीवाद अपने प्राचीन और मध्ययुगीन रूपों से कहीं अधिक खतरनाक है। यह फासीवाद भी बहुरूपिया बनकर अपना कार्य करता है। राष्ट्रवादी सांस्कृतिक तत्व के रूप में इस आध्यात्मिक फासीवाद की घुट्टी दलित-बहुजनों को पिलायी जा रही है, हालांकि उनमें से बहुतों ने इसका प्रभाव ग्रहण नहीं किया है।

प्राचीन काल में शूद्र के हाथों शूद्र और चांडालों के हाथों चांडालों को मरवाया जाता था और इस प्रकार उच्च जातियों का दामन इससे पाक-साफ भी रहता था। **सांस्कृतिक राष्ट्रवाद** की इसी विचारधारा से दुष्प्रेरित होकर बहुत सारे दलित बहुजन हिन्दुत्ववादी संगठनों के कार्यकर्ता बने। वे अपने ही दलित बहुजन भाइयों और बहनों, जिन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है की हत्या कर रहे हैं।

ऐसे समुदाय जिन्हें यह अहसास नहीं है कि वे और उनका जीवन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि दूसरे समुदाय और उनका जीवन, अपने को दूसरों से श्रेष्ठतर मानने वालों के जाल में फंस ही जाते हैं। ब्राह्मणवाद अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग को अपना चिरस्थायी दास मानते हैं, इसलिए पहला काम इस समस्या से निबटने का है।

बफैलो राष्ट्रवाद का औचित्य

हिन्दू धर्म ने अपने सारे प्रतीक सजीव अथवा निर्जीव, नस्लवादी तथा जातिवादी अनुत्पादक राष्ट्रीय मूल्यों से जोड़कर बनाए हैं। ऐसे निर्जीव मूल्य-आधारित प्रतीकों में एक स्वास्तिक का प्रतीक भी है। थोड़े अंतर को यदि नजरअंदाज कर दें तो हिटलर तथा हिन्दू आर्यवाद का यह प्रतीक चिन्ह है। यह स्वास्तिक दलित बहुजन समाज द्वारा अभिकल्पित एवं निर्मित हजारों उत्पादक उपकरणों में से किसी एक से भी नहीं मिलता-जुलता और न उनकी आध्यात्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है। जर्मनी में नकारात्मक सोच वाले लोगों की नकारात्मक महत्वाकांक्षा का यह प्रतिनिधित्व करता था और भारत में यही प्रतीक अब आध्यात्मिक फासीवादी राष्ट्रवाद और कभी-कभी दोपहिया वाहनों पर इसका प्रदर्शन, आध्यात्मिकता के प्रचार की बजाए अपनी धौंस जताने का भाव देता है। कुछ दलित बहुजन इसके निहितार्थ को समझे बिना ही इसका प्रयोग करते हैं। स्वास्तिक कभी भी दलित बहुजन आकांक्षाओं तथा संस्कृति का प्रतीक नहीं रहा है। आर्यों की वर्चस्ववादी उग्र संस्कृति का प्रतीक यह स्वास्तिक वस्तुतः दलित बहुजन जनता की संस्कृति तथा सपनों के रास्ते का एक अवरोध रहा है।

दूसरा प्रतीक जो आम लोगों में साधारणतया देखा जाता रहा है वह है **त्रिशूल**। उग्र राष्ट्रवादी तिलक ने जब से हिन्दू शस्त्रों को आरंभिक राष्ट्रवाद के काल में प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया, दक्षिणपंथी हिन्दुओं ने त्रिशूल को मुसलमानों, ईसाइयों तथा अन्य अल्पसंख्यक धर्मों के विरुद्ध हिंसा के हथियार, जिसे सोची-समझी रणनीति के तहत बनाया गया है, के रूप में प्रयुक्त किया है। इतिहास की दृष्टि से देखें तो यह शूद्र, चांडाल और जनजातियों के विरुद्ध उच्च हिन्दू जातियों द्वारा प्रयुक्त हिंसा का शस्त्र भी रहा है। ये उच्च जातियां एक बार अपनी पसंद का शस्त्र चुन लेने के बाद अपने लक्ष्य का क्षेत्र बदलती रही हैं। आरंभ में दीर्घकाल तक दलित बहुजन इनके निशाने पर रहे। अब हिन्दू उच्च जाति के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा विश्व हिन्दू परिषद ने मुस्लिमों तथा ईसाइयों को लक्षित कर त्रिशूल बांटने शुरू कर दिए हैं। त्रिशूल वितरण के समय की जाने वाली उद्घोषणाएं एकदम खुली और लोकलज्जारहित हैं : **‘शत्रुओं का वध करो’**। विडम्बना यह है कि एक धर्म के रूप में हिन्दूधर्म और पुरोहित वर्ग के रूप में ब्राह्मणों ने इन लोगों में पुस्तकें

वितरित करने का विश्वास नहीं दिखाया है इन लोगों को हिन्दू धर्म के वर्चस्ववादी प्रभाव में रखने के उपकरण के रूप में भी नहीं। दूसरे धर्म जैसे कि ईसाई धर्म या इस्लाम अपनी पुस्तकें बाइबिल या कुरान या अपने धर्म की अन्य पुस्तकें बांटने में विश्वास करते हैं पर हिन्दू संगठन भगवद् गीता सरीखी धार्मिक पुस्तकें उन लोगों के बीच जिन्हें वे हिन्दू (अपनी सुविधानुसार) बताते हैं, नहीं बांटते। ब्राह्मणवादी उच्चजातियों ने जो युद्ध की योजना रची है उसमें दलित बहुजन उनके त्रिशूलधारी पैदल सिपाही हैं। वे राजनीति की दुनिया में वोट की संख्या बढ़ाने और चुनावी-विजय के लिए दलित-बहुजन को हिन्दू के रूप में देखना चाहते हैं पर ब्राह्मणवादी हिन्दुओं पर ये दलित बहुजन शासन करें, यह उन्हें स्वीकार्य नहीं है।

किसी उत्पादक प्रतीक को अपने आध्यात्मिक जीवन में स्थान देने का प्रयास हिन्दू धर्म ने कभी नहीं किया है। वैश्वीकरण के युग के पूंजीवाद के उन्नत काल जिसमें दलित बहुजन के मन के खुलने और उनके सांस्कृतिक अधिकारों को एजेन्डे के रूप में प्रस्तुत करने की स्वीकृति की संभावना हो, में इस दलित वर्ग की मुखर होती आत्ममुक्तिकारी चेतना से अपने शासन को प्रस्तुत खतरों या चुनौतियों को हिन्दुत्ववादी शक्तियों ने महसूस कर लिया है। यही कारण है कि उच्च जातियां हिन्दू राष्ट्रवाद का प्रयोग उन प्रतीकों को स्थापित करने के लिए करते रहे हैं जो दलित बहुजन लोगों की जीवन प्रणाली तथा परिवर्तन तथा विकास की उनकी आशाओं के प्रति हमेशा से ही शत्रुभाव-संपन्न रहे हैं।

निर्जीव प्रतीकवाद के क्षेत्र में बौद्ध धर्म तथा कुछ बहुजन विचारधारा से प्रेरित दलित बहुजन प्रतीकों के रूप में कई उत्पादक अवयवों की रचना हुई। हिन्दू धर्म ने कभी उन्हें मान्यता नहीं दी और न ही भारतीय सांस्कृतिक जीवन में उन्हें वह स्थान दिया जो उन प्रतीकों को मिलना चाहिए था। हिन्दुत्व का मुख्य एजेन्डा ही यह है कि जनसाधारण द्वारा निर्मित उत्पादक प्रतीकों को हटाओ। बौद्ध धर्म पर आधारित प्रतीक स्वभावतः शांति तथा समता के प्रतीक थे और जनसाधारण की बहुमात्र उत्पादन की संस्कृति के प्रति सम्मान की अभिव्यक्ति हैं। उदाहरणतः बौद्ध धर्म ने बैलगाड़ी के पहिए को धर्मचक्र के प्रतीक के आधार के रूप में चुना क्योंकि बौद्ध धर्म ने कृषिक तथा यातायात की क्रांति को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार तत्कालीन भारतीय समाज में चल रही उत्पादकारी तथा परिवर्तनकारी प्रक्रिया का प्रतीक था पहिया। यह तत्कालीन विकासमान उत्पादन प्रक्रिया के अन्दर की प्रक्रिया थी। सड़कें तथा विश्रामगृह बनवाकर क्रांतिकारी कृषक उत्पादन तथा बैलगाड़ी वाली यातायात प्रणाली का विकास करना प्रथम महत्वपूर्ण बौद्ध शासक अशोक का सकारात्मक लक्ष्य था। सब जानते हैं कि कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने हिन्दू धर्म और इसकी हिंसक विचारधारात्मक प्रथाओं का परित्याग कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उसके पश्चात उसने प्रथम कल्याणकारी प्रशासन-व्यवस्था की नींव डाली

जिसने लोगों की आवश्यकताओं को जांचा-परखा और उत्पादकजनों की सकारात्मक संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया। अशोकचक्र उस समय के बदलते भारत की सकारात्मक मनोवृत्ति का परिचायक बना। यह परिवर्तन की संभावनाओं का भी परिचायक था क्योंकि पहिया जब घूमता है तो ऊपर का हिस्सा नीचे और नीचे का हिस्सा ऊपर जाता है। अशोक चक्र में उत्पादन क्रिया में सक्रिय भागीदार जनता ने अपने पसीने और खून की तस्वीर देखी। शव ढोने वाले लोगों ने अपने काम के लिए गाड़ी का प्रयोग किया। उन्होंने चमड़े ढोने के लिए इसे इस्तेमाल किया। कुम्हार गाड़ी से मिट्टी ढोने लगे। अपनी भेड़ों से निकाली ऊन से तैयार किए ऊनी कपड़ों को गड़रिए इधर-उधर ले जाने लगे। कृषक अपना अनाज, भूसा और अन्य वस्तुएं गाड़ियों से ढोने लगे। इस प्रकार पहिया उन्नति और विकास का प्रतीक था। हिन्दू धर्म ने उत्पादन तथा यातायात के ऐसे प्रतीकों को कभी नहीं अपनाया। हिन्दुत्ववादी विचारशास्त्री आज भी सम्राट अशोक को तिरस्कार पूर्वक देखते हैं। अशोक के मुकाबले उन्होंने समुद्रगुप्त या विक्रमादित्य को खड़ा किया, जिसने युद्ध और अन्य तरीकों से हजारों दलित बहुजनों की जान ली। इस प्रकार के राजाओं ने जीवन भर लगातार जनसाधारण का दमन और वध किया और ये ही उच्च जातियों के नायक हैं।

ग्रामीण उत्पादक जनता ने अपने रोजमर्रा के संघर्षों में उत्पादन की प्रक्रिया से प्रतीक विकसित किए। इन प्रतीकों में से कई उनके आध्यात्मिक जीवन का अंग भी बने। भारत में **चक्र** तथा **बर्तन** जनसामान्य के अपने प्रतीकों के अच्छे उदाहरण हैं। यूरोप में सामन्तवाद से पूंजीवाद में परिवर्तन की प्रक्रिया में ग्राम्य उत्पादकों ने **हंसुआ** और **हथौड़े** को अपना प्रतीक बनाया। साम्यवादी आन्दोलन ने बाद में इन्हीं चिन्हों को अपने ऐतिहासिक मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि चिन्ह बनाया। प्रश्न यह है कि उत्पादन और आध्यात्मिकता परस्पर सम्बद्ध हैं या नहीं? माना कि आध्यात्मिकता दूसरे संसार की बात करती है पर यह उत्पादन प्रक्रिया से अपना सम्बन्ध अनिवार्यतः तोड़ती नहीं है। हिन्दू धर्म ने उत्पादकता को नकारने वाले प्रतीक गढ़े और आध्यात्मिकता अनिवार्य केन्द्रीय प्रेरणा के रूप में युद्ध तथा हिंसा को चुना। हिन्दू धर्म के दोनों धार्मिक र्गथ युद्ध पर केन्द्रित हैं। प्रारम्भिक काल के समाजों स्वभावतः युद्धप्रिय होते थे तथा अधिकांश प्राचीन महाकाव्य यदि युद्ध का गुणगान नहीं करते तो उसे चित्रित तो करते ही हैं। इसके बावजूद इस प्रकार की मानसिक सोच को उसके अपने ऐतिहासिक क्षरण से आगे भी जीवित रखने से समाज निरुद्देश्य तथा निरर्थक टकराव के एक अंतहीन दुष्चक्र में फंस जाता है। जाति व्यवस्था की रचना इन्हीं हिंसापूर्ण तरीकों से हुई तभी वे इन्हीं हिंसात्मक प्रतीकों के इर्द-गिर्द घूमते हैं।

धार्मिक सुधारक ईसा तथा बुद्ध ने शान्ति और प्रेम के प्रतीकों से हिंसा के प्रतीकों के विरुद्ध संघर्ष का मार्ग चुना। पूरे संसार में बुद्ध तथा ईसा से पूर्व के धर्म

अन्धविश्वास तथा हिंसा केन्द्रित थे। आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत ही उनका दर्शन था। बुद्ध ने धर्म के इस रास्ते को बदला और ईसा ने अहिंसा और त्याग को आध्यात्मिक जीवन के सबसे महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में स्थापित किया।

ईसाई धर्म ने त्याग के सम्मानास्पद प्रतीकों के रूप में उस **सलीब** का चुनाव किया जिस पर ईसा ने लोगों की मुक्ति के लिए अपना जीवनोत्सर्ग किया। ईसा **‘ईश्वर का मेमना’** यानी आम लोगों के सरल हृदयी रक्षक थे। युद्ध तथा हिंसा के मूल्य तथा त्याग के मूल्य में अन्तर है। आधुनिक हिन्दू धर्म ने गांधी के अहिंसा के प्रयोग को हिन्दू सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की। वे भूल गए कि गांधी ने भागवत् गीता तथा रामराज्य के प्रतिमानों के भीतर रहकर कार्य किया। इन प्रतिमानों के केन्द्र में ही **युद्ध** तथा **हिंसा** का दर्शन था। एक ईसाई अपने दैनिक जीवन में हिंसा कर सकता है पर उसके कृत्यों को ईसा के त्याग के धर्म सिद्धान्त की स्वीकृति नहीं होगी और उस व्यक्ति द्वारा अपने कृत्यों के ईमानदार आकलन से संभव है उसमें अपनी भूल का अहसास जाग जाए और ईसाई आदर्शों के अनुरूप नहीं जी पाने के लिए उसमें पश्चाताप का भाव जाग्रत हो जाए। बाइबल का **‘ईश्वरीय राज्य’** का विचार आध्यात्मिक, सामाजिक और वैधानिक समानता के भाव पर आधारित है, जबकि रामराज्य का विचार एकदम प्रतिकूल मूल्यों पर टिका है। रामायण के धर्म सिद्धान्त का ताना-बाना हिंसा पर ही केन्द्रित है। इसके अतिरिक्त रामायण की कथा रामराज्य की कल्पना प्रस्तुत करने भर की नहीं है बल्कि यह तो राम द्वारा सीता को रावण से जीत कर वापस लाने के संघर्ष और कान के कच्चे राम द्वारा अफवाह के आधार पर सीता के बहिष्कृत किए जाने की कथा है। राम के शासन के किस विशिष्ट पहलू को आदर्श माना जाए, इस मुद्दे पर हिन्दुत्ववादी विचारशास्त्री मौन धारण किए रहते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि रामराज्य के निर्माण का आधार उच्च जातियों द्वारा उपयुक्त समझे जाने वाले शासन का ही रूप होता है।

मुसलमानों ने अर्द्धचन्द्र को सकारात्मक प्रयास के प्रतीक के रूप में चुना ताकि मनुष्य भी आगे चलकर एक दिन पूर्णाकार चन्द्रमा की स्थिति को प्राप्त करेगा। बालचन्द्र का दीखना उपवास और तप के मास रमजान के अन्त का संकेत होता है। यह हिंसा का प्रतीक नहीं है और इस प्रकार कुछ इस्लामी संगठन द्वारा आतंक की कार्यवाहियों के लिए नवचन्द्र के चिह्न के प्रयोग में तार्किकता नहीं है। ईसा और बुद्ध से अलग पैगंबर मोहम्मद **व्यावहारिकतावादी** थे वे ऐसे समाज और काल में रहे जो अत्यन्त हिंसापूर्ण था और उनके प्रारम्भिक अनुयायियों को ईसा की तरह जुल्म और अत्याचार सहने पड़े दूसरे राष्ट्रों को विजित करने का उनका उद्देश्य मुख्य रूप से उन लोगों तक ईश्वर के संदेश को पहुंचाना था न कि उन पर शासन करना या उनका दमन करना। तो भी कई अवसर ऐसे आए जब प्रारम्भिक मुसलमान

अपनी शत्रु सेना के हाथों समूल नष्ट हो जाने की स्थिति से दो-चार हो गए थे। इस्लाम ने आध्यात्मिकता के मर्म के रूप में न तो हिंसा को प्रस्तुत किया और न **आत्मोसर्ग** का युद्ध और आत्म-बलिदान दोनों मामलों में इसने स्वयं को प्रासंगिक बनाया। हिन्दू धर्म ने हिंसा को सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में प्रासंगिकता प्रदान की। बल्कि इसने हिंसा को अनिवार्य बनाया। हिन्दू ब्राह्मणवादी प्रतीक स्वास्तिक, जिसमें चार कांटे हैं और जिसे **चतुर्भुज** की संज्ञा दी जा सकती है, में हिंसा का एक अव्यक्त संदेश है और चक्राकार तीक्ष्ण दांतों वाले अस्त्र के फेंके जाने का आभास देता है। सभी हिन्दू अस्त्रों से मारे गए अपंग बनाए गए लोग दलित-बहुजन लोग थे। इन्हीं अस्त्रों को मुसलमानों, ईसाइयों तथा बौद्ध लोगों के विरुद्ध इस्तेमाल करने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक तथाकथित अहिंसक ब्राह्मण पुरोहित अहिंसा के नाम पर भगवान के रूप में उनके युद्ध अस्त्रों की पूजा करता है। यह नकारात्मक मानवमूल्य है। हिंसा पर केन्द्रित आध्यात्मिकता ने भारत की व्यवस्था को पिछड़ा बना दिया है। जिन लोगों ने इस प्रकार की आध्यात्मिकता से लाभ उठाया है वे इन विनाशकारी प्रतीकों की सदा पूजा करते हैं और जिन लोगों ने उनके कारण अपना सब कुछ खो दिया उन्हें कहते रहते हैं कि ये प्रतीक अपरिवर्तनीय तथा सर्वव्यापी हैं।

हिन्दू परम्परा में हल्दी, नीम की पत्ती जैसी वस्तुएं जो आम लोगों की औषधि का आधार हैं तथा हल, बेलचा, बर्तन तथा पहिया कभी आध्यात्मिक रूप से सम्मानजनक स्थान नहीं पा सके, क्योंकि अपनी उपयोगिता के कारण वे सांसारिक तथा अनाध्यात्मिक वस्तु ही बनी रहीं। किसी भी प्रकार की उपयोगिता के प्रति प्रचलित ब्राह्मणवादी विद्वेष ने अनुपयोगी रहस्यवादी तथा लड़ाकू प्रतीकों को उपयोगी, शान्तिप्रिय तथा आसानी से दलित बहुजन प्रतीकों के रूप में पहचान लिए जाने वाले चिह्नों के मुकाबले प्रतिष्ठा प्रदान की।

सजीव प्रजातियों को प्रतीक बनाने की जहां तक बात है हिन्दू ब्राह्मणवाद ने वैदिक काल से गाय को एक दैवी प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया है, हालांकि वैदिक युग में गाय की प्रतिष्ठा बलि के चढ़ावे के रूप में उसके महत्त्व और बलि देने वालों के भोज्य पदार्थ के रूप में उसकी उपयोगिता के कारण थी। आजकल गाय को राष्ट्रवाद की भावना से जोड़कर दिखाया जाता है। श्वेत रंग की गाय की एक विशेष नस्ल को भोजन के लिए सर्वोत्तम पशु माना जाता था। यह आक्रमणकारी आर्य समूह के साथ ही भारत में आई। आर्य ब्राह्मण तो हजारों गाय-बैलों को बलि चढ़ाने के नाम पर मार देते थे जैसा कि हिन्दू शास्त्रों में विस्तारपूर्वक लिखा भी है। उपयोगिता आधारित मूल्य के स्तर के रूप में इस्तेमाल किए जाते थे वैसे ही जैसे आज कई दलित बहुजन बकरे, भेड़ तथा मुर्गा-मुर्गियों का इस्तेमाल करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यजन अपने साथ एक विशेष प्रकार की गाय ही लेकर नहीं

आए बल्कि घोड़े की नस्ल भी लेकर आए। जैसा कि मैंने पहले कहा है गाय भोजन के निमित्त थी जबकि घोड़ा युद्ध के लिए था। आर्यों ने घोड़े को उत्पादन कार्य में कभी प्रयुक्त होने नहीं दिया। हिन्दू मिथकों में घोड़े को हम सदा रथ में जुते युद्धपयोगी पशु के रूप में ही देखते हैं। परिणामतः आज भी हम घोड़े को यातायात के कार्य में इस्तेमाल होते कम ही देखते हैं। बहुत हुआ तो आदमी की सवारी के रूप में यह इस्तेमाल होता है। यूरोप तथा अमेरिका में घोड़ा कृषिक तथा उत्पादक पशु था।

हिन्दू परम्परा ने अपने देश के पशुओं को नहीं अपनाया। उदाहरण के लिए आर्यों के आगमन के समय तक भैंस एक घरेलू तथा दुधारू जानवर के रूप में अच्छी तरह अपना स्थान बना चुकी थी। जिसे द्रविड़ संस्कृति ने पालतू बनाया था। वन्य पशुओं में भैंस सबसे शक्तिशाली थी और उसे पालतू बनाना कठिन कार्य था। ऐसा लगता है कि केवल दलित बहुजनों उनमें संभवतः वर्तमान यादवों का सामाजिक समूह जो आज भी पशुओं की सेवा करता है तथा उन्हें समूह में पालता है ने इन भैंसों को पाला। पशुओं को पालतू बनाने और उनके पालने में पशु मनोविज्ञान का गहन अध्ययन तथा पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है पर इस विज्ञान को ब्राह्मणों ने कभी नहीं अपनाया। वे कभी भी पशु को पसंद करने वाले नहीं रहे। गाय एक अत्यन्त आध्यात्मिक पशु है इस निष्कर्ष पर वे कैसे पहुंचे, हमें नहीं मालूम। निश्चय ही अन्य किसी पशु को उन्होंने यह विशेष प्रतिष्ठा नहीं दी और हिन्दू धार्मिक पुस्तकों में अन्य किसी पशु की शायद ही चर्चा की गई हो।

हाल में बीजेपी ने 'गौ' हत्या विरोधी बिल का प्रस्ताव रखा पर इसमें उन्होंने भैंस की रक्षा की बात नहीं की है जबकि भारत में उत्पादित दूध की अधिकांश मात्रा भैंस के दूध की होती है। हिन्दुत्ववादी शक्तियां तर्क करती हैं कि गौ हत्या का प्रश्न अयोध्या में राम के जन्म स्थान की ही भांति आस्था और भावना का मुद्दा है। आखिर क्यों गायें ही आध्यात्मिक पशु बनीं, भैंसे क्यों नहीं? कारण सीधा-सा है। भैंस काली है। द्रविड़ों की तरह जिन्हें कभी आध्यात्मिक महत्त्व नहीं दिया गया, भैंसों को भी आध्यात्मिक स्थान कभी नहीं दिया गया। ब्राह्मणवादी हिन्दू साहित्य ब्राह्मणों को भू-देवता बताता है और गाय को गौ माता क्योंकि यह सफेद थी और उनकी मुख्य भोज्य सामग्री थी। पीढ़ी दर पीढ़ी हिन्दू धर्म साहित्य ने मनुष्य में ब्राह्मणों को तथा पशुओं में गायों को पूज्य माना है।

भारतीय सामाजिक समूहों में शूद्र-चांडाल के समुदाय सर्वाधिक उत्पादक थे मादा पशुओं में भैंसों का सबसे अधिक उपयोगिता मूल्य था। आज भी है दूध देने की अपनी सामर्थ्य के कारण भैंस भारत के निर्धन परिवारों में भी सबसे अधिक प्रिय पशु है। तो भी हिन्दुत्ववादी इसका मूल्य नहीं समझते और इस कारण भैंस को राष्ट्रीय पशु की मान्यता नहीं दी गई है। गौ रक्षा के लिए जिस प्रकार सांविधानिक संरक्षण

की मांग की जाती है, भैंसों के लिए इस प्रकार का कोई आन्दोलन नहीं किया जाता। पश्चिमी दुनिया भैंसों को पालतू बनाकर घर में नहीं रख पायी अमरीका में बाहर से आकर बसने वाले लोगों ने उस महाद्वीप के मूल निवासियों का सफाया करने के क्रम में हजारों भैंसों को भी मारा क्योंकि वे काली भैंस से उतना ही डरते तथा घृणा करते थे जितना कि काले आदमियों से। उन्होंने कभी इस काले जानवर को पालतू बनाने की कोशिश नहीं की क्योंकि भैंसें अपने रंग के कारण तथा वहाँ के मूल निवासियों के लिए धार्मिक रूप से महत्वपूर्ण होने के कारण अन्दर से ही दुष्ट मालूम होती थी। भारतीय दलित बहुजनों ने इसे सिर्फ पालतू ही नहीं बनाया बल्कि इसे एक आज्ञापरायणता तथा दुधारू पशु के रूप में बदल दिया। भारत में उत्पादित दूध का 75 प्रतिशत देश की भैंसों से प्राप्त होता है। यह विचित्र बात है कि हिन्दू धर्म साहित्य में गाय के दूध, भारतीय खाद्य संस्कृति एवं विरासत में इस के योगदान तथा इसकी पवित्रता का खूब बखान किया गया है परन्तु भैंसों के ऐसे ही योगदान की थोड़ी भी चर्चा नहीं की गयी है, हालांकि तथ्य यह है अधिकांश भारतीय शिशु भैंस के दूध के बिना जीवित नहीं रह सकते। भैंस का अपवित्र दूध ऐसा उत्पाद कभी माना ही नहीं गया जिस पर कुछ लिखा जा सके। इनका धर्मशास्त्र इस संबंध में पूर्णतया मौन धारण किए है। तो भी भैंस का दूध, मांस, उसकी वाहक शक्ति, ईंधन तथा खाद के रूप में उसका योगदान गाय की तुलना में कई गुणा अधिक है, फिर भी हिन्दू धार्मिक साहित्य, हिन्दू स्मृति तथा हिन्दू संस्कृति में भैंस इतनी अदृश्य क्यों है? ऐसा तो नहीं कि काला रंग होने के कारण देश के इस मूल पशु को विदेशी आक्रान्ताओं ने पसंद नहीं किया और इसकी धैर्यपूर्ण सेवा का फल उसे दुष्टता का प्रतीक बनाकर दिया।

काला तथा गोरा मानव दृष्टि में सामान्य रूप से तथा ब्राह्मणवादी सोच में विशेष रूप से इतना प्रतिकूल क्यों बन गए? पूरे इतिहास में सभी साफ रंग के मनुष्यों में नस्लवादी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रही हैं। अमेरिका तथा अफ्रीका के काले लोगों को उपनिवेशवादी यूरोपियन तथा अमेरिकी गोरों के नस्ल-भेद की नीतियों के विरुद्ध एक बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी। जाति का निर्माण इसी मानसिक सोच से हुआ। इसे सिद्धान्त रूप में लाने का सबसे पहला प्रयास भारत में किया गया जब पहला विदेशी आक्रमणकारी युद्ध भारत के निवासी द्रविड़ों तथा बाहर से आए हल्के भूरे रंग के आर्यों के बीच लड़ा गया। वर्णभेद का प्रथम साक्ष्य ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में मिलता है।

वर्णाधारित भारतीय नस्लवाद के क्या निहितार्थ हैं? आज उत्पादन से जुड़े सभी भारतीय जाति-द्वेष के शिकार हैं। इसके बड़े गहरे आयाम हैं। जातिभेद जब लिंगभेद से जुड़ता है तो शोषण तथा भ्रष्टाचार के नए रास्ते बनते हैं। किसी को यदि भारत के नस्ल या जाति उन्माद से ग्रस्त देश होने को लेकर संदेह है तो उसे किसी भी

समाचार-पत्र का वैवाहिक विज्ञापनों का स्तंभ देखना चाहिए और गौरवपूर्ण सुन्दर कन्या की मांग करने वाले वरों की गिनती करनी चाहिए। ये दो शब्द इतने पर्यायवाची हो गए हैं कि श्यामवर्णा वधु से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने इस दोष या अयोग्यता की क्षतिपूर्ति के लिए अधिक दहेज धन लाएगी। ऐसा घोर नस्लवादी नियन्त्रण तो नात्सी लोग भी अपने सुजनन-विज्ञान (**Eugenics**) से नहीं कर पाए।

इसी नस्लवादी सोच ने अपने पांव पशु जगत तक पसार लिए हैं। हिन्दू राष्ट्रवाद के पूरे काल में गाय-जिसमें श्वेत नस्ल की चारित्रिक विशेषताएं हैं को उच्च धार्मिक महत्ता प्राप्त पशु के रूप में प्रस्तुत किया गया। गांधीवादी राष्ट्रवाद ने भी इसे एक बड़े राष्ट्रीय पशु का स्थान दिया और गौ रक्षा को एक संवैधानिक उद्देश्य बना दिया। संविधान के नीति-निर्देशक तत्व में इसे एक उद्देश्य बनाया गया है। जब ऐसा करने के औचित्य पर प्रयत्न किया जाता है तो क्षमा याचना करते हुए बार-बार कहा जाता है कि ऐसा दुग्ध उत्पादन में इसकी उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए ऐसा किया गया है। इस हास्यास्पद तर्क के बारे में क्या कहा जाए कि ये विचारवान सुधारक इस तथ्य की घोर अनदेखी करते हैं कि दुग्ध उत्पादन में भैंस का योगदान गाय से कहीं अधिक है। एक बार फिर हम वर्ण और जाति के प्रश्न पर लौटते हैं।

ये भारत के द्रविड़जन ही थे जिन्होंने संसार के प्रारंभिक काल में नस्ल द्वेष से ग्रस्त इस प्रकार के दार्शनिक विचारों के विरुद्ध लड़ाई लड़ी। अफ्रीकी काले लोगों का गोरों से संपर्क तो आधुनिक उपनिवेशवाद काल के आरंभ में हुआ। **क्लासिकी श्वेत नस्लवाद** ने आधुनिक अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होकर अफ्रीका में भीषण नस्लवाद की नींव रखी किन्तु वहां लोगों ने ईसा की शिक्षा से अभिप्रेरित होकर काला सुन्दर है (**Black is beautiful**) के विचार को स्थापित किया और उनके नस्लवादी सिद्धान्त को पराजित किया। नस्लवाद ने रंगों के एक सिद्धान्त पर जिसके अनुसार कुछ रंग ईश्वर से तथा कुछ अन्य शैतान से सम्बद्ध थे, जातिगत आधार पर श्रेष्ठता तथा हीनता का एक मजबूत सिद्धान्त रचा। उन्होंने इस विचार का प्रचार-प्रसार किया कि श्वेत रंग शान्ति तथा ईश्वरत्व का प्रतीक है जबकि श्याम रंग विपत्ति तथा दुष्टता का।

रंग केवल इस बड़े विश्व में मौजूद नहीं हैं। रंग मानव शरीर के भीतर भी हैं। सफेद रंग के शुभ और श्रेष्ठ तथा काले रंग के अशुभ और हीन होने का सिद्धान्त हालांकि व्यापक विश्व के संदर्भ में बना, इसका विस्तार मनुष्य के पहचान के क्षेत्र में हो गया। इस प्रकार मनुष्य के शरीर बाल, दांत, जीभ और अन्य अंगों के कइ रंग दो अनिवार्य और एक दूसरे से भिन्न कोटि में बांट दिए गए। चूंकि इसे तय करने वाले आरंभिक लोग गोरे थे उनका अपना रंग श्रेष्ठ ठहरा जबकि काला या

अश्वेत रंग हर दृष्टि से हीन घोषित किया गया। भारतीय द्रविड़ लोगों ने की इस प्रकार की वर्ण आधारित श्रेष्ठ या हीन वर्गों में लोगों के बांटने का विरोध किया था और आर्यों ने उनके इस विद्रोह को कुचलने के लिए हिंसा का इस्तेमाल किया था। इस आर्य नस्लवाद के विरुद्ध एक बड़ी लड़ाई लड़ने वाले प्रथम द्रविड़ भारतीय थे पेरियार ई. वी. रामास्वामी, भैंस का राष्ट्रवाद या बफेलो नेशनलिज्म (**Buffalo Nationalism**) के इस विचार के विकास के लिए मैं पेरियार रामास्वामी की ऋणी हूँ उसी प्रकार जैसे जाति के प्रश्न को समझने के लिए अंबेडकर की आभारी हूँ। मैं अपनी इस समझ को प्रचारित करने के लिए अंबेडकरवादी तथा मंडल आन्दोलन के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ।

‘बफैलो नेशनलिज्म’ का रूपक

‘गौ’ राष्ट्रवाद हिन्दू या दूसरे शब्दों में ब्राह्मणवादी राष्ट्रवाद के रूप में जाना जाने लगा है। ब्राह्मणवादी सामाजिक शक्तियों में सामाजिक श्रेष्ठता की एक ऐतिहासिक भावना है चाहे राजनैतिक या विचारधारात्मक रूप से उनका संबंध किसी से भी हो। गांधी ने गौ राष्ट्रवाद के सिद्धान्त की रचना की तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ब्राह्मणों की व्यापक उपस्थिति उनके मन में थी। गाय की पवित्रता का विचार तथा उस पवित्रता को राष्ट्रवाद के राजनैतिक एजेन्डे से जोड़ना एक दुष्टतापूर्ण प्रपंच था जिसे भारतीय ब्राह्मण बुद्धिजीवियों ने रचा। हिन्दू ‘गौ’ राष्ट्रवाद को उपनिवेशवादी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष के काल में ब्रिटिश सरकार के विरोध के रूप में खड़ा किया गया पर वास्तविक ऐतिहासिक अर्थ में इसके इरादे दलित बहुजन विरोध के थे। दो राष्ट्र के सिद्धान्त को मुस्लिम नेताओं ने ज्योंहि अभिव्यक्त करना शुरु किया इसमें मुस्लिम विरोधी भाव भी सफलतापूर्वक जोड़ दिया गया।

यह राष्ट्रवादी रूपक ब्राह्मणों और बनियों के शाकाहारवाद को एक श्रेष्ठतर भोजन संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा गौमांस भक्षण विरोधी विचार के रूप में विशेष रूप से रखने के लिए तैयार किया गया क्योंकि गौमांस को मुसलमानों की भोजन संस्कृति का अंग माना जाता था। पर लगभग सभी राष्ट्रीय नेता जिनमें गांधी भी शामिल हैं, जानते थे कि मांस तथा गौमांस भारतीय दलित बहुजन समाज की भोजन संस्कृति से गहरे जुड़े हैं। चूंकि राष्ट्रवाद का संबंध संस्कृति से होता है, ब्राह्मणवादी वर्चस्व के आंतरिक ऐतिहासिक आयामों को उस समय शूद्र, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोग नहीं समझ पाए। आर्य नस्लवाद तथा दलित भोजन संस्कार के प्रश्न पर अंबेडकर तक को गुमराह किया गया। जाति के आर्य नस्लवाद से संबद्ध होने के विचार को उन्होंने नहीं माना और अपने अनुयायियों को गौभक्षण करने से मना किया। गांधी ने जब गौरक्षा और शाकाहार का अभियान चलाया तो इसे राष्ट्रवाद में आध्यात्मिकता का रंग जोड़ने का प्रयास समझा गया।

इसके पीछे छुपे राजनीतिक एजेंडे को बहुतेरे लोग नहीं समझ पाए। इसका पूरा अर्थ तो अब जाकर स्पष्ट हो रहा है।

गौ-राष्ट्रवाद एक खतरनाक द्रविड़ विरोधी तथा दलित बहुजन विरोधी विचार है। द्रविड़ों का 'काला सुन्दर होता है' का विचार और भोजन की विविधता की उनकी संस्कृति की वैधता को यह तोड़ता है। निकोलस डिर्वस ने अपनी कृति 'कास्ट आफ माइन्ड : कोलोनाइजेशन एंड द मेकिंग आफ मॉडर्न इंडिया' (प्रिन्सटन, 2001) में प्रमाणित किया है कि किस प्रकार ब्राह्मण पंडितों ने उपनिवेशवादी सरकार की इस पूरे मामले की समझ को गलत दिशा दी। आज भी बहुत से यूरोपियन गौ राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक रूप से श्रेष्ठतर मानते हैं। उनमें से कई ब्राह्मणवादी शाकाहारवाद के झांसे में आ जाते हैं। भारत में उपनिवेशवाद ने घोर जातिवादी भूमिका निभाई जिससे ईसाई मिशनरियां भी जाति प्रथा पर प्रहार नहीं कर पाई। आध्यात्मिकता की उस प्रणाली, जिसके अंतर्गत गाय को आदर दिया जाता था तथा अहर्निश उसकी पूजा-उपासना की जाती थी, को सामाजिक आध्यात्मिक रूप से श्रेष्ठतर माना गया। उपनिवेशवादी शासकों, विद्वानों तथा मिशनरियों को सेकन्ड हैंड ब्राह्मणवाद में मिला लिया गया था। यही कारण है कि उन्होंने भारत का पश्चिमीकरण नहीं किया तथा आधुनिकता बहुत ही कम लाई। यह अफ्रीका की स्थिति से भिन्न थी क्योंकि वहां उनके मार्ग में बाधा बन कर प्रस्तुत होने वाला ब्राह्मणों जैसा शक्तिशाली सामाजिक गुट नहीं था। वहां गौरा नस्लवाद काली जनजातीय संस्कृति के विरुद्ध सीधे सक्रिय था, न कि जातिप्रथा जैसे पहले से ही विद्यमान और संस्थागत रूप ले चुके नस्लवाद के माध्यम से। हालांकि कई काले अफ्रीकी आज निग्रो संस्कृति के विनाश और उसके स्थान पर पूरी तरह से श्वेत आधुनिकतावाद को थोपने की आलोचना करते हैं, इसके बावजूद तथ्य यह है कि भारत के दलित बहुजन लोगों को जो आज भी देश में ऐतिहासिक दमन के दुष्चक्र के विरुद्ध संघर्षरत हैं, की स्थिति के विपरीत काले अफ्रीकियों को आधुनिकता के लाभ उपलब्ध हैं (और हानि भी हैं क्योंकि उनके समाज को उपनिवेशवादी सत्ता के अंतर्गत लाने में कोई बिचौलिए की भूमिका नहीं निभा रहा था। डेढ़ सौ वर्षों की अवधि की भीतर ही काले अपने भाग्य के मालिक स्वयं बन गए हैं। शुरू-शुरू में यूरोपियन बाइबिल लेकर गए और अफ्रीकी जनजातियों को इसे देकर उनकी जमीन ले ली। कुछ समय के लिए जमीन उनके हाथ से निकल जाने पर भी उन्हें सामाजिक तथा सांस्कृतिक मुक्ति दिलाने वाला ईश्वर मिला। ईसा को उन्होंने अपने काले रंग में ही देखा और उससे यानी नेक और भले लोगों की मुक्ति की लड़ाई लड़ने वाले ईसा से एक आत्मीय संबंध स्थापित किया। यूरोपियन लोगों ने जो बाइबिल उन्हें दी उसी बाइबिल की सहायता से उन्होंने ईसा को यूरोपियन लोगों से ले लिया और अपना बना लिया।)

भारत में ईसाई धर्म की परिवर्तनकारी शक्ति जाति के लेंस से छन कर निकली। यह भुला दिया गया कि ईसा एक बड़ई के पुत्र थे और उन्हें उपनिवेशवादी मालिकों या फिर निखट्टू ब्राह्मणों की छवि में प्रस्तुत किया गया। भारतीय ईसाई जब ईसा को गड़रिया बताते थे तो वे इस बात को अक्षरशः नहीं लेते थे उन्होंने ईसा का दलितीकरण कभी नहीं किया। केरल के सीरियाई ईसाइयों ने हिन्दू ब्राह्मणवाद से निकट का संबंध स्थापित किया तथा ईसा तथा दलित बहुजन दोनों के शत्रु के रूप में काम किया। उन्होंने भेड़ों से गड़रिया को अलग कर दिया और ईसा को नस्लवादी तथा जातिवादी बना दिया। भारतीय ईसाइयों की शैक्षिक संस्थाओं ने पैसों के बदले ब्राह्मण तथा बनियों के बच्चों को अंग्रेजी सिखाई, कैथोलिक सन्यासिनों तथा सन्यासियों ने नस्लवादी तथा जातिवादी शक्तियों का एक राक्षसी वर्ग बनाने में अपना समय और ऊर्जा लगाई जिसने अन्ततः उनके विरुद्ध ही काम किया। अफ्रीका में बाइबिल ने जहां सामाजिक परिवर्तन का कार्य किया वहीं भारत में बाइबिल एक अन्य भागवत गीता बन कर रह गई। अफ्रीका में बाइबिल अंग्रेजी या यूरोपियन भाषा का वाहक भी बनी पर यह उपकरण अफ्रीकियों को अपना देश पुनः मिल जाने पर उनके ही हाथ में रहा। दक्षिण अफ्रीका जैसा देश भारत से अधिक आधुनिक बना पर भारत के ब्राह्मणों ने बाइबिल और उसके संदेश की भूमि से अदला-बदली संभव नहीं होने दिया। अफ्रीका औपनिवेशिक भाषा की विरासत को इस्तेमाल कर लाभ उठा रहा है पर ब्राह्मण बनिया तथा नवक्षत्रीय लोगों ने ब्रिटिश लोगों से अंग्रेजी ली और ब्रिटिशों के चले जाने के बाद देश तथा उसके उद्योग का नियन्त्रण अपने हाथों में ले लिया।

जाति पर शोध करने वाला कोई भी यूरोपियन लेखक ब्राह्मण मानस को समझ नहीं पाया है। ब्राह्मण मन न तो राष्ट्र की चिंता करता है और न उसमें रहने वाले लोगों की। उसका लक्ष्य होता है भौतिक लाभ तथा आनुषंगिक शुद्धता। यह मूलतः अपने ही पेट की चिंता करता है कि उसे क्या खाना चाहिए और किस सामग्री से उसका पेट दूषित होगा। जाहिर है उसके पेट को भरपेट शाकाहारी भोजन चाहिए बिना किसी शारीरिक श्रम के। हिन्दू धर्म को अन्दर से सुधारने के अपने सारे प्रयासों के बावजूद गांधी पेट की इस मनोग्रस्ति से स्वयं को बचा नहीं पाए। सरोजिनी नायडू ने लिखा है कि गांधी का शाकाहारवादी राष्ट्रवाद, कांग्रेस तथा राष्ट्र दोनों को मंहगा पड़ा। बफैलो राष्ट्रवाद (Buffalo Nationalism) इस शाकाहारी राष्ट्रवाद की प्रतिस्थापना है। भैंस समूचे द्रविड़ों और अब दलित बहुजन का प्रतिनिधित्व करती है। यह इस विचार को आगे रखती है कि काला सुन्दर होता है। यह मानव की और मानव श्रम की गरिमा का प्रतीक है। यह वर्णों की समानता, नस्लवाद के अन्त का प्रतिनिधित्व करती है। अल्पसंख्यक धर्मों के राष्ट्रवादी क्षितिज के फैलाव की बड़ी संभावनाएं जगाती है। शिक्षा और ज्ञान के पूरी तरह से देसी विचार को जन्म देती है। यह और भारतीय

राष्ट्रवाद के एक नए विमर्श का आरंभ करती है। 'काला रंग सुन्दर है' यह स्वीकार करते ही भैंस को राष्ट्रवादी पशु के रूप में स्वीकृति मिल जाती है और वेदों की विभेदकारी तथा विषमतामूलक गरिमा का अंत हो जाता है। विनय पिटक, बाइबिल, कुरान, गुरुग्रंथ साहब इत्यादि राष्ट्रवादी पुस्तकें बन जाती हैं।

द्रविड़ जाति ने सिंधु घाटी सभ्यता के काल से ही भैंसों को पालतू बनाया तथा वन में रहने वाले इस जन्तु को एक प्रिय शांत दुधारू तथा सामान ढोने वाले पशु में रुपान्तरित किया। सिन्धु घाटी सभ्यता के पुरातात्विक खुदाई स्थलों में पाई गई मुहरों पर इसके चित्रों से यह स्पष्ट है। यह मान भी लें कि उस समय के ऐतिहासिक साक्ष्यों को प्रमाणित नहीं किया जा सकता तो भी आज के आधुनिक युग में भैंस गाय की अपेक्षा घर-घर में दूध देने वाले पशु के रूप में अधिक संख्या में है। लाखों दलित बहुजन परिवारों के लिए घरेलू भैंस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पशु है। इसका काला रंग इसके प्रति प्रेम भावना के सम्मुख बाधा कभी नहीं बना। गाय की तुलना में यह अधिक दूध देती है। इस आधार पर यह हमारा प्रिय पशु होना ही चाहिए। गौ-राष्ट्रवादियों को यह कभी नहीं सूझा कि भैंस तथा गाय दोनों के दूध का रंग एक ही है पर पशु संरक्षण की बहस में भैंसों को कभी जगह नहीं दी गई।

काले रंग के अशुभ तथा सफेद रंग के शुभ होने का आर्य दर्शन बहुत पहले ही गढ़ लिया गया था। यह लेख इस दर्शन और उसके प्रभावों को उलट देने का प्रयास है। वर्तमान दलित-बहुजन संघर्ष अल्पविकास की ढांचागत प्रक्रिया का अंत करना चाहता है। इसके लिए हमें जाति, वर्ण, भाषा, भूमि, जंतु, पक्षी, भोजन आदि से संबद्ध ऐसे विचारों को बदलना होगा। हमें ऐसे प्रतीक जो हिन्दू ब्राह्मणवाद के अर्थों के प्रतिकूल अर्थवत्ता रखते हों, ब्राह्मणवादी विचारधारा तथा दर्शन को खंडित तथा संशोधित करते हों, को अपनाना होगा। ऐसा करके ही इस राष्ट्र को जीवित रखा जा सकता है।

विडंबना यह है कि गाय को केवल भारतीय या एशियाई जंतु कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि यह दूध और मांस के एक स्रोत के रूप में सभी देशों में इस्तेमाल की जाती है। 'यूरो-अमेरिकी' महाद्वीप गाय की अर्थव्यवस्था पर ही जीवित है। उनके यहां भैंसों पर निर्भर अर्थव्यवस्था नहीं है। यदि भारतीय राष्ट्रवाद के लिए अपने देश की विरासत से ही प्रतीक का निर्माण करना है तो हमें भैंस का चुनाव करना होगा क्योंकि यह विशुद्ध रूप से भारतीय है। हम जानते हैं कि समूची उत्तर भारतीय राष्ट्रवादी बहस आरंभिक तथा परवर्ती राष्ट्रीय आन्दोलन काल में आर्यवाद पर केन्द्रित रहा है। तमिल द्रविड़ राष्ट्रवाद के जोर ने जब व्यापक रूप लिया तभी आर्य राष्ट्रवाद का उफान थमा। हिन्दुत्व के आध्यात्मिक फासीवाद की आलोचना प्रक्रिया जारी रहनी चाहिए और इसके लिए भैंस का प्रतीक एक शक्तिशाली उपकरण है जो

के द्वेष भरे हिन्दुत्ववादी विचार की कलाई खोलती है और काले गोरे, पवित्र-अपवित्र के द्वंद्व जो न जाने कितने टिप्पणीकारों ने हमारे अन्दर भर दिए हैं, को उलट देती है। भैंस में वह सब कुछ है जो गाय में है, बल्कि उससे अधिक ही है। गाय का रंग, इसका अनार्य मूल और सांस्कृतिक महत्व ये दो कारक ही इसे दुष्टतापूर्ण पशु घोषित करने के लिए पर्याप्त हैं ताकि हिन्दू विचारशास्त्री इसके वार्षिक वध समारोह के आयोजन की अनुमति दें। हिन्दू प्रतीक शास्त्र में भैंस को यमराज की सवारी तथा ऐसे दानव जिसका राम के कहने पर दुर्गा ने वध किया था, के रूप में चित्रण हुआ है। इन प्रकरणों से जो छवि पशु को प्यार करने वाले, उस पर निर्भर रहने वाले, उसकी सेवा करने वाले, कृषि में उसके साथ पसीना बहाने वाले, उससे लाभान्वित होने वाले तथा उसे आदर भाव देने वाले लोगों के मन में बनती है, उसे बताना जरूरी नहीं। यदि किसी एक ऐसे प्रतीक का चुनाव करना हो जो दलित बहुजन संस्कृति का भाव बढ़ाता हो और साथ ही साथ जिससे हिन्दुत्व की श्रेष्ठता का महल भी धराशायी हो जाता हो तो भैंस का चुनाव किया जाना चाहिए। हमें यह स्वीकार करना चाहिए भैंस और जिन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है उनकी बुनियाद से एक नये राष्ट्रवाद के निर्माण की कोशिश करनी चाहिए।

अनुवाद : अकील कैस

डॉ. अम्बेडकर और व्यक्तिगत स्वाधीनता :

दलित दृष्टिकोण

प्रकाश लुईश

“एक बहुत ही नई घटना की सूचना जयपुर रियासत में चकवारा से मिली है। समाचार पत्रों में छपी सूचना से पता चलता है कि चकवारा के एक अछूत ने, जो तीर्थ यात्रा के बाद घर लौटा था, अपने धार्मिक अनुष्ठान को पूरा करने के लिए गांव के अपने अछूत भाइयों को भोज देने की व्यवस्था की थी। मेजबान की इच्छा थी कि मेहमानों को बहुमूल्य भोजन खिलाया जाए और उसमें घी से युक्त व्यंजन भी परोसे जाएं किंतु जिस समय अछूत लोग भोजन कर रहे थे, तभी सैकड़ों की संख्या में हिन्दू लाठियां लेकर वहां आए, भोजन को खराब कर दिया और अछूतों को बुरी तरह पीटा। परोसे गए भोजन को छोड़ मेहमान अपनी जान बचाने के लिए भाग खड़े हुए। निःसहाय अछूतों पर ऐसा प्राणघातक हमला क्यों किया गया? इसका कारण जो बताया गया, वह यह था कि अछूत मेजबान इतना धृष्ट था कि उसने घी का प्रयोग किया और उसके अछूत मेहमान इतने मूर्ख थे कि वे उसे खा रहे थे।”¹

डॉ. अम्बेडकर ने आगे लिखते हुए कहा “घी निःसंदेह अमीरों के लिए विलास की वस्तु है किंतु कोई भी यह नहीं सोचेगा कि घी ऊंचे सामाजिक स्तर का प्रतीक है।” चकवारा के हिन्दुओं ने इसका दूसरा अर्थ लिया और इन अछूतों द्वारा उनके साथ की गई गलती के लिए हिन्दुओं के धार्मिक क्रोध में उनसे बदला लिया, उन्होंने अपने भोजन में घी परोसकर उनका अपमान किया था। उन्हें यह जानना चाहिए था कि वे हिन्दुओं के सम्मान की बराबरी नहीं कर सकते। इस तरह 1940 में जाति-व्यवस्था के बोलबाले और जाति-उन्मूलन पर लिखते हुए डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय सामाजिक संरचना, व्यक्ति और विभिन्न समूहों का स्थान एवं भूमिका पर प्रकाश डाला था, विशेषकर जातिवाद पर निर्मित भारतीय समाज में व्यक्तिगत स्वाधीनता को कुचलने और कुछेक समूहों की आत्मनिर्भरता को नकारने के धिनौने विचार एवं व्यवहार पर डॉ. अम्बेडकर ने तीखा प्रहार किया था। इसके पहले कि हम व्यक्तिगत स्वाधीनता के विषय में डॉ. अम्बेडकर के

विचारों के बारे में चर्चा करें, आइए हम देखें कि दलित दृष्टिकोण के आयाम क्या होते हैं? 'दलित' शब्द अस्पृश्य, अस्पृश्यता धारक कौम के पर्यायवाची शब्द के रूप में मान्यता पा चुका है, जिसे कभी अछूत, अन्त्यज, अन्यवासिन और बहिष्कृत वर्गों का ही दर्जा प्राप्त था। दलित शब्द न सिर्फ दलितों के बीच बल्कि गैर-दलितों के बीच भी मान्यता प्राप्त कर चुका है, यद्यपि शासक वर्ग आज भी अनुसूचित जाति शब्द का ही इस्तेमाल करता है।

ऐसा माना जाता है कि महात्मा ज्योतिराव फुले (1827-1890) दलित यानी दबे हुए लोगों के उत्थान के लिए कार्यरत थे। उन्होंने ही पहली बार 'दलित' शब्द का प्रयोग किया होगा। डॉ. अम्बेडकर (1891-1956) ने भी इस शब्द का इस्तेमाल किया था। यद्यपि कि डॉ. अम्बेडकर ने इस शब्द का प्रचार-प्रसार नहीं किया फिर भी उनके कथन एवं लेखन ने दलित शब्द के समग्र विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उल्लेखनीय बात यह है कि 1960 के दशक में महाराष्ट्र के दलित साहित्यकारों एवं नव बौद्ध 'दलित' शब्द का इस्तेमाल 'हरिजन' और अछूत के स्थान पर प्रभावशाली ढंग से करने लगे। गौरतलब यह है कि दलित संबंधी इनके लेखन में क्रोध, आक्रोध, विरोध एवं आकांक्षाओं का भरपूर स्थान था।

भाषा वैज्ञानिकों का मानना है कि दलित शब्द 'दल' संस्कृत शब्द से आता है, जिसका अर्थ है खण्डित, फूटा हुआ, तोड़ा हुआ। दलितों के दृष्टिकोण से दलित शब्द दो संयुक्त प्रक्रियाओं का द्योतक है। पहला, वास्तविकता को स्वीकारना है यानी दलित समुदाय यह कहता है कि 'हां' हम सब खण्डित लोग थे, हमें शोषण एवं दमन की चक्की में पीसा गया था। दूसरा, "लेकिन शोषकों और शासकों अब हम तुम सबको ऐसा करने की अनुमति नहीं देंगे, बल्कि अब हम तुम्हारे जुल्म के खिलाफ हर स्तर पर संघर्ष को तैयार हैं।"² दूसरे शब्दों की तुलना में दलित शब्द दलितों द्वारा अपने लिए चयनित शब्द है। अछूत और हरिजन जैसे शब्दों ने दलितों को और भी घृणित स्थिति में पहुंचाया था। ये शब्द सवर्णों द्वारा दलितों पर थोपे गए थे। दलित शब्द के सृजन और उपयोग से दलित समूह ने अपने बीच में उभर रहे स्वाधीनता, समानता और सशक्तिकरण के संघर्ष की दिशा और निर्देशन तय किया था। इस दिशा में लिखते हुए कान्वा इलैया ने कहा "दलित शब्द न केवल कोई वर्ग का संकेत करता है, बल्कि एक जीवन स्रोत एवं जीवनशैली का भी विवरण करता है। दलितों का ज्ञान दैनिक जीवन के क्रियाकर्म, क्रियाकलाप, उपयोगी वस्तुओं से जुड़ा हुआ है। इस तरह इनका ज्ञान-स्रोत उत्पादन पद्धति एवं वस्तुओं से तालमेल रखता है लेकिन ब्राह्मणवादी ज्ञान उपभोक्ता से संबंध रखता है, इसलिए वे दर्शन एवं मिथ्यों का सृजन करते रहते हैं।"³ इस तरह दलित समाज के संघर्षशील विकास के साथ-साथ दलित जैसे शब्द का भी विकास होने लगा। इस विकास के कारण पूर्व व्यवहार में लाए जाने वाले अछूत, हरिजन जैसे नकारात्मक

एवं घृणित शब्दों से मुक्त होकर दलित सकारात्मक स्वरूप में अपने विषय में विचार-विमर्श करने लगे और अपना मुक्ति-संघर्ष का रास्ता भी तय कर सके।

जैसा हमने पहले कहा था कि डॉ. अंबेडकर के सिद्धांतों ने पूर्णतया दलित समूह के हर प्रयत्न में प्रभावी भूमिका निभायी, विशेषकर दलित-अस्तित्व निर्माण, दलित-संघर्ष एवं दलित-मुक्ति आंदोलन। डॉ. अंबेडकर को यह स्पष्ट रूप से मालूम था कि जाति-व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज में व्यक्ति प्रमुख नहीं। यहां पर मात्र समूह की बुनियाद है, यह इसलिए कि हर भारतीय अपनी जाति में जन्म लेता है, जीवनयापन करता है, उसका विवाह उसी जाति के तहत संभव है और वह उसी जाति में स्वर्गवासी होता है। इसलिए डॉ. अंबेडकर ने व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता पर जोर दिया था, ताकि जाति-व्यवस्था का नाश हो और हर व्यक्ति अपने बलबूते पर अपना जीवनयापन करें न कि किसी समूह के दबाव से प्रेरित होकर।

यहां इस तथ्य को रखने की आवश्यकता यह है कि डॉ. अंबेडकर ने व्यक्तिगत स्वाधीनता को कोई हवामहल में दूँढने का प्रयत्न नहीं किया था। कई सारे मनोवैज्ञानिक आदमी की स्वतंत्रता को सामाजिक संरचना से अलग कर देखते हैं। इनकी तुलना में डॉ. अंबेडकर ने भारतीय परिवेश में व्यक्तिगत स्वाधीनता को हिन्दू समाज के विभिन्न आयामों के अधीन परखने की कोशिश की थी। इतना ही नहीं, डॉ. अंबेडकर ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को जाति समूह एवं जाति समूह पर आधारित धंधा-पेशा एवं इससे उत्पन्न सामाजिक संबंध आदि की पृष्ठभूमि में विश्लेषण किया था।

अपने अनगिनत लेखों और वक्तव्यों में डॉ. अंबेडकर ने यह दर्शाया कि दलितों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता नामक कोई चीज नहीं। दलितों का जीवन एवं अस्तित्व मात्र सवर्णों के लिए है। सवर्ण जाति ही तय करती है दलितों के व्यवसाय, धंधा, जीवन-मरण, खान-पान, विचार-व्यवहार आदि। दलितों के जीवन के हर आयामों की सीमा सवर्ण ही निर्धारित करते हैं। इस विषय में कि दलित क्यों मरे हुए पशुओं की खाल निकालते हैं और उसका मांस खाते हैं? सवाल का जवाब देते हुए डॉ. अंबेडकर ने विश्लेषण किया था “दलितों के इस व्यवहार से घृणा करने वाले यह सवाल क्यों नहीं उठाते हैं कि अस्पृश्य सड़ा-गला मांस क्यों खाते हैं? क्या अस्पृश्यों को हिन्दू इस बात की छूट देंगे कि वे उनके मृत पशुओं का उठाना और उनकी खाल उतारना बंद कर दें?”¹⁴ इन सवालों के जवाब में डॉ. अंबेडकर ने उत्तर दिया, यदि ताजा मांस उपलब्ध हो तो कोई भी सड़ा-गला मांस खाना पसन्द नहीं करेगा। अस्पृश्य सड़ा-गला मांस खाकर जिंदा रहते हैं, इसका कारण यह नहीं कि वे इसे पसन्द करते हैं। सड़ा-गला मांस इसलिए खाते हैं कि उनके पास जिन्दा रहने के लिए कोई साधन नहीं है। सभी धन्धों के द्वार उनके लिए बन्द होते हैं। दूसरा, यदि अस्पृश्य लोग हिन्दुओं के मृत पशुओं को उठाते हैं, तो

उन्हें विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। यदि वे ऐसा करने से इन्कार करते हैं तो उन पर जुर्माना किया जाता है। कुछ प्रांतों में इस धिनौना काम को करने से इन्कार करना दंडनीय अपराध है और जुर्माना किया जा सकता है।

अपने विश्लेषण को आगे जारी रखते हुए डॉ. अम्बेडकर ने लिखा था कि महाड़ में अस्पृश्यों के सम्मेलन में संकल्प लिया गया था कि न तो अस्पृश्य हिन्दुओं के मृत पशुओं की खाल उतारेगा, न ही उसे उठाएगा और न उसके सड़े-गले मांस को खाएगा। इन संकल्पों का दोहरा उद्देश्य था। एक तो यह कि अस्पृश्यों में आत्म-सम्मान और आत्म-प्रतिष्ठा का भाव जगाया जाए जो गौण उद्देश्य था। प्रमुख उद्देश्य था, हिन्दू समाज-व्यवस्था पर करारा प्रहार। हिन्दू समाज-व्यवस्था श्रम के विभाजन पर टिकी है। वह हिन्दुओं के लिए स्वच्छ और सम्मानजनक धंधे आरक्षित करती है और धिनौने तथा घटिया धंधा अस्पृश्यों के माथे मढ़ती है। अपने इस विश्लेषण में डॉ. अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक संरचना लोगों के स्थान एवं भूमिका तय करती है। दूसरा, कुछ लोग समाज के हर आयाम पर कब्जा जमाकर संसाधन, सत्ता और शक्ति के बल पर दूसरों को वंचित कर देते हैं और इन वंचित समूहों को हर प्रकार के घटिया एवं धिनौने काम करने के लिए बाध्य कर देते हैं, चूंकि ये वंचित समूह समाज में सबसे ज्यादा तिरस्कृत और धिनौना काम करने को बाध्य किए जाते हैं, अतएव वे मनो-मस्तिष्क से कुंठित एवं निकृष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार के कुंठित एवं निकृष्ट व्यक्ति में स्वतंत्रता की गुंजाइश नाममात्र भी नहीं रहती। जब सभी व्यवस्थाओं ने अस्पृश्यों के कुंठित व्यक्तित्व को उनका स्वभाव करार किया था तो डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रकार के विचार और व्यवहार की सामाजिक संरचना ढूँढ़ निकाली थी।

डॉ. अम्बेडकर ने एक उदाहरण के जरिए दलितों को मान-सम्मान से किस प्रकार वंचित रखा जाता है, इसका जिक्र किया है। अम्बेडकर का कहना है कि मनु की धर्म-व्यवस्था इन्हें मान-सम्मान से जीने से वंचित रखती है। मनु के धर्म के दैनिक प्रचार-प्रसार की विषैली छूत, पुरुष हो या स्त्री, बच्चा हो या बूढ़ा, सबके मानस में घुस गई है। यह न्यायाधीशों के मानस में भी घुस गई है। कलकत्ता के एक समाचार के अनुसार, नौबिन नामक एक अस्पृश्य पर बकरी की चोरी करने का इल्जाम लगाया गया। उसका दोष सिद्ध नहीं हुआ। उसने वादी के खिलाफ मानहानि के लिए फरियाद की। मजिस्ट्रेट ने उसकी फरियाद को इस आधार पर खारिज कर दिया कि वह तो निम्न जाति का है, उसका कोई मान है ही नहीं। इस पर उच्च न्यायालय को हस्तक्षेप करना पड़ा। उसने मजिस्ट्रेट को निर्देश दिया कि उसका दृष्टिकोण गलत है और दंड प्रक्रिया के अधीन सभी व्यक्ति समान हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि मजिस्ट्रेट को निर्देश दिया कि उसका दृष्टिकोण गलत है और दंड प्रक्रिया के अधीन सभी व्यक्ति समान हैं पर प्रश्न यह उठता है कि

मजिस्ट्रेट को कहां से यह भान हुआ कि अस्पृश्य का कोई मान नहीं होता है? निश्चय ही 'मनुस्मृति' के उपदेश से।⁵ इस तरह दलितों को हिन्दू समाज के तहत कोई सम्मान नहीं है। हिन्दू धर्म के ग्रंथों ने इस आशय की वकालत की थी। हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म में दलितों और वंचितों को गुलाम, निर्बल एवं निचला बनाए रखने के ऐतिहासिक षड्यंत्र पर डॉ. अम्बेडकर ने लगातार वार किया था। इतना ही नहीं जब सब कोई जाति-व्यवस्था में सुधार लाने की जरूरत पर जोर दे रहे थे तो डॉ. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था को जड़-मूल उखाड़ फेंकने की पेशकश की थी।

यहां यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि डॉ. अम्बेडकर ही भारतीय इतिहास में पहला ऐसा शख्स है, जिन्होंने जाति-प्रथा के प्रभाव को उसके बहुआयामी स्वरूप में पहचाना था। उन्होंने कहा *“हिन्दुओं की नीति और आचार पर जाति-प्रथा का प्रभाव अत्यधिक सोचनीय है। जाति-प्रथा ने जन-चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति-प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक सीमित है। गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। जो व्यक्ति उनकी जाति के नहीं होते तो उनके प्रति सहानुभूति नहीं होती। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं है। आदमी कैसा भी हो, सही या गलत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए।”*⁶

इस तरह डॉ. अम्बेडकर ने जाति-प्रथा को हिन्दू समाज पर लगाम कसती जंजीर के रूप में देखा। अपने इस विश्लेषण को आगे जारी रखते हुए उन्होंने एक बुनियादी सवाल खड़ा किया कि *“क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों-स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है?”*

डॉ. अम्बेडकर ने अपने मन में व्यक्तिगत स्वाधीनता को रखकर ही हिन्दू समाज पर वार किया था। उनके लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता मूलभूत अधिकार की बुनियाद थी, इसलिए व्यक्तिगत स्वाधीनता को भी वे मूल्य के लिए बलि चढ़ाना नहीं चाहते थे। इसी तरह एक और महत्वपूर्ण बात यह कि डॉ. अम्बेडकर ने दलितों और दबे हुए के दृष्टिकोण से न केवल व्यक्तिगत स्वाधीनता की वकालत की अपितु इन वंचित वर्गों की स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता पर भी विशेष जोर दिया था। भारतीय परिवेश में उन्हें यह अनुभव था कि व्यक्तिगत स्वाधीनता भले सवर्णों के लिए हो सकती है, गरीब-गुर्बा के लिए नहीं। डॉ. अम्बेडकर के विषय में लिखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा यह कहते हैं *“दिसम्बर 1942 के रेडियो भाषण में अम्बेडकर ने स्वाधीनता, समानता और भाईचारा इन तीन सूत्रों का उद्भव फ्रांसीसी क्रांति में देखा। उन्होंने कहा कि मजदूर के लिए समान अवसर मिले और राज्य सत्ता का कर्तव्य*

है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार विकास के लिए सारी सुविधाएं प्रदान करे। मजदूरों के लिए समानता का अर्थ है कि नागरिक सेवाओं और फौज से लेकर व्यापार और उद्योग धंधों तक, हर तरह के विशेषाधिकार खत्म किए जाएं, वे सारी चीजें खत्म हो जाएं, जिनसे असमानता पैदा होती है।”

लेकिन यह कहकर रुक जाना कि डॉ. अम्बेडकर ने जाति उन्मूलन की बात की ताकि दलितों, दबे-कुचलों को स्वाधीनता मिले, वास्तविकता को तोड़-मरोड़ करने के बराबर होगा। डॉ. अम्बेडकर ने अपने अनगिनत लेखों एवं भाषणों में वैकल्पिक समाज बनाने के लिए जो बुनियादी मानवीय मूल्य हैं, उनकी भी जोरदार वकालत की थी। अपने लेखन में एक और जगह पर डॉ. अम्बेडकर ने यह तर्क दिया था कि “जिस समाज में कुछ वर्गों के लोग जो कुछ चाहें वह सब कुछ कर सकें और बाकी वह सब न कर सकें जो उन्हें करना चाहिए, उस समाज के अपने गुण होते होंगे लेकिन इनमें स्वतंत्रता शामिल नहीं होगी। अगर इंसानों के अनुरूप जीने की सुविधा कुछ लोगों तक ही सीमित है, तब जिस सुविधा को आमतौर पर स्वतंत्रता कहा जाता है, उसे विशेषाधिकार कहना अधिक उचित होगा।” इस भांति डॉ. अम्बेडकर ने न केवल व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता पर जोर दिया, बल्कि वंचित वर्ग के दृष्टिकोण से वंचित समूहों की स्वाधीनता पर भी बल दिया था। यह इसलिए कि भारतीय सामाजिक संरचना के तहत शासक वर्ग के लिए न केवल व्यक्तिगत स्वाधीनता प्राप्त है, बल्कि उनके पास सत्ता और संसाधन हैं, उन्होंने अपने समाज को भी शक्तिशाली बना दिया, जिससे यह समूह जो चाहे उसे कर सकता है। साथ ही साथ यह समूह दूसरे समूहों को स्वतंत्रता से वंचित भी रख सकता है।

राजनीतिक लोकतंत्र पर डॉ. अम्बेडकर की विवेचना से व्यक्तिगत स्वाधीनता के विषय में उनके विचारों को जाना जा सकता है। उनके अनुसार “(1) व्यक्ति अपने आप में एक सिद्धि है, (2) व्यक्ति के कुछ अहरणीय अधिकार होते हैं, जिनकी गारंटी उसे संविधान द्वारा दी जाए, (3) कोई विशेषाधिकार प्राप्त करने की पूर्व शर्त के रूप में किसी व्यक्ति से यह अपेक्षा न की जाए कि वह अपने संवैधानिक अधिकारों में से किसी अधिकार का परित्याग करे, (4) राज्य लोगों पर शासन करने के लिए गैर-सरकारी लोगों को शक्तियां प्रदान न करे।”⁸ इस तरह डॉ. अम्बेडकर ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर विशेष जोर दिया था लेकिन वे यहीं रुक नहीं गए। अगर किसी व्यक्ति को जीवन जीने की आवश्यक वस्तुएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं होतीं तो स्वाधीनता का अधिकार ज्यादा मायने नहीं रखता है।

डॉ. अम्बेडकर राजनैतिक लोकतंत्र तक ही अपना विचार सीमित नहीं रखते हैं। वास्तव में वे राजनैतिक लोकतंत्र से ज्यादा सामाजिक लोकतंत्र पर जोर देते हैं। उनके मुताबिक “हमें अपने राजनैतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र में तब्दील करना

चाहिए। राजनैतिक लोकतंत्र अधिक समय तक चल नहीं सकता अगर इसके आधार में सामाजिक लोकतंत्र नहीं होता। सामाजिक प्रजातंत्र का अर्थ क्या है? इसका मायने वे बुनियादी विचार और व्यवहार मानते हैं जो स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के मूल्यों पर आधारित हैं। तीनों अलग-अलग मूल्य नहीं हैं बल्कि प्रजातंत्र को बनाए रखने में ये तीनों बराबर की भागीदारी निभाते हैं। समानता के अभाव में कुछ अपनी स्वतंत्रता का उपयोग कर दूसरों पर हुकूमत चलाने लगेंगे। जहां स्वाधीनता नहीं है वहां समानता हर प्रकार की व्यक्तिगत प्रेरणा पर लगाम लगाती है। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि बन्धुत्व के बिना स्वाधीनता और समानता अपने आप में सार्थक सिद्ध नहीं हो सकती हैं। इनको क्रियान्वित रखने के लिए किसी एजेंट या ताकत की जरूरत है। 26 जनवरी, 1950 के दिन हम विरोधाभास से भरी परिस्थिति में प्रवेश करेंगे। राजनैतिक क्षेत्र में हम समानता पर चर्चा करेंगे मगर आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में एक व्यक्ति और एक मूल्य को निरंतर नकारते रहेंगे। अब यह सवाल उठता है कि कब तक हम इन विरोधाभासों के साथ जीते रहेंगे? कब तक हम समाज के वंचित वर्ग को सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में समानता से वंचित रखते रहेंगे?’’⁹

डॉ. भीमराव अंबेडकर का कथन अपने आप में स्पष्ट है और इस पर कोई टीका-टिप्पणी करने की जरूरत भी नहीं है। इस तथ्य को पुनः एक बार दुहराने की जरूरत है कि डॉ. अम्बेडकर ने प्रजातंत्र को किसी सरकार के रूप में नहीं देखा, बल्कि एक सामाजिक गठन के मार्फत देखा। इस सामाजिक गठन के तहत इन्सान सभी प्रकार के बन्धन से मुक्त किए जाएंगे। इस लिहाज से डॉ. अम्बेडकर की व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वाधीनता की खोज बुर्जुआ राजनैतिक-सामाजिक सुधारकों से भिन्न है। उन्होंने दलित एवं पिछड़ों के दृष्टिकोण से व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वाधीनता की वकालत की थी। सवर्णों के लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता अवश्य दूसरों पर हुकूमत चलाने का हथकंडा हो सकता है लेकिन दलितों के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता तभी सार्थक होगी जब सम्पूर्ण दलित समुदाय आजाद हों, छुआछूत, जातिप्रथा, निर्धनता, निर्बलता आदि सामाजिक बन्धनों से जकड़े न रहें।

दरअसल, डॉ. अम्बेडकर के चिंतन-मंथन ने दलित समुदाय को अपने अस्तित्व निर्माण करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अस्तित्व निर्माण एक ऐतिहासिक एवं निरंतर प्रवाहशील प्रक्रिया है, जो किसी व्यक्ति विशेष के स्वानुभूति और दूसरे व्यक्ति या व्यक्ति समूहों का उनके प्रति क्या दृष्टिकोण है, पर आधारित है, जो विविध सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवेश में निर्मित एवं निर्धारित होते हैं। डॉ. अम्बेडकर के पूर्व भी दलित अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया जारी थी लेकिन डॉ. अम्बेडकर के लेखन-भाषण के मूल सिद्धांतों

ने दलित अस्मिता निर्माण में प्रभावशाली भूमिका निभायी। यहां मात्र इतना कहना अति आवश्यक है कि डॉ. अम्बेडकर ने दलित अस्मिता-निर्माण में यह दर्शाया है कि अब दलित पुराने तरीकों से अपने को शासित नहीं होने देंगे। दूसरा, अब सवर्ण भी दलितों पर पुरानी रीति से शासन नहीं कर पाएंगे। यह प्रेरणात्मक सिद्धांत दलितों को संघर्षशील होने में सहायक सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वाधीनता के संघर्ष ने दलित उभार का रास्ता प्रशस्त किया।

अंत में यह कहना उचित है कि डॉ. अम्बेडकर से प्रेरित दलित व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वाधीनता का संघर्ष दोनों भौतिक एवं वैचारिक आयामों से निर्मित होते हैं, चूंकि दलित समूह रोजाना जिन्दगी के भौतिक क्षेत्र से हू-ब-हू संलग्न है, इनकी स्वतंत्रता का संग्राम किसी दर्शन से प्रेरित नहीं होता। व्यवहार से उत्पन्न विचारों के सिद्धांत पुनः उनके व्यवहारों को प्रेरित करते हैं। इसके फलस्वरूप भी क्यों दलित मुक्ति का सपना अब भी एक सपना ही रह गया है? इसका कोई सरल उत्तर नहीं है। बस यह अवश्य कहा जा सकता है कि दलित स्वाधीनता तभी संभव है जब सवर्ण भी जाति-प्रथा, सामन्ती विचार और व्यवहार, पुरुष-प्रधान सोच एवं कार्य से मुक्त होंगे। दलित और सवर्ण किसी अलग समाज के नहीं हैं, भले ही जाति के आधार पर दो खेमों के क्यों नहीं हों। इस लिहाज से सम्पूर्ण भारत का मुक्ति-संग्राम तब तक अपनी मंजिल प्राप्त नहीं करेगा जब तक कि व्यक्ति एवं पूरा समाज स्वाधीनता प्राप्त नहीं करते। डॉ. अम्बेडकर के कथनानुसार जब भारत का हर नागरिक और सम्पूर्ण समाज स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के आधार पर समाज और देश का निर्माण करेगा, तब व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वाधीनता कारगर सिद्ध होगी।

संदर्भ

1. डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ. 58
2. प्रकाश लुईश, दी पोलिटिकल सोशियोलॉजी ऑफ दलित असर्शन, ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2003, पृ. 128
3. कांचा इलैया, देखें, घनश्याम शाह, दलित आइडेंटि पॉलिटिक्स, सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 110
4. डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-10, पृ. 163-4
5. देखें वही, पृ. 197
6. देखें, डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1, पृ. 77-78
7. डॉ. रामविलास शर्मा, गांधी, अम्बेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 604
8. डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-2, पृ. 194

9. कान्स्टीट्यूट असेम्बली डिबेट्स, ऑफिसियल रिपोर्ट, बुक नम्बर-5, वाल्यूम XI, 14-26 नवम्बर, 1949, नई दिल्ली, 1999, थर्ड प्रिंट, पृष्ठ-979

वैश्वीकरण, दलित एवं समाजवाद
वैश्वीकरण, भारत एवं दलित संस्कृति
और व्यक्तिगत स्वतंत्रता
सुखदेव थोराट

वैश्वीकरण का अर्थ मनुष्य में आ रहे अभिनव परिवर्तन और टेक्नोलॉजी के विकास से उद्भूत बाजार, राष्ट्र, राज्य और टेक्नोलॉजी के मेल की प्रक्रिया से लिया जाता है पर इसे आर्थिक उदारीकरण की ऐसी सुविचारित वैचारिक परियोजना के रूप में भी देखा जाता है, जो राज्यों तथा व्यक्तियों को उत्कट बाजार शक्तियों की जकड़ में ला देता है। किसी न किसी रूप में वैश्वीकरण का अस्तित्व सदा से ही रहा है। पिछले लगभग पचास सालों में इसने एक ऐसी वृहद शक्ति का रूप धार लिया है जो आर्थिक जगत के साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जगत को भी नियंत्रित करती है। आज वाणिज्य तथा वित्तीय सेवाएं पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित तथा गहन रूप से परस्पर संघटित हैं।

इतिहास में देखें तो वस्तुओं तथा सेवाओं का व्यापार, पूंजी तथा श्रम का प्रवाह देशों की सीमा को अतिक्रमित करता रहा है किन्तु नव-वैश्वीकरण का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह वस्तु, पूंजी एवं सेवाओं के मुक्त-व्यापार के लिए नए नियम-विनियम, गढ़ने तथा नए अंतर्राष्ट्रीय उपकरणों यथा विश्व व्यापार संगठन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक का प्रयोग कर, इस नए एजेन्डे को लागू करने तथा नियंत्रित करने का प्रयास करता है।

वैश्वीकरण के इस नए रूप में क्या है? मुख्यतः यह दो प्रकार के परिवर्तन का सूत्रपात करता है। पहला अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उदारीकरण करना, जिसका अर्थ है देशों द्वारा व्यापार पर आरोपित प्रतिबंधों को हटाकर देशों के बीच वस्तुओं, सेवाओं, पूंजी, सूचना और तकनालोजी के निर्बंध प्रवाह को सुनिश्चित करना, दूसरे, प्रत्येक देश के आर्थिक ढांचे को तब्दील करना। इस प्रस्तावित नई आर्थिक संरचना का मतलब है, निजी बाजार पर आधारित निजी अर्थव्यवस्था या समाज के आर्थिक तथा सामाजिक शासन में अपनी भूमिका कम से कम करें।

इस प्रकार इस नव-प्रस्तावित आर्थिक व्यवस्था की चारित्रिक विशेषताएं हैं निजी

बाजार व्यवस्था के माध्यम से अर्थव्यवस्था का **निजीकरण** एवं आर्थिक क्रिया-कलापों को **सारणीबद्ध** करना। ऐसा तर्क दिया जाता है कि मुक्त-व्यापार, निजी अर्थव्यवस्था तथा बाजार वाली यह नई आर्थिक व्यवस्था लोगों की खुशहाली और आर्थिक विकास को गति देने की सर्वोत्तम वैकल्पिक व्यवस्था है, इसलिए **आर्थिक प्रणाली का सजातीयकरण इस एजेन्डे का प्रमुख उद्देश्य है।**

वैश्वीकरण, ढांचागत समायोजन एवं भारत की प्रतिक्रिया

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और समझौतों के दबाव में भारत सरकार ने अस्सी के दशक के मध्य तथा नब्बे के दशक में व्यापक रूप से दूसरे देशों के साथ अपने व्यापार को उदार बनाने तथा अपनी अर्थव्यवस्था के ढांचागत समायोजन हेतु इन दोनों क्षेत्रों में, कई नए आर्थिक उपाय अपनाए हैं। यह तथाकथित सुधार की प्रक्रिया जारी है। इन्हीं उपायों को अब नई आर्थिक नीति के नाम से जाना जाता है। ये उपाय इस मायने में नए हैं कि वे 1950 के दशक में, जब योजनाओं की शुरुआत हुई तब से सरकार द्वारा प्रयुक्त नीति-उपकरणों में सभी को नहीं तो कम से कम मुख्य उपकरणों को उलटते हैं।

मुक्त राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, निजी क्षेत्र और निजी बाजार की स्थापना कर सरकार की आर्थिक एवं सामाजिक भूमिका को न्यूनतम रूप देना ही नई आर्थिक नीति है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत ने लगभग 700 वस्तुओं के मामले में बाजार की पहुंच तथा उनके उदारीकरण व्यापार की सुविधा का प्रबंध किया है। ऐसी ही सुविधा पूंजी-निवेश तथा अन्य सेवाओं के क्षेत्र में, अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों को प्रवेश दिया गया है। घरेलू अर्थव्यवस्था में **स्ट्रक्चरल एडजस्टमेन्ट प्रोग्राम सैप (SAP)** यानी ढांचागत समन्वय कार्यक्रम का सूत्रपात किया गया है। इस कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य है (क) सार्वजनिक क्षेत्र तथा सेवाओं का निजीकरण, (ख) उदारीकरण यानी निजी क्षेत्रों के मार्ग से बाधाओं को हटाना और (ग) कई क्षेत्रों से सरकार की उपस्थिति को हटाकर उसकी भूमिका का सीमितकरण।

उद्योग के क्षेत्र में सरकार ने एक बड़ा परिवर्तन किया है। 1948 की औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में 18 क्षेत्रों को राज्य के अधीन रखा गया है और 1991 की औद्योगिक नीति के अनुसार इसे घटाकर मात्र चार क्षेत्रों तक सीमित कर दिया गया है, जो कि सामरिक क्षेत्र है। इसके अलावा बैंकिंग, बीमा तथा शिक्षा जैसी सेवाओं के उद्योगों निजी क्षेत्रों के लिए खोल दिए गए हैं। इस प्रकार निजी क्षेत्रों को अनिवार्य तथा आधारभूत उद्योगों तथा कतिपय आवश्यक सेवाओं में बड़ी भूमिका दी गई है।

वैश्वीकरण, नव उदार अर्थव्यवस्था तथा दलित

इस वैश्वीकरण को लेकर दलितों के अनुभव कैसे हैं? वैश्वीकरण संसार तथा नव आर्थिक व्यवस्था जो निजी क्षेत्रों तथा निजी बाजार व्यवस्था पर आधारित है में दलितों का भविष्य क्या है? दलित भारतीय समाज का सबसे उपेक्षित वर्ग है। भारतीय समाज के अन्य विपन्न वर्ग की तरह वे निर्धन तो हैं ही, इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्रों में, यानी बाजार के अंदर तथा बाहर दोनों जगह उनका अलगाव तथा घोर भेदभाव का व्यवहार झेलना एक अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस भेदभाव का आधार होता है उनका वंश और पेशा। इन अर्थों में अलग कर दिए गए दलित भारत, नेपाल, बांग्लादेश तथा श्रीलंका की आबादी का एक बड़ा हिस्सा हैं। यही नहीं इनमें जापान के बुराक और दक्षिण अफ्रीका के ऐसे ही अन्य समूह भी आते हैं। केवल भारत में ही दलित, देश की (1991 की जनसंख्या) का लगभग 17 प्रतिशत यानी 138.2 मिलियन के बराबर है। 2001 के आंकड़ों के अनुसार दलितों की आबादी 18% की बनती है। यदि इनमें हम दलित ईसाइयों एवं दलित सिक्खों और ऐसे ही अन्य भेदभाव पीड़ित दलित समूहों को शामिल कर लें, तो दलित भारत की आबादी का लगभग एक-चौथाई हिस्सा है।

पूर्वकालिक नीति

सरकार ने अपनी समस्या को पहचान कर दो मुख्य बातों पर जोर देते हुए निराकरण की योजना विकसित की। पहली अनुसूचित जातियों को अतीत में अलगाव के कारण विरासत में मिली बहुविध विभेदकारी व्यवहार को खत्म करना और उन्हें यथा संभव अन्य लोगों के बराबर की स्थिति में लाना, दूसरे, देश के सामान्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीति प्रक्रिया में उनकी प्रभावशाली भागेदारी को प्रोत्साहित कर मौजूदा अलगाव तथा पक्षपात के विरुद्ध वर्तमान में उन्हें सुरक्षा प्रदान करना। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार ने दोहरी नीति अपनाई है यानी, (क) भेदभाव विरोधी अथवा संरक्षात्मक उपाय की नीति तथा (ख) विकास एवं सशक्तिकरण की नीति।

भेदभाव विरोधी उपायों में 1955 का अस्पृश्यता विरोधी कानून (जिसे बाद में सिविल अधिकार संरक्षण कानून का नाम दिया गया) तथा अस्पृश्यता एवं भेदभाव को सार्वजनिक स्थानों तथा सेवाओं में दंडनीय अपराध करार देने वाले अनुसूचित जाति/जनजाति (अत्याचार निरोधक) कानून, 1989 हैं।

आरक्षण : सकारात्मक कार्रवाई की नीति

सरकारी सेवाओं, राज्य पोषित तथा सहायता प्राप्त शैक्षिक संस्थानों तथा विभिन्न

राजनीतिक प्रजातांत्रिक संगठनों में ये भेदभाव विरोधी और संरक्षात्मक उपाय लागू किए गए। इन सकारात्मक भेदभाव उन्मूलन उपायों को अपना कर सरकार ने विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों में अनुसूचित जाति का आनुपातिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया है। बहिष्करण तथा उनके प्रति भेदभाव की प्रथा होने के कारण इन उपायों को लागू किए बिना यह संभव नहीं था। इस प्रकार की कार्रवाई की नीति सरकार द्वारा संचालित तथा पोषित क्षेत्रों तक ही सीमित थी और निजी क्षेत्र, जहां नब्बे प्रतिशत से भी अधिक अनुसूचित जाति के लोग कार्यरत हैं, इस सरकारी नीति के प्रभाव क्षेत्र से बाहर हैं जिसके कारण वे भेदभाव से बच नहीं पाते। निजी क्षेत्र में इस प्रकार के कानून के अभाव में सरकार सकारात्मक कार्रवाई की नीति के लिए अनुसूचित जाति के आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक सशक्तिकरण हेतु 'सामान्य कार्यक्रम' का प्रयोग करती है। इसमें अचल पूंजीगत परिसंपत्तियों पर निजी स्वामित्व बढ़ाने, मानव संसाधन को सशक्त करने तथा गृह-निर्माण, स्वास्थ्य, पेयजल, विद्युत तथा ऐसी अन्य सामाजिक एवं मूलभूत सेवाओं को अनुसूचित जाति की पहुंच में लाने पर जोर दिया गया है।

1990 के दशक तक सरकारी नीतियों की मुख्य विशेषता देश की आर्थिक एवं सामाजिक शासन में सरकार की सक्रिय भागेदारी रही है। इन नीतियों में सरकारी भागेदारी, बाजार हस्तक्षेप और आर्थिक एवं सामाजिक योजनाकरण आते हैं। इस तरह आरक्षण एवं शिक्षा और स्वास्थ्य की मूलभूत सेवाएं मुहय्या कराकर भेदभाव विरोधी उपाय अपनाने में सार्वजनिक क्षेत्रों ने अधिक सक्रिय भूमिका निभाई है। इन उपायों के साथ-साथ आय बढ़ाने के विभिन्न स्रोतों तक दलितों की पहुंच को सुधारने के लिए कृषि, भूमि, पूंजी, श्रम, आवास और अन्य क्षेत्रों में हस्तक्षेप की नीति भी अपनाई गई।

नीतियों का उलटना

चूंकि नई आर्थिक नीति का मूल आधार स्वतंत्र व्यापार, निजी क्षेत्र और बाजार हैं, इसलिए सरकार की आर्थिक तथा सामाजिक भूमिका में जबरदस्त कमी, इस नीति का निहितार्थ है और इस प्रकार सरकारी प्रभाव को व्यापक बनाने की 1950 से 1980 के दशक तक अपनाई गई नीतियों तथा कार्यक्रमों को पूर्ण रूप से उलटा जा रहा है। इनमें से कुछ नीति तथा कार्यक्रम श्रमिकों तथा दलितों आदि निर्धन एवं सामाजिक रूप से दबे-कुचले लोगों के हितों को दृष्टिगत रखते हुए बनाए गए थे। अब चूंकि इन नीतियों को उलटा जा रहा है, तो श्रमिक और निर्धन वर्ग विशेष रूप से दलितों पर इसका प्रतिकूल आर्थिक प्रभाव पड़ेगा।

निजीकरण एवं बाजार-दलितों के प्रति भेदभाव तथा बहिष्कार

नई आर्थिक नीति की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है निजीकरण की दिशा में आगे

बढ़ना। इसका सामान्य आर्थिक दर्शन है बाजार शक्तियों पर निर्भरता में वृद्धि। यह इस परिकल्पना पर आधारित है कि आर्थिक संगठन यदि राज्य के हस्तक्षेप पर टिका हो तो इससे आर्थिक संसाधन का गलत आवंटन और दुरुपयोग होता है। निजीकरण की दिशा में आगे बढ़ने (केवल उत्पादन तथा आधारभूत उद्योग के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि शिक्षा, बिजली, संचार जैसी कई सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में भी) तथा उसके प्रवाह को बाजारोन्मुखी बनाने के संदर्भ में अर्थशास्त्री बाजार की असफलता की बात करते हैं जिसकी मार गरीबों पर पड़ती है।

दलित केवल सामान्य प्रकृति के बाजार संकट से ही प्रतिकूल रूप से प्रभावित नहीं होते, बल्कि उत्पाद बाजार तथा कलकारखानों में जाति आधारित भेदभाव (और इस प्रकार बाजार तक पहुंच की कमी) से उत्पन्न बाजार संकट से वे अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप से प्रभावित होते हैं। निजीकरण के प्रयास और सरकार की नई आर्थिक नीति के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र तथा योजना प्रक्रिया से प्रस्तुत परिस्थितियों की गंभीरता को समझना जरूरी है। श्रम बाजार तथा पूंजी, भूमि, सूचना और अन्य क्षेत्रों में मौजूद भेदभाव के कारण दलितों की इन तक अवरुद्ध पहुंच से दलित वर्ग को क्षति पहुंचेगी। निजी क्षेत्र में होने वाली भर्तियां चूंकि बड़ी संख्या में अनौपचारिक माध्यमों से होती है और दलितों की अस्पृश्यता के कारण उन्हें पर्याप्त मात्रा में अवसर उपलब्ध नहीं होते, जिससे दलितों को इसका भारी नुकसान उठाना पड़ेगा।

भारत सरकार ने संरचनात्मक समायोजन के कार्यक्रम के रूप में कई क्षेत्रों, जिनमें कृषि-भूमि, श्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, वित्तीय क्षेत्र शामिल हैं, में परिवर्तन किया है। इन परिवर्तनों में कुछ के विषय में और दलितों पर उसके प्रभावों की हम आगे चर्चा करेंगे।

भूमि से संबद्ध नीति और दलितों की भूमि तक पहुंच

1991 में अनुसूचित परिवारों में 13 प्रतिशत भूमिहीन थे तथा 87 प्रतिशत के पास अल्पभूमि उपलब्ध थी। जमीन रखने वाले अनुसूचित जाति के परिवारों में लगभग 56 प्रतिशत के पास एक एकड़ से कम जमीन थी। इस तरह भूमिहीन और करीब-करीब भूमिहीन (जिसमें एक एकड़ से कम भूमि वाले आते हैं) का आंकड़ा 1991 की स्थिति के अनुसार लगभग 70 प्रतिशत का बैठता है। 1999-2000 तक के निकटवर्ती काल के आंकड़ों से अनुसूचित जाति का भूमिहीन तथा प्रायः भूमिहीन वर्ग 75% के लगभग पहुंच जाता है। इस प्रकार चूंकि दलितों का तीन चौथाई भाग या तो भूमिहीन है या प्रायः भूमिहीन, उनका प्रमुख पेशा मज़दूरी ठहरता है।

स्वतंत्रता के बाद की अवधि में भूमि-परिसीमन और दलितों के भूमि-आबंटन के क्षेत्र में भूमि-सुधार के उपाय शुरू किए गए थे, जिससे पारंपरिक रूप से भूमिहीन दलितों को, चाहे जैसी-तैसी गुणवत्ता वाली जमीन के ही कुछ टुकड़े मिले पर दलित,

कृषि-क्षेत्र के सीमांत ही सही लेकिन उत्पादक जरूर बने। अब सरकार की वैश्वीकरण तथा संरचनात्मक समायोजन की वर्तमान नीतियों से जो परिवर्तन आया है उसका रुझान कृषि-भूमि की चकबन्दी, कारपोरेट उत्पादन और खेती के लिए जमीन के चयनात्मक प्रयोग हेतु भूमि परिसीमन को हटाने, उद्यान-कृषि और जल-कृषि की नीतियों के पक्ष में है। पिछले दशकों में सरकार ने जमीन वितरण पर रोक लगाई है, जमीन की मौजूदा जोत को नियमित नहीं किया जा रहा है तथा दलितों को भूमि-बाजार में प्राथमिकता नहीं दी जा रही। इस प्रकार जमीन के स्वामित्व से दलित बेदखल हो रहे हैं। भूमि-बाजार में सरकार के घटते हस्तक्षेप, जिसे भूमि के पुनर्वितरण तथा अन्य प्रकार की दखलअन्दाजियों के रूप में देखा जा सकता है, से जमीन पर दलितों की पहुंच पर गंभीर प्रभाव पड़ा है और भूमि परिसीमन को हटाने तथा कारपोरेट खेती को प्रोत्साहित करने का सोचा समझा प्रयास गरीब दलितों की आजीविका को ही मटियामेट करने पर तुला है।

दलितों का रोजगार-नियोजन

अचल पूंजी परिसम्पत्तियों, यानी जमीन पर पर्याप्त अधिकार न होने से अनुसूचित जाति की मेहनत-मजदूरी की आजीविका पर निर्भरता असाधारण रूप से बढ़ गई है। सन् 2000 में मजदूरी करके आजीविका कमाने वाले अनुसूचित जाति के परिवारों का हिस्सा देहाती तथा शहरी क्षेत्र में 65% का था।

1990 के दशक से पूर्व तथा बाद की प्रवृत्तियों की तुलना करने से विशेषतः दलितों के रोजगार की गुणवत्ता में इस परवर्ती कालखंड में गिरावट का पता चलता है। 1980 के दशक में कृषि तथा अन्य क्षेत्र में स्वरोजगार में लगे मजदूरों के प्रतिशत में बढ़ोत्तरी हुई थी और गैर-फार्म स्वरोजगार के क्षेत्र में तथा फार्म और गैर फार्म श्रम मजदूरों की संख्या लगभग अपरिवर्तित तथा स्थिर बनी रही थी। इन अनुकूल परिवर्तनों के मुकाबले 1990 के दशक में इस सकारात्मक प्रवृत्ति में उलटफेर हुआ दिखता है। कृषि-क्षेत्र में स्वरोजगार वाले खेतिहरों की संख्या में गिरावट के साथ खेतिहार मजदूरों की संख्या में वृद्धि देखी गई। इससे परिलक्षित होता है कि कृषि-क्षेत्र में स्वरोजगार में लगे अनुसूचित जाति के मजदूर, गैर कृषि क्षेत्र में, स्वरोजगार में तथा कृषि श्रमिक के रूप में काम करने लग गए।

शहरी क्षेत्र में रोजगार के ढांचे में भी स्पष्ट परिवर्तन आया है। जहां तक अनुसूचित जाति के श्रमिकों की बात है, नियमित वेतन पाने वाले कामगारों की संख्या काफी घटी है। पर स्वरोजगार तथा अस्थायी मजदूरी का रुझान बढ़ा है। इसने वस्तुतः 1980 के दशक की स्थिति, जिसमें अस्थायी मजदूर और स्वरोजगार वाले श्रमिकों की संख्या बड़ी हद तक घट गई थी, की प्रवृत्ति को उलट दिया था, इसलिए

अस्थायी मजदूरी की प्रक्रिया में वृद्धि के कारण 1990 के दशक में अनुसूचित जाति के शहरी रोजगार की गुणवत्ता में गिरावट आ गई थी। इस प्रकार 1990 के दशक में जो कि उदारीकरण का काल था, अनुसूचित जाति के कामगार नियमित मजदूरी/वेतन अर्जित करने वालों के वर्ग में बराबरी से भागीदार नहीं बन पाए।

शहरी क्षेत्र की बेरोजगारी की दर के रुझान से पता चलता है कि 1980 (1977-83) के दशक में हरर स्तर पर बेरोजगारी की दर में कमी आई पर 1990 वाले दशक (1993-1999) में एकदम प्रतिकूल स्थिति बनी क्योंकि हर स्तर पर बेरोजगारी बढ़ी। इस दशक में शहरी क्षेत्र की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्र में बेरोजगारी की दर में ज्यादा बढ़ोत्तरी हुई। उदारीकरण से पहले के काल में रोजगार में अनुकूल और सकारात्मक रुझान को वस्तुतः उलट कर रख दिया। निजीकरण के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में नियमित वेतनभोगियों की संख्या में काफी गिरावट आई है।

शिक्षा तथा स्वास्थ्य की स्थिति

दलित, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के मौलिक अधिकारों से वंचित तो पहले से ही रहे हैं। इस स्थिति के संदर्भ में उनकी शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर वैश्वीकरण के प्रभाव को समझने की आवश्यकता है। दलितों और अन्य वर्ग में साक्षरता की दर और शिक्षा के स्तर में बड़ा अंतर है। स्कूल छोड़ देने की ऊंची दर, शिक्षा की घटिया गुणवत्ता, शिक्षा में विभेद आदि चंद शैक्षिक समस्याएं हैं जिनसे अनुसूचित जाति आक्रांत है। 1991 में (जो जनगणना का सबसे निकटवर्ती वर्ष है जिसके आंकड़े उपलब्ध हैं।) अनुसूचित जातियों की साक्षरता 37% थी जबकि गैर अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन जातियों में यह दर 58% थी। स्त्रियों में साक्षरता दर विशेष रूप से कम थी (यानी 23%)। यह अन्य वर्गों की स्त्रियों की तुलना में दो गुणा कम है। इसी प्रकार स्कूलों में अनुसूचित जाति के बालकों की स्थिति अन्य वर्गों की अपेक्षा 10% कम है। सरकार का समाजसेवा से पैर खींचने का दलितों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। दलितों के उन्नति के लिए जो कुछ रास्ते उपलब्ध हैं, उनमें शिक्षा एक है। अब जो हर स्तर पर प्राथमिक स्तर से उच्चतर स्तर तक शिक्षा के निजीकरण की प्रवृत्ति आई है, उसका दलितों की शिक्षा संभावनाओं पर सीधा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा के निजीकरण तथा व्यापारीकरण से महंगी हुई शिक्षा का खर्च उठा पाना कठिन है। सरकार यदि अपना हाथ इस आधारभूत जिम्मेदारी से खींचती है, तो दलितों के शिक्षित होने की संभावना बहुत कम हो जाएगी। प्रारंभिक साक्षरता जहां मौलिक अधिकार है, वहीं वंचित आबादी को सशक्त बनाने का साधन भी है।

स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुंच का जहां तक संबंध है, 1998-99 के लिए राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के आंकड़ों में, अनुसूचित जाति और अन्य वर्गों में बहुत अंतर है। बच्चों में व्याप्त कुपोषण और उच्च मृत्यु-दर का, गरीबी, कम शिक्षा

तथा भेदभाव के चलते स्वास्थ्य सुविधाओं में पहुंच की कमी से भी गहरा संबंध है। उच्च निरक्षरता, गरीबी तथा भेदभाव अनुसूचित जाति के सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की मांग और उनके इस्तेमाल की योग्यता को घटाते हैं।

आंध्र प्रदेश में स्वास्थ्य सुरक्षा प्रणाली के क्षेत्र में निजीकरण अस्सी के दशक में शुरू हुआ। किंतु उनके गांवों से अस्पतालों की लंबी दूरी और अस्पतालों में उनके गांवों में जाने के प्रति उपेक्षा-भाव के कारण बहुतेरे दलित अभी भी इन सुविधाओं का लाभ उठाने में सक्षम नहीं हुए हैं। स्वास्थ्य सुविधा संस्थाओं में भी अस्पृश्यता की प्रथा मौजूद है।

दलित स्त्रियों की स्थिति

दलित स्त्रियां, जो भारतीय समाज की आर्थिक रूप से सर्वाधिक वंचित हिस्सा है, को वैश्वीकरण एक विशेष प्रकार से प्रभावित कर रहा है। उनमें से 70% तो खेत मजदूर हैं। अनुसूचित जाति की स्त्रियों की साक्षरता का प्रतिशत देश में सबसे निम्न है (1991 के आंकड़े के अनुसार 23% जबकि सामान्य वर्ग की स्त्रियों में साक्षरता 39% थी) तथा उनमें स्कूल छोड़ देने वालों की दर सबसे अधिक थी। काम करने वाली महिलाओं में अनुसूचित जाति की स्त्रियों की भागेदारी की दर सबसे ऊंची है। इसके अतिरिक्त उन्हें घरेलू सुविधाएं प्राप्त हैं। उनकी स्वास्थ्य की स्थिति खराब है तथा वे प्रभावशाली जाति के पुरुषों द्वारा यौन अत्याचार की शिकार भी हैं। इस प्रकार समाज सेवा पर सरकारी खर्च में कमी का दलित स्त्रियों के स्वास्थ्य, शिक्षा और आजीविका पर सीधा प्रभाव पड़ता है। **निर्धनता-उन्मूलन कार्यक्रम में लिंग और जाति पर विशेष ध्यान देते हुए राज्य के हस्तक्षेप की जरूरत है।** पूंजीगत परिसंपत्तियों, रोजगार, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा की उपलब्धता के मामले में अनुसूचित जाति तथा अन्य वर्गों में असमानता जारी है। पूंजीगत परिसंपत्तियों के स्वामित्व में हालांकि कुछ सुधार आया है। अनुसूचित जाति का एक बड़ा अंश मजदूरी के पेशे से जुड़ा है। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि ऐतिहासिक रूप से ज़ारी असमानता और अलगाव, पारंपरिक व्यवसायों में किस हद तक व्याप्त है और बाजारी अथवा गैर बाजारी व्यवसाय अथवा दोनों ही इस भेदभाव और बहिष्कार से किस हद तक प्रभावित होते हैं?

निर्धनता हास की गति मंद

आय के स्थायी स्रोतों तक पहुंच न होना, मजदूरी का ऊंचा प्रतिशत, जिसमें अल्परोजगार, अल्प-मजदूरी का ऊंचा प्रतिशत होने के कारणों से अनुसूचित जाति के परिवारों में अल्प आय और निर्धनता अधिक है। यह उनमें गरीबी-रेखा के नीचे रह रहे व्यक्तियों के अनुपात से स्पष्ट हो जाता है वर्ष 2000 में शहरी तथा

ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में 43% अनुसूचित जाति के व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे रह रहे थे। अन्य वर्गों में यही आंकड़ा केवल 23% का है। गरीबी का परिमाण अनुसूचित जाति में सबसे अधिक है। सुधार के पहले तथा बाद के आंकड़ों की तुलना से हमें नई आर्थिक नीति के गरीबी पर पड़ने वाले प्रभाव को समझने में मदद मिलती है। 1983-84 से शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जाति के साथ अन्य वर्गों में भी गरीबी के अनुपात में कमी आई है पर 80 के दशक के मुकाबले 90 के दशक में गरीबी में यह कमी अनुसूचित जाति में बहुत कम थी। इसका अर्थ यह है कि 1990 के दशक में अनुसूचित जाति की गरीबी में कमी की दर मंद पड़ गई है।

विकल्प क्या है?

अब तक की चर्चा से पता चलता है कि दलितों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति में थोड़ा सुधार आया है जिसका परिमाण न्यूनतम है। यह सरकार की गरीबों और दलित समर्थक नीतियों का परिणाम है। इन सकारात्मक परिवर्तनों के बावजूद दलितों के विकास का स्तर हर पैमाने से बहुत कम है। भारतीय समाज के अन्य वर्गों और अनुसूचित जाति में विषमता बनी हुई है और विकास संकेतक को दृष्टिगत रखें तो वे दूसरों से पिछड़ रहे हैं। वर्ष 2000 में लगभग दो-तिहाई अनुसूचित जाति ग्रामीण परिवार भूमिहीन या लगभग भूमिहीन थे, जबकि अन्य वर्ग में ऐसे लोगों का हिस्सा एक-तिहाई था। पूंजीगत परिसंपत्तियां एक तिहाई जाति के परिवारों के पास थी। जबकि अन्य वर्ग में यह 60% परिवारों के पास थी। लगभग 60% अनुसूचित जाति के परिवार मजदूरी पर आश्रित हैं। अन्य वर्गों में एक तिहाई मजदूरी पर आश्रित परिवारों की तुलना में वे कहीं अधिक हैं। रोजगार दर तथा मजदूरी की आय भी बहुत नीची है। साक्षरता, शिक्षा के स्तर तथा स्वास्थ्य की स्थिति में अन्य वर्गों की तुलना में ऐसी ही विषमता देखने को मिलती है। अध्ययन द्वारा बाजार-गत एवं गैर बाजार-गत व्यवसाय, साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास तथा राजनीति में भागीदारी और सामाजिक सेवा में उनके साथ भेद-भाव के प्रमाण मिलते हैं। इन तमाम विषमताओं का संचयी प्रभाव उनमें व्याप्त घोर निर्धनता के रूप में नज़र आता है। अनुसूचित जाति में निर्धनता 36% है जबकि अन्य में 21%। निर्धनता विशेष रूप से अनुसूचित जाति के मजदूर परिवारों में अधिक है, जो ग्रामीण क्षेत्र में 60% हैं और शहरी क्षेत्र में 70%।

अछूत मानवाधिकार उल्लंघन तथा अत्याचार से भी पीड़ित है। 1980 से 2000 के 20 वर्षों में तीन लाख मामले बने, यानी मानवाधिकार उल्लंघन तथा अत्याचार के प्रतिवर्ष औसतन 23000 मामले अनुसूचित जाति के लोगों द्वारा पुलिस के पास दर्ज कराए गए। इससे वर्तमान समय में अछूतों के प्रति सामाजिक एवं आर्थिक भेदभाव की व्यापकता का पता चलता है। इससे यह भी सहज पता चलता

है कि दलितों को किसी हद तक सम्मानजनक और प्रतिष्ठापूर्ण जीवन तथा आजीविका प्राप्त करने योग्य बनने के लिए एक लंबी यात्रा तय करनी होगी।

अनुसूचित जाति की निर्धनता तीन कारणों से निकट रूप से सम्बद्ध है (क) निश्चित आय देने वाली संपत्तियों यथा कृषि भूमि अथवा अन्य संपत्ति का न होना (ख) मानव संसाधन विकास यथा शिक्षा स्वास्थ्य तथा आवास और (ग) विभिन्न बाजार और गैर बाजार गत लेन-देन में आय तथा मानव संसाधन विकास उपलब्धता के मामले में जारी भेदभाव।

भूमिसुधार के बावजूद दलितों में भूमिहीनता गंभीर हद तक अभी भी विद्यमान है लगभग तीन चौथाई अनुसूचित जाति के परिवार भूमिहीन या लगभग भूमिहीन हैं। (यानी जिनके पास एक एकड़ से कम भूमि है) भूमि स्वामित्व पर भूमि परिसीमन लगाकर प्राप्त भूमि तथा सरकारी जमीन का पुनर्वितरण बहुत ही सीमित परिमाण में हुआ है। भूमि परिसीमन वितरित भूमि खेती योग्य भूमि का केवल 28 प्रतिशत है। अगर भूमि परिसीमन द्वारा उपलब्ध भूमि तथा सरकारी जमीन दोनों के पुनर्वितरण को मिला भी दें, तो यह कुल कृषि योग्य भूमि का केवल 8 प्रतिशत है। दक्षिण एशियाई देशों में जहां इस प्रकार लगभग एक-तिहाई भूमि पुनर्वितरित हुई या चीन जहां जमीन का पूर्णरूपेण राष्ट्रीयकरण हुआ है और सब को भूमि की समान उपलब्धता प्राप्त है, की तुलना में भारत में बहुत कम भूमि पुनर्वितरण द्वारा उपलब्धता हो पाई है। दलितों में भूस्वामित्व की स्थिति में सुधार के गंभीर प्रयास किये जाने चाहिए। सरकार के सामने कुछ विकल्प हैं पर इन विकल्पों पर अमल के लिए भूस्वामित्व के पैटर्न में बदलाव की जरूरत है। इसके लिए कृषि भूमि बाजार में सरकारी हस्तक्षेप की जरूरत होगी। अलग-अलग प्रकार की सामान्य भूमि को अपने नियंत्रण में लेकर सरकार को इस प्रकार की सामान्य भूमि का पूल (Pool) बनाना चाहिए जैसे कि खेती योग्य परती जमीन, चरागाह, दूसरे प्रकार की भूमि-भूमि परिसीमन के अंतर्गत प्राप्त फालतू जमीन आदि। इस प्रकार एकत्रित की गई भूमि को निजी पक्ष द्वारा अतिक्रमण या कानूनी विवाद में घसीटने से मुक्त घोषित कर देना चाहिए तथा समाज कल्याण मंत्रालय के अधिकार में रखकर भूमिहीन दलितों में निजी हित को मिलाए बिना पूर्णवितरित कर देना चाहिए। विवाद मुक्त भूमि वितरण का यह एक रास्ता हो सकता है। भूमि जोत क्षेत्र की हदबंदी को भी 18 एकड़ पूर्णरूपेण सिंचित भूमि, 24 एकड़ मौसमी सिंचित भूमि और 52 एकड़ सामान्य भूमि की सीमा से कम करने की आवश्यकता है। एक ऐसे देश में जहां भूमिहीनता बहुत अधिक है, जैसे कि पंजाब में नब्बे प्रतिशत से भी ऊपर है, भूमि स्वामित्व की बड़ी सीमा रखने की कोई जरूरत नहीं है।

मानव संसाधन विकास के लिए भी यह जरूरी है कि सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली को सशक्त तथा आम बनाया जाना चाहिए। शिक्षा के विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों में

निजीकरण से सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की उपेक्षा हुई है। इससे निर्धन वर्गों को शिक्षा की उपलब्धता भी कम होती है। यूरोप की तरह भारत में भी सार्वजनिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य की प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए, जिसके अंतर्गत इन्हें सर्वसुलभ बनाया जाना चाहिए। कई प्रकार की शिक्षा की अनुमति देकर शिक्षा क्षेत्र में उत्पन्न विषमता तथा स्तर अनुक्रम को बंद करना चाहिए। यूरोपीय देशों की तरह हमारे यहां भी सबके लिए एक समान शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें शिक्षा निःशुल्क तथा सहज उपलब्ध हो। सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली को भी मजबूत बनाया जाना चाहिए। इसी प्रकार शिक्षा के लिए ऋण की वर्तमान परिवर्तित नीति और स्वास्थ्य सीमा को समाप्त कर मजबूत तथा कुशल सार्वजनिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य ही निर्धन तथा उपेक्षित जन समुदायों के लिए सर्वोत्तम बीमा तथा सुरक्षा बनें।

अंततः निजी क्षेत्र में किसी न किसी प्रकार की आरक्षण व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता है। 90% से भी अधिक दलित निजी क्षेत्रों में कार्यरत हैं, जिसमें कृषि उद्योग तथा सेवा क्षेत्र शामिल है और वहां दलित पक्षपात के शिकार हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में जो थोड़ा बहुत स्थान उन्होंने पाया था, निजीकरण के कारण वह तेजी से घट रहा है। मूल प्रश्न है कि किस प्रकार निजी क्षेत्र के लिए आरक्षण नीति को विकसित करें कि विभिन्न बाजार क्षेत्र में पक्षपात तथा भेदभाव समाप्त कर बाजार को बेहतर बनाकर अनुसूचित जाति का उसमें प्रवेश सुगम बनाया जा सके। दूसरे शब्दों में निजी क्षेत्र में आरक्षण का स्वरूप तय किया जाना चाहिए। इस मामले में भारत सरकार को दुनिया के अन्य देशों जैसे अमेरिका, उत्तरी आयरलैंड या मलेशिया और चीन जैसे दक्षिण एशियाई पड़ोसी देशों में निजी क्षेत्रों में लागू सकारात्मक हस्तक्षेप और रोजगार के समान अवसर की नीति से सीख लेनी चाहिए। बाजार में व्याप्त भेदभाव के विरुद्ध उठाए गए कदमों की संख्या विभिन्न देशों में अलग है। यहां दो बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं पहली, आर्थिक क्षेत्र या बाजार, जिसके लिए किसी न किसी प्रकार की आरक्षण नीति अपनाई जानी चाहिए। दूसरी, विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र या बाजारों में भेदभावग्रस्त समुदायों की पक्षपातमुक्त प्रवेश सुनिश्चित करने की विधि तय की जानी चाहिए।

जहां तक आर्थिक क्षेत्र का संबंध है, अधिकांश देश जैसे अमेरिका, उत्तरी आयरलैंड, दक्षिण अफ्रीका तथा मलेशिया में अल्पसंख्यकों तथा भेदभावग्रस्त ग्रुपों के लिए श्रम तथा अन्य बाजार में पक्षपात विरोधी उपाय उठाए गए हैं। अमेरिका में भी आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों, जैसे आवास, शिक्षा तथा विभिन्न सरकारी संविदाओं में सकारात्मक कार्रवाई की नीति विकसित की गई हैं। मलेशिया तथा दक्षिण अफ्रीका जैसे विकासशील देशों में जहां श्रम बाजार के अतिरिक्त कृषि क्षेत्र

में आबादी का बड़ा भाग लगा हुआ है, सकारात्मक कार्रवाई की नीति का विस्तार कृषि भूमि बाजार और निजी घरेलू तथा विदेशी पूंजी बाजार तक और शिक्षा तथा आवास आदि के सामाजिक सेवा तक किया गया है।

दूसरी बात यह है कि इन देशों में कानूनी और अन्य प्रकार के उपाय विभिन्न क्षेत्रों में मौजूद भेदभाव के विरुद्ध पीड़ित लोगों को सुरक्षा देने के लिए उठाए गए हैं। इन कदमों में शामिल हैं (क) भूतकाल में लम्बे समय तक संपत्ति के अधिकार से वंचित किए जाने के लिए क्षतिपूर्ति, (ख) श्रम बाजार में भेदभाव के विरुद्ध वैधानिक नियम जैसे 'समान रोजगार अवसर कानून' ये कानून फर्मों में जो उत्पादकता या गैर आर्थिक कार्यों से संबद्ध नहीं है, में कामगारों के प्रति पक्षपात का निषेध करते हैं। (ग) अल्पसंख्यक या भेदभावग्रस्त ग्रुपों के लिए रोजगार में न्यायसंगत प्रवेश सुनिश्चित करने के लिए सकारात्मक कदम इसके लिए संतुलित (जातीय/धार्मिक) रोजगार नीति अपनाई जाये, जिसमें कोटा बिना एक सामान्य बेंच मार्क की व्यवस्था हो या फिर विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों के लिए उनकी आबादी के अनुपात में नियत कोटा प्रणाली हो।

सरकार को एक तो समान रोजगार अवसर कानून बनाकर और दूसरे सार्वजनिक क्षेत्र में लागू वर्तमान आरक्षण नीति का प्रभाव क्षेत्र निजी क्षेत्र तक बढ़ा कर निजी क्षेत्र में आरक्षण की नीति विकसित करनी चाहिए। इस कानून के प्रभाव के दायरे में श्रम, पूंजी, उत्पाद, शिक्षा और आवास सभी प्रकार के बाजार को लाया जाना चाहिए।

कृषि भूमि के मामले में मलयेेशिया से सीख लेने की जरूरत है, जहां दलितों में भूमि वितरण द्वारा हजारों साल से वंचित और अन्याय के प्रतिकार के लिए क्षतिपूर्ति की व्यवस्था है। पंजाब जैसे राज्य में 1901 से 1947 तक प्रथागत कानून को औपचारिक कानून में बदलकर कृषि भूमि के स्वामित्व से वंचित कर दिया गया था। यहां उदाहरण के तौर पर पंजाब लैंड एलियनेशन एक्ट उल्लेखनीय है, इसलिए पंजाब जैसे राज्य में जहां आधी शताब्दी तक 95% दलितों को कानून बनाकर भूमि के स्वामित्व से वंचित रखा गया, भूमि परिसीमन से प्राप्त थोड़ी-बहुत जमीन बांट कर दलितों की भूमिहीनता की समस्या का निराकरण नहीं किया जा सकता। इस समस्या को तो क्षतिपूर्ति का कानून बनाकर हल किया जा सकता है जैसा कि मलयेेशिया के मलया जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया के यहूदी, अमेरिका के आदिवासी इन्डियन के लिए किया गया है। वस्तुतः ब्रिटिशों ने दलितों को, जैसे कि महाराष्ट्र में महारों को तमिलनाडु में पंचनामी भूमि और आंध्रप्रदेश में दलित जाति को भूमि जमीन देने की क्षतिपूर्ति की यह विधि अपनाई थी। पहले ही हम चर्चा कर चुके हैं कि सरकार को सामान्य भूमि का एक पूल बनाना चाहिए, जिसमें सरकारी भूमि और अन्य प्रकार की सामान्य भूमि के साथ-साथ भूमि-स्वामित्व की सीमा कम करके निकली क्रीत भूमि शामिल हो और

इन सभी प्रकार की भूमि को ऐतिहासिक अत्याचार तथा अन्याय की क्षतिपूर्ति के तौर पर दलितों में आवंटित कर देना चाहिए।

अंबेडकर का राज्य-समाजवाद

आनंद तेलतुंबड़े

परिचय

डॉ. अंबेडकर का राज्य-समाजवाद से उतना ही गहरा जुड़ाव रहा है जितना कि बौद्ध धर्म या संविधानवाद से। ये सभी शब्द दलितों की मुक्ति को लेकर अंबेडकर की चिन्ता की तुलना में स्पष्टतः बड़े विचार हैं। ऐसे समय में जब उपनिवेश विरोध, राष्ट्रवाद, समाजवाद, क्रान्ति आदि जैसे उच्च आदर्श वाले आन्दोलनों की गूंज थी, अंबेडकर ने अपने जीवन के एकमात्र उद्देश्य के रूप में अपने दलित समुदाय के लोगों की मुक्ति के कार्य को चुना जो देखने में पंथवादी या साम्प्रदायवादी लगता था। साम्प्रदायिक प्रतीति वाले कार्य को चुना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास में उन्हें मुख्यधारा की सभी शक्तियों से जरूरी तौर पर भिड़ना पड़ा और साम्राज्य विरोध की लड़ाई में रंग में भंग डालने वाला और ब्रिटिशों का भाड़े का टट्टू जैसे अपशब्द भी सुनने पड़े। कुछ ही लोग यह समझते थे कि दलित-मुक्ति एक शोषण-मुक्त समाज के निर्माण के श्रेष्ठतम आदर्श वाली योजना का अनिवार्य अंग उस योजना की यह एक पूर्वपिछित शर्त है। और अन्य आन्दोलनों को लेकर उनके तर्क-वितर्क मूलतः उक्त आन्दोलनों द्वारा टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित सामाजिक संरचना, जिसके सबसे बड़े उदाहरण के तौर पर दलितों की दुर्दशा को लिया जा सकता था, से जुड़े बिना अपने घोषित उद्देश्यों के लिए किए जा रहे संघर्ष के दावे पर प्रश्न चिन्ह लगाते थे। यही वजह थी कि अंबेडकर ने जब राज्य-समाजवाद का प्रस्ताव किया तो वे जाति के मुद्दे से ऊपर उठकर, समाजवादी दृष्टिकोण की ओर यानी एक सम्प्रदाय को लेकर अपनी मनोग्रन्थि से एक विश्वजनीन दर्शन की ओर अग्रसर हुए, देखकर कुछ लोगों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। जो लोग उन्हें मार्क्स की जगह बिठाना चाहते थे, उन्हें अंबेडकर का राज्य-समाजवाद अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बेहद उपयोगी सिद्ध हुआ।

राज्य पोषित समाजवाद के अंबेडकर के विचार की व्याख्या उनकी पुस्तक 'स्टेट्स एंड माइनोरिटीज' में मिलती है। 1947 में प्रकाशित इस पुस्तक को

अनुसूचित जातियों की सुरक्षा का स्मृति-पत्र बनना निश्चित था। अंबेडकर ने इसे अपनी पार्टी 'शेड्यूल कास्ट फेडरेशन' की ओर से संविधान सभा में जब न तो वे इस सभा में थे और न ही इसमें उनकी पार्टी का उसमें कोई प्रतिनिधित्व था प्रस्तुत करने को तैयार किया था। इस पुस्तक की प्रस्तावना में "अंबेडकर कहते हैं कि मैंने आशा की थी कि संविधान सभा मेरी विद्वता को दृष्टिगत रखकर मुझे राज्य समिति के लिए चुन लेगी परन्तु जब मैंने पाया कि मेरा चुनाव नहीं किया गया है तो मैंने दूसरा सबसे बढ़िया रास्ता चुना। यानी 'स्टेट्स ऑफ सिटिजेन्स, ऑफ माइनोरिटिज एंड ऑफ द शेड्यूल कास्ट' के साथ प्रकाशित एक पुस्तिका में अपने विचार शामिल किए ताकि व्यापक स्तर पर जनता जान सके कि उनके विचार क्या हैं, उनके गुणों के अनुरूप उनका मूल्यांकन कर सके और जैसा उचित हो उन विचारों का उपयोग करे। (स्टेट्स एंड माइनोरिटिज, प्रस्तावना) इस स्मृति-पत्र में मौलिक अधिकार, अल्पसंख्यकों के अधिकार और अनुसूचित जाति की रक्षा को परिभाषित किया गया था। राज्य-समाजवाद के विचार मौलिक अधिकार के अतिक्रमण के प्रतिकार के संदर्भ तथा आर्थिक शोषण से बचाव के अन्तर्गत आते हैं।

'स्टेट्स एंड माइनोरिटिज' से पूर्व अंबेडकर ने शोषण रहित समाज यानी स्वतन्त्रता-समानता एवं भाईचारे के सिद्धान्त पर आधारित समाज के अपने सपने को पूरा करने के लिए एक प्रणाली के रूप में समाजवाद के पक्ष में अपनी जबरदस्त पसंद को अभिव्यक्त किया था पर समाजवाद की अपनी समझ की रूपरेखा को प्रस्तुत करने की कभी कोशिश नहीं की थी। इसके विपरीत कम्युनिस्टों ने जो समाजवाद के सबसे प्रबल प्रस्तावक थे, के दावों और प्रस्तावों का विरोध कर उन्होंने यह जता दिया कि भारत में समाजवाद के विचार को लेकर वे सम्मोहन-ग्रस्त नहीं हैं। जातियों के विरुद्ध जिस आन्दोलन की उन्होंने शुरुआत की, उसके रूप और मुद्दों के तेवर सुधारवादी थे। यह स्पष्ट रूप से हिन्दू धर्म-संहिता, जिसने भारतीय समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार में एक विशेष प्रकार की परिपाटी स्थापित की थी, के विरुद्ध था। यह आंदोलन पूरी तरह निम्न जातियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक दमन के विरोध में था और आर्थिक शोषण के प्रश्न उठाकर समाजवाद लाना इसके एजेण्डे में नहीं था। यह कभी स्पष्ट नहीं किया गया कि यह आन्दोलन अपने स्थापित रूप में एक वृहत्तर संघर्ष, जिसमें समाजवाद अन्तर्निहित था, का एक हिस्सा था। उनका तर्क था कि जाति के मसले से दो-दो हाथ किए बिना कम्युनिस्टों की सामाजिक क्रान्ति संभव नहीं है और यदि ऐसी कोई क्रान्ति हो भी गई तो यह बेकार होगी क्योंकि क्रान्ति के बाद के समाज को और भी कठिन स्थिति में, इस जातीय लड़ाई से जूझना होगा, इस तर्क के कारण ही अम्बेडकर को कम्युनिस्टों तथा समाजवादियों का विरोधी तथा उदार लोकतंत्रवादियों, जो क्रान्तिकारी राजनीति के विषय में आदतन ऐसी सनक-भरी बातें कहते रहते थे, के निकट समझा गया।

सुधारों के प्रति उनके उत्साह और केवल समाजवाद द्वारा ही क्रान्ति संभव होने के दावे के प्रति उनके संदेह से, उनकी इस छवि को बल मिला। इस पृष्ठभूमि में समाजवाद के पक्ष में स्पष्ट अनुशांसा, हालांकि यह समाजवाद के प्रचलित रूप से भिन्न था, ने उन्हें व्यावहारिक समाजवादी के रूप में एक क्रान्तिकारी छवि प्रदान की।

इस आलेख का मुख्य उद्देश्य अंबेडकर के मन में **राज्यपोषित समाजवाद** के विचार के जन्म को समझने का प्रयास करना है ताकि इस विचार के महत्त्व का आकलन किया जा सके। **आखिर मार्क्सवादियों के वैज्ञानिक समाजवाद की तुलना में इस विशेष प्रकार के समाज को अंबेडकर ने क्यों चुना?** जातियों के विनाश के उनके मुख्य लक्ष्य से उनके इन विचारों का क्या मेल है? यह आलेख यह भी पड़ताल करने का प्रयास करेगा कि सिद्धान्त रूप में राज्यपोषित समाजवाद का विचार कितना ठोस और व्यवहार्य है। 'स्टेट्स एंड माइनोरिटिज' के प्रकाशित होने के उपरान्त अंबेडकर ने स्वयं को संविधान-सभा में शामिल पाया और उसके बाद जल्द ही उसकी प्रारूप समिति के अध्यक्ष की कमान अपने हाथ में पाई। संविधान-सभा ने देश को जो संविधान दिया उस पर उनके दर्शन की स्पष्ट छाप है। इसके लिए उसके मुख्य निर्माता के रूप में उन्हें सराहा गया। हालांकि स्मार-पत्रों में शामिल समाजवाद से संबद्ध उनके प्रस्तावों के बिना भी संविधान स्वयं को समाजवादी घोषित करता है तथा अंबेडकर के विचारों का एक विचित्र प्रभाव इसके समग्र रुख पर झलकता है। यह देखना दिलचस्प है कि **राज्यपोषित समाजवाद** का यह रूप समाजवाद के आधारभूत विचारों, जो मार्क्सवाद के बेंचमार्क हैं, से कितना साम्य रखता है। अतंतः यह आलेख एक निष्कर्ष प्रस्तुत करता है, जिसमें यह संक्षिप्ततः बताता है कि दलितों की अपनी मुक्ति के संग्राम से समाजवाद कितने अभिन्न रूप से जुड़ा है और किस प्रकार यह केवल कामगार वर्ग की क्रान्ति के द्वारा ही प्राप्य है।

स्टेट्स एंड माइनोरिटिज में राज्य पोषित समाजवाद का रूप

'स्टेट्स एंड माइनोरिटिज' के परिशिष्ट में अंबेडकर राज्यपोषित समाजवाद के अपने विचार की व्याख्या करते हुए कहते हैं "राज्य का यह दायित्व है वह अपने लोगों के आर्थिक जीवन की योजना के आधार के रूप में ऐसी नीतियां अपनाएं, जिससे निजी उद्यम के मार्ग बंद किए बिना उत्पादकता का चरम बिन्दु प्राप्त किया जा सके और जिससे धन का समान वितरण हो। (स्टेट्स एंड माइनोरिटिज परिशिष्ट 4)" यह योजना कृषि क्षेत्र में खेती का सामूहिकीकृत तरीका तथा उद्योग क्षेत्र में **राज्य-समाजवाद** का संशोधित रूप लागू करने का प्रस्ताव करती है। इस प्रकार यह **राज्य-समाजवाद** को केवल उद्योग के क्षेत्र में लागू करने की बात करती

है और एक प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक मॉडल प्रस्तुत करती है, जिसमें निजी उद्यम की संभावनाओं का पहले से ही गला नहीं घोट दिया जाता। अम्बेडकर ने देश में तीव्र औद्योगिकीकरण एवं उत्पादकता में वृद्धि के लिए पूंजी का घोर अभाव महसूस कर लिया था और इस कारण पूंजी जुटाने तथा उसका प्रबन्ध संभालने में राज्य की भूमिका को समझ लिया था। उनकी योजना के अनुसार राज्य कृषि के साथ-साथ उद्योग के लिए पूंजी की आपूर्ति के लिए उत्तरदायी था। राज्य के संसाधनों में अभिवृद्धि हेतु तथा लोगों को व्यक्तिगत सुरक्षा प्रदान करने के लिए उन्हें **उत्पादकता में वृद्धि** के लिए अंबेडकर ने दो महत्वपूर्ण कारक माने। उन्होंने बीमा क्षेत्र के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव रखा। जैसे कि वे कहते हैं “*राष्ट्रकृत बीमा एक व्यक्ति को निजी बीमा फर्म की अपेक्षा ज्यादा सुरक्षा देती है क्योंकि यह बीमा के मौद्रिक दायित्व के लिए राज्य के संसाधनों को प्रतिभूति के रूप में प्रयोग करने का संकल्प करता है। यह राज्य को अपनी आर्थिक योजना के लिए आवश्यक वित्तीय प्रबंध हेतु संसाधन भी मुहैया करता है। पूंजी जिसके अभाव में इसे मुद्रा बाजार से ऊंची ब्याज-दर पर लेनी पड़ेगी।*” **राज्य-समाजवाद** को भारत के तीव्र औद्योगिकीकरण के लिए जरूरी माना गया, जैसा कि उस समय के बड़े पूंजीपतियों ने स्वतन्त्रता की पूर्वसंध्या पर तैयार किए अपने ‘**बॉम्बे प्लान**’ में स्वीकार किया था। अंबेडकर निजी पूंजी को देश में औद्योगिकीकरण के महत्त्व के दायित्व को निभाने के योग्य नहीं मानते थे। इसके अतिरिक्त वे समझते थे कि औद्योगिकीकरण को केवल निजी पूंजी पर ही छोड़ दिया गया तो यूरोप की भांति यहां भी सम्पत्ति की विषमता की स्थिति उत्पन्न होगी, अतः **उन्होंने प्रमुख उद्योगों का स्वामित्व और प्रबंधन राज्य द्वारा किए जाने का प्रस्ताव रखा।** ऐसे उद्योग जो भले ही प्रमुख उद्योग नहीं थे, पर जो आधारभूत उद्योग थे को भी राज्य अथवा राज्य-निगमों द्वारा संचालित करने का प्रस्ताव भी उन्होंने किया।

हालांकि इस बॉम्बे प्लान के साथ संलग्न परिशिष्ट, जिसका उद्देश्य उक्त प्लान की व्याख्या प्रस्तुत करना था, में राज्य समाजवाद को उद्योग के क्षेत्र में लागू करने की बात की गई थी। किन्तु पूरे कृषि-क्षेत्र को इससे पहले ही सरकारी उद्योग की छत्र छाया में ले लिया गया था। इसके अनुसार राज्य को उद्योगों, बीमा तथा कृषिभूमि का निर्वाह अधिकार (**Subsisting rights**) निजी हाथों से हटाकर अपने हाथों में लेना चाहिए तथा क्षतिपूर्ति के रूप में जमीन में उनके स्वामित्व के मूल्य के बराबर के ऋणपत्र उन्हें दे देने चाहिए। इन ऋणपत्रों पर ब्याज देय होगा तथा राज्य द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार इनके बदले नकद भुगतान प्राप्त किया जा सकेगा। कृषि-उद्योग के क्षेत्र में इस योजना के अनुसार समूची कृषि-भूमि को राज्य द्वारा प्रामाणित आकार के भू-खंडों में बांटकर ग्रामवासियों को जाति या धर्म का भेदभाव किए बिना खेती के लिए किराए पर दिया जाए। ये ग्रामीण असामी इस

पर सामूहिक फार्म खेती या सरकार द्वारा निर्धारित किसी अन्य तरीके से खेती करें तथा इस सामूहिक खेती का खर्च जो इसमें लगने वाली सभी आवश्यक सामग्रियों यथा जल आपूर्ति, पशु, कृषि उपकरण, खाद तथा बीज के सम्बन्ध में होने वाले खर्च, राज्य द्वारा वहन किया जाए तथा इन खर्चों के बदले में राज्य को उपज पर समुचित लगान वसूलने का अधिकार प्राप्त होगा।

इस योजना की चारित्रिक विशेषता यह है कि यह आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए **राज्य समाजवाद** के चुनाव तथा संविधान के कानून द्वारा इस राज्य समाजवाद की स्थापना से संबद्ध है ताकि विधायिका तथा कार्यपालिका किसी भी प्रकार से इसे परिवर्तित न कर सके। इस प्रकार अम्बेडकर एक ऐसे संविधान, जो समाज के आर्थिक ढांचे को अर्द्धस्थायी रूप दे सके, के निर्माण के लिए संविधान-सभा पर निर्भर हैं। दूसरे शब्दों में संविधान-सभा ऐसे राज्य का निर्माण करेगी जो समाजवादी नीतियां अपनाएगा। इस नीति की कल्पनाएं यदि सत्य हो गईं तो इस योजना की विशिष्ट नीतियां समाज को गुणात्मक रूप से अत्यंत उच्च स्तर पर ला देंगी। इस योजना में प्रस्तावित सामूहिक-खेती के लक्षण, ऋणपत्र के रूप में संपत्ति के अधिकार को मान्यता देने के विचार के सिवाए, समाजवादी हैं। यह निश्चित रूप से उन भूमि-सुधारों से बेहतर है, जिनके द्वारा भूमिहीन निर्धनों को पिछले छः दशकों से निरंतर संघर्ष के बावजूद भी छला गया है। जोतने वाले भूमिहीन मजदूर को ही जमीन का अधिकार देने से निम्न गुणवत्ता वाली छोटी जोतों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो सकती है, जिससे श्रेष्ठ निवेश (Optimized inputs) की उनको आपूर्ति का कार्य असाध्य हो जाएगा। इस प्रकार संभवतः न तो वे जमीन देने वाले के लिए लाभकारी होगी और न लेने वाले के लिए। भूमि पर निजी स्वामित्व को समाप्त कर देने की व्यवस्था वाली सामूहिक खेती चूंकि श्रेष्ठ निवेश (Optimized inputs) के प्रयोग के अनुकूल होने के कारण भारतीय संदर्भ में पारंपरिक भूमि-सुधारों की तुलना में कहीं बेहतर समाधान प्रस्तुत करती है।

उद्योग राज्य-स्वामित्व और नियंत्रण के अंतर्गत विषमताओं को काफी रोक सकते हैं, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं कि उद्योग पर जनता या श्रमिकों का नियंत्रण होगा। पूंजी के अभाव के संदर्भ में केंद्रीकृत योजना का बड़ा महत्व हो जाता है पर यह राज्य द्वारा ही किया जाना संभव है। इसके अलावा ऐसी योजना के लिए संसाधन जुटाने के मामले में निजी पूंजीपतियों के मुकाबले राज्य के पास अधिक रास्ते हैं, जिससे कि उत्पादकता में वांछित सुधार सुनिश्चित किया जा सके। सारांशतः यही वह मॉडल है जो मोटे तौर पर क्रांति के बाद के काल के सोवियत संघ तथा चीन में चलता रहा है और केवल समाजवादी तंत्र से इसकी सम्बद्धता के आधार पर इसे गलत नहीं करार दिया जा सकता। वैसे भी अम्बेडकर के **राज्य-समाजवाद** और सोवियत संघ तथा चीन के सरकार नियंत्रित समाजवाद में एक विशिष्ट अंतर है। उक्त देशों में जहां यह

सर्वहारा क्रांति द्वारा लागू हुआ और समाजवादी राज्यों द्वारा संचालित किया गया, वहीं अबेडकर चाहते हैं कि यह संविधान-सभा के नैतिक बल से उत्पन्न हो और बुर्जुआ उदार राज्य द्वारा संचालित हो। विकल्पतः जहां इतिहास में झांकने पर हम पाते हैं कि समाजवाद की स्थापना, समाजवादी राज्य है, जो कि स्वयं क्रांतिकारी परिवर्तन का प्रतिफल हैं, और यह उसी द्वारा होती है, वहीं **राज्य-समाजवाद** की योजना गैर अनुकूल सामाजिक-राजनैतिक परिस्थिति में अनुकूल राज्य की कल्पना करती है। दूसरे शब्दों में यह मॉडल अपने लक्ष्यों को ही अपनी कल्पना-परिधि में रखता है, जो प्राप्त करना हो केवल उसे ही अपनाता है।

राज्य-समाजवाद का इतिहास

राज्य-समाजवाद, समाजवाद की एक किस्म के तौर पर कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स की शिक्षाओं और लिखित साहित्य पर आधारित समाजवादी आंदोलनों के प्रसार की प्रतिक्रियास्वरूप मुख्यतः जर्मनी में प्रकट हुआ। इसका लक्ष्य विभिन्न नीतिगत उपायों द्वारा राज्य-व्यवस्था में हस्तक्षेप करना था, जिससे समाज के कमजोर तबकों में अवसर की समानता की स्थिति लाई जा सके या उसे कायम रखा जा सके तथा उन्हें अन्य प्रकार की सहायता प्रदान की जा सके पर इसके साथ ही निजी संपत्ति के अधिकार, परिवार संस्था और राज्य की अन्य विशिष्टताओं को बनाए रखा जाए। जर्मनी में **राज्य-समाजवाद** के प्रादुर्भाव के बहुत पहले **लुई ब्लांक** नामक पेरिस के क्रांतिकारी पत्रकार, जो 1848 की फ्रांसीसी क्रांति के घटित होने के लिए बड़ी हद तक जिम्मेदार था, ने इस विचार की वकालत की थी। अपने क्रांतिकारी सिद्धांतों में उसने **“प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार”** के साम्यवादी आदर्श से एकदम मिलते-जुलते विचार प्रकट किए थे और अपने विचारों के प्रभाव से लगभग अकेले ही विद्रोह करने को उद्धत पेरिस की जनता को समाजवादी विचारधारा की ओर मोड़ दिया था, जिससे कि क्रांति में एक स्पष्ट श्रम-उन्मुख रंग आ गया था। क्रांति की विफलता के पश्चात् और 1871 तक ब्रिटेन में निर्वासन में, उसने धीरे-धीरे अपने रैडिकल विचार त्याग दिए और वह केवल सामाजिक कार्यक्रमों तथा आय के पुनर्वितरण में राज्य के हस्तक्षेप की बात करने लगा।

मार्क्स का समकालीन **फर्डिनेंड लस्साले**, जिसने 1863 में **जर्मन वर्कर्स पार्टी** बनायी थी, **राज्य समाजवादी** का आदि प्रतिरूप (Prototype) था। उसकी पार्टी जर्मन सोशलिस्ट पार्टी की आदि रूप थी। तत्कालीन जर्मन राज्य से पारंपरिक तौर पर समाजवाद की प्राप्ति का वे लक्ष्य रखते थे। **लस्साले** मजदूरों को कहते थे कि **“राज्य वह है जो हममें से प्रत्येक के लिए वह चीज़ हासिल करेगा, जो हममें से कोई भी हासिल नहीं कर सका।”** मार्क्स ने इसके बिल्कुल उलट शिक्षा दी

कि “कामगार वर्ग को अपनी मुक्ति स्वयं प्राप्त करनी होगी और पहले से मौजूद राज्य को इस प्रक्रिया में हटाना होगा।” बर्नस्टाइन ने ठीक ही कहा था कि लस्साले ने राज्य को वास्तविक धार्मिक-आस्था बना दिया। लस्साले ने इस प्रथम जर्मन समाजवादी आंदोलन को अपनी तानाशाही के रूप में संगठित किया। पूर्णतया सचेत होकर उसने निचले स्तर से इसे जन-आंदोलन का रूप दिया ताकि ऊपर से समाजवाद लाया जा सके। इसका उद्देश्य बिस्मार्क को कुछ रियायतें विशेष तौर पर सर्वसुलभ मताधिकार देने को राजी करना था ताकि इस आधार पर लस्साले के नेतृत्व में एक संसदोन्मुख आंदोलन को उदार बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध बिस्मार्कियन राज्य की मित्र-शक्ति बनाया जा सके। इस उद्देश्य से लस्साले ने लौह राष्ट्राध्यक्ष बिस्मार्क से अपने संगठन का अधिनायकवादी कानून यह लिखकर भेजा कि “मेरे राज्य का संविधान, जिसे देखकर शायद आपको भी मुझसे ईर्ष्या होगी।”

राज्य-समाजवाद के अगले सबसे बढ़िया उदाहरण के रूप में फेबियनवाद को देखा जा सकता है, जिसे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के एक ग्रुप ने 1884 ई. में स्थापित अपनी फेबियन सोसायटी द्वारा लंदन के आसपास फैलाया था। इस सिद्धांत का नामकरण रोमन जनरल फेबियस कंकटेटर (275-203 ई.पू.) के नाम पर हुआ। इस जनरल ने हन्निबल से युद्ध में पूरी तरह खुले आक्रमण की बजाए हल्के टकराव की बात की थी। फेबियन मत के समर्थकों ने इस विचार का प्रचार किया कि समाजवाद तथा समाजवादी राज्य को युरोप में परंपरावादी मार्क्सवाद द्वारा अपनाए गए अपेक्षाकृत क्रांतिकारी तथा टकरावपूर्ण तरीके की अपेक्षा ‘क्रमिक विधि’ से बेहतर तौर पर प्राप्त किया जा सकता है। फेबियनवादी सरकार, असैनिक कर्मचारी, एवं अन्य लोगों को यह आश्वस्त करके कि समाज के अपेक्षाकृत कम भाग्यशाली लोगों की दशा सुधारना एक जरूरी और न्याय संगत कार्य है, का भारी बौद्धिक दबाव बनाकर व्यवस्था को अन्दर से ही बदलना चाहते थे। युद्धोत्तर ब्रिटिश कल्याणकारी राज्य पर प्रभाव डालने में उन्हें किंचित सफलता भी मिली पर उसके बाद अपने आंतरिक विरोधाभासों के कारण वे ध्वस्त भी हो गए किंतु सिडनी तथा ब्रिएट्रिश वेब द्वारा प्रवर्तित इस समाजवाद, जिसे शुम्पीटर ने जर्मनी के राज्य समाजवाद का समतुल्य रूप बताया था, का संसार भर के बहुत सारे बुद्धिजीवियों पर बहुत प्रभाव पड़ा।

‘राज्य-समाजवाद’ नाम में विशेषण शब्द ‘राज्य’, समाज को समाजवादी राज्य में बदलने हेतु राज्य पर निर्भरता को ध्वनित करता है। अराजकतावादियों को छोड़ सभी समाजवादी यह विश्वास करते हैं कि चूंकि आज के समाज को बदलने में राज्य का किसी रूप में भी इस्तेमाल संभव है, इसलिए यह विशेषण उपयोगी नहीं है। इस शब्द का वास्तविक महत्व इस तरह से समझना चाहिए कि पूंजीवादी राज्य का इस्तेमाल राज्य को समाजवादी व्यवस्था में कायान्तरित करने के लिए नहीं किया जा

सकता। सोशल डेमोक्रेट मौजूदा राज्य में आस्था रखते हुए उसके माध्यम से ही अपना कार्य करना चाहते हैं जबकि मार्क्सवादी-लेनिनवादी राज्य पर कब्जा जमाकर उसे सर्वहारा शासित राज्य में बदलने पर जोर देंगे। केवल अराजकतावादी इस तरीके को सही नहीं मानते और समझते हैं कि इस प्रकार के राज्य-समाजवाद या शक्ति प्रयोग कर लागू किए जाने वाले समाजवादी तरीके का नाकाम होना निश्चित है।

व्यापक अर्थों में राज्य-समाजवाद, समाजवाद का ऐसा रूप है जो उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व की बात करता है। यह समाजवाद के क्लासिकल रूप, जिसमें उत्पादन के साधनों पर समाज का नियंत्रण होता है, से भिन्न है। वाम मार्गी कई युरोपियन राजनैतिक पार्टियों ने सामाजिक प्रजातंत्र के नाम से राज्य स्वामित्व के विभिन्न रूपों का समर्थन किया था पर उन्होंने समाजवाद की स्थापना के लिए समाजवादी क्रांति में पूंजीवाद को उखाड़ फेंकना जरूरी नहीं समझा और इस कारण पूंजीवादी राज्य तथा पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली के पहले से मौजूद अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। उनका उद्देश्य राज्य को सामाजिक उद्देश्यों की ओर झुकाना मात्र था। **राज्य समाजवादियों** ने पूंजीवाद से समाजवाद में **क्रमिक** तथा शांतिपूर्ण परिवर्तन का पक्ष लिया। वे चाहते थे कि पूंजीवाद हटे पर इसे क्रांति के माध्यम से नहीं बल्कि नई परिस्थितियों के विकास के माध्यम से करना चाहते थे। आधुनिक राजनैतिक शब्दावली में इन प्रक्रियाओं से गुजर कर ही **‘लोकतांत्रिक समाजवाद’** तथा **‘समाजवादी लोकतंत्र’** का प्रयोग उभर कर सामने आया है।

इसके विपरीत **मार्क्सवाद**, जिसका एक मजबूत दार्शनिक आधार है, का मानना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में **मौलिक परिवर्तन** के लिए **सामाजिक क्रांति** एकमात्र रास्ता है। इस सोच के अनुसार क्रांतिजन्य समाजवादी राज्य संक्रमण-काल में सर्वहारा की तानाशाही के रूप में समाजवाद को मजबूत बनाने के लिए ही काम करता है परन्तु इस संक्रमण-काल के बाद समाज को साम्यवादी रूप देते हुए राज्य धीरे-धीरे कमजोर पड़ जाता है। मार्क्सवाद के आलोचकों का आम मत है कि तथ्य इस बात की पुष्टि नहीं करते। पिछली शताब्दी में जिन देशों में मार्क्सवादी क्रांति हुई वहां राज्यों ने स्टालिनवादी राज्य का रूप धारण कर लिया यानी अधिक अधिनायकवादी तथा अफसरशाही वाले राज्य कमजोर पड़ने का कोई लक्षण दिखाने की बजाए और शक्तिशाली बनकर उभरे। मार्क्सवादियों का एक धड़ा जो बोलशेविकों के विरुद्ध था, जैसे कि ट्रौट्स्कीवादी धड़ा, यह सोचता था कि ये देश कभी भी समाजवादी नहीं थे और उन्हें **राज्य-समाजवादी** भर का नाम दिया जा सकता है। कुछ अन्य ट्रौट्स्की समर्थक धड़े उन राज्यों को **राज्य-पूंजीवादी** कहते हैं, जिसका उद्देश्य उन राज्यों में समाजवादी चरित्र के अभाव पर जोर देना है। अन्य जैसे कि इच्छास्वातंत्र्यवादी (**Libertarian Socialist**) और अराजकतावादी इससे भी आगे बात करते हैं और मार्क्सवाद को ही राज्य समाजवाद कहकर इसका उपहास उड़ाते

हैं। वे इस शब्द का प्रयोग समाजवाद के अपने रूप, जिसमें राज्य के हस्तक्षेप के बिना उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व की बात है तथा राज्य-समाजवाद का बुनियादी अंतर बताने के लिए करते हैं। अराजकतावादी मानते हैं कि सर्वहारा की तानाशाही के माध्यम से समाजवाद प्राप्त करने का विचार कोरी बकवास है। उनका तर्क है कि ऐसी कोई भी व्यवस्था प्रणाली 'राज्य पूंजीवाद' कहलाएगी। वे श्रमिक वर्ग की स्थिति में कोई भी मूलभूत परिवर्तन लाने में असमर्थ होंगे। श्रमिक वर्ग इस व्यवस्था में पूंजी सम्पन्न वर्ग की बजाए राज्य नौकरशाही के मजदूरी पाने वाले चाकर बन कर रह जाएंगे।

राज्य-पूंजीवाद तथा राज्य-समाजवाद में थोड़ा अंतर है। राज्य-पूंजीवाद का तात्पर्य बड़े व्यवसाय की ऐसी प्रचलित प्रणाली से लिया जाता है जो व्यापक राज्य-नियंत्रण के अध्यक्षीन होती है। लेनिन ने स्वयं इस नाम का प्रयोग अक्टूबर क्रांति के पश्चात अपने तात्कालिक लक्ष्यों को बताने के लिए किया था। लेनिन के अनुसार, यह ऐसा शासन होगा जिसमें पूंजीपति रहेंगे लेकिन वे पूंजीपतियों से नए 'सर्वहारा' राज्य को विरासत में प्राप्त राज्य नियंत्रण के अध्यक्षीन होंगे। (ओसिन्सकी, ब्रिन्टन द्वारा उद्धृत, द बोल्शेविक्स एंड वर्क्स कंट्रोल, पृ. 39)। इस शब्द का एक और प्रयोग ऐसे शासन के लिए होता है जिसमें उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण द्वारा पूंजीपति वर्ग की जगह राज्य ले लेता है। इस प्रकार की व्यवस्था में राज्य, पूंजीपति व्यक्तियों के स्थान पर पूंजी का मालिक हो जाता है और उसका प्रबंधन तथा संचयन या संग्रहण करता है। इस प्रकार राज्य पूंजीवाद ऐसा सांत्व्यतक है, जिसमें एक ओर पूंजीवाद राज्य के बड़े व्यवसायों पर नियंत्रण करता है तथा दूसरी ओर वह पूंजीवादी राज्य के उत्पादन के अधिकांश साधनों पर नियंत्रण तथा पूंजी संचय करने के लिए इसका प्रबंधन भी करता है। राज्य समाजवाद इसी सांत्व्यतक (Continuum) की सी चीज है। अराजकतावादी कहते हैं कि 'राज्य-समाजवाद' को हमेशा 'राज्य पूंजीवाद' कहा जा सकता है क्योंकि इसमें उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व पूंजीवाद के मर्म स्थल यानी श्रमिकों की मजदूरी को प्रभावित नहीं करता, बल्कि यह निजी अधिकारियों की जगह पर राज्य अधिकारियों को रखकर शोषण को छुपाने का काम करता है (और इस प्रकार यह कहीं अधिक क्रूर और दुःसाध्य होता है) और संपत्ति से मुक्ति की बजाए निजी-संपत्ति को राज्य-संपत्ति की शक्ति देकर संपत्ति का रूप-परिवर्तन करता है।

अंबेडकर का राज्य-समाजवाद : क्या यह दुविधा का समाधान है?

क्या अंबेडकर का राज्य-समाजवाद एक उधार लिया हुआ विचार है या इसे विकसित किया गया है? कोलंबिया विश्वविद्यालय तथा फेबियन समाजवादियों द्वारा स्थापित लंदन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स में अध्ययन करने के कारण अंबेडकर पर निस्संदेह

उदारवाद तथा फेबियनवाद का बड़ा प्रभाव था। इसके बावजूद अंबेडकर ने किसी भी विचार को उसके मूलरूप में कभी नहीं अपनाया, वे वास्तविक स्थिति के संदर्भ में अपना विचार बनाते थे। उनके अधिकांश विचार पश्चिम में प्रचलित विचारों से मिलते-जुलते मालूम होते थे किंतु वे सभी सूक्ष्म रूप से भिन्न तथा परिस्थितिजन्य थे। उनका राज्य-समाजवाद का विचार भी अपने देश की परिस्थितियों एवं विरोधाभासों को लेकर उनके चिंतन-मनन की प्रक्रिया से जन्मा था। यू.एस.ए. तथा इंग्लैंड में उस काल में फेबियन तथा उदारवादी सिद्धांतों, जिसका अंबेडकर ने वहां अध्ययन किया था, का प्रबल प्रभाव था और मार्क्सवाद ने एक देश में तब क्रांति लायी ही थी और पूरे विश्व के ढांचे को बदल दिया था। ऐसे समय में शोषण रहित एक नया संसार रचने की चुनौती से गंभीरतापूर्वक निबट रहा कोई व्यक्ति भी मार्क्सवाद की प्रभावपूर्ण विचारधारा की अनदेखी नहीं कर सकता था। ऐसे में सामने खड़ी चुनौतियों के लिए मार्क्सवादी प्रणाली पर अंबेडकर द्वारा विचार किया जाना स्वाभाविक था किंतु उन्हें यह व्यावहारिक नहीं मालूम हुआ। दरअसल अम्बेडकर, धर्म-संहिता की कोख से उपजे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जुल्म के समूल नाश की एक अनोखी समस्या, जिसने अपनी जड़ें आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों तक जमा ली थीं से जूझ रहे थे। इस कार्य में मार्क्सवाद की कुछ खास भूमिका नहीं थी। इसके अलावा उनके अधिकांश विचार जिस सामाजिक ढांचे में वे रह रहे थे, उसमें व्यावहारिक मार्क्सवाद के अपने अर्जित अनुभव की नींव पर खड़े थे।

समाजवाद के संदर्भ में इतिहास की आर्थिक व्याख्या को लेकर अव्यावहारिक होने के लिए भारत के समाजवादियों (अंबेडकर 'कम्युनिस्ट' की जगह 'सोशलिस्ट' शब्द का प्रयोग करते थे) को वे दोषी मानते थे। वे कहते हैं "किंतु मैं पाता हूँ कि इस समाजवादी तर्क कि संपत्ति का समान विभाजन ही एकमात्र वास्तविक सुधार है तथा अन्य किसी भी सुधार से पहले इसे लागू किया जाना चाहिए, को मान्य बनाने के लिए इतिहास की आर्थिक व्याख्या जरूरी है।" (ए और सी) उनके समकालीन कई मार्क्सवादी मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार से थे तथा इस कारण वे अपनी रूढ़िवादी अव्यावहारिक मनोवृत्ति को बदल नहीं पाए थे। इसके अतिरिक्त जातियों की श्रेणीबद्ध व्यवस्था के भीतर बहुजनों की पीड़ा से जुड़ पाने के लिए जरूरी अनुभव का भी उनके पास अभाव था। तोते की तरह समानता की रट तो वे लगाते थे पर अपने ही परिवेश में इसके घोर तिरस्कार को देखने को तैयार नहीं थे। समाजवाद की उनकी अव्यावहारिक समझ को लेकर प्रश्न करते हुए अंबेडकर अपनी चिंताओं को सामने रखते हैं "अब मैं जो प्रश्न करना चाहता हूँ वह है : क्या एक समाजवादी के लिए इतना कहना काफी है, 'विभिन्न वर्गों के प्रति अपने व्यवहार में मैं समानता में विश्वास करता हूँ?' "

यह कहना कि यह विश्वास व्यक्त करना काफी है समाजवाद की अन्तर्वस्तु

की समझ से बिल्कुल ही खाली होने का परिचय देना है। यदि समाजवाद एक व्यावहारिक कार्यक्रम नहीं है, यह केवल एक आदर्श है, वह भी अजाना और काल्पनिक आदर्श भर नहीं है, तो एक समाजवादी के समक्ष प्रश्न यह नहीं है कि वह समानता में विश्वास करता है या नहीं। उसके सामने प्रश्न यह है कि “व्यवस्था के रूप में तथा सिद्धांत के रूप में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के प्रति दुर्यवहार तथा दमन पर वह आपत्ति करता है या नहीं और क्या वह अत्याचार और उत्पीड़न द्वारा एक वर्ग से दूसरे वर्ग के अलगाव को जारी रहने देना चाहता है।” (ए ऑन सी)

समाजवाद की प्राप्ति से सम्बद्ध कारकों का विश्लेषण करते हुए अंबेडकर भारतीय सर्वहारा की क्रांतिकारी चेतना की इस मौलिक समस्या को जो क्रांति लाने के जरूरी है, सामने रखते हैं कि यह जाति की समस्या को हल किए बिना असंभव है। वे लिखते हैं

“अब यह स्पष्ट है कि समाजवादियों द्वारा विचारित आर्थिक सुधार नहीं लाए जा सकते यदि क्रांति के परिणामस्वरूप सत्ता पर अधिकार नहीं कर लिया जाता और सत्ता पर अधिकार सर्वहारा का ही होना चाहिए। मेरा प्रथम प्रश्न है कि क्या भारत के सर्वहारा इस क्रांति को लाने के लिए एकजुट होंगे? इस एकजुटता के लिए लोगों को कौन सी चीज प्रेरित कर सकती है? मुझे लगता है कि यदि अन्य बातें समान रहें तो जो एकमात्र चीज एक व्यक्ति को ऐसे कार्य की ओर प्रवृत्त कर सकती है वह यह भावना है कि अन्य लोग जिनके साथ वह कार्य कर रहा है, समता तथा भाईचारा और सबसे बढ़कर न्याय की भावना से अभिप्रेरित हैं। संपत्ति के समान वितरण वाली क्रांति में लोग भाग नहीं लेंगे यदि उन्हें यह नहीं मालूम हो पाता कि क्रांति प्राप्त कर लेने के पश्चात उनके साथ बराबरी का व्यवहार किया जाएगा और जाति और धर्म के आधार पर उनके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होगा। मुझे यकीन है कि क्रांति का नेतृत्व कर रहे एक समाजवादी के इस आश्वासन भर से कि वह जाति में विश्वास नहीं करता, काम नहीं चलेगा। ऐसा आश्वासन अपेक्षाकृत ज्यादा गहरे आधार से उपजा होना चाहिए। हमवतनों की वैयक्तिक समानता और भाईचारे की भावना को लेकर एक-दूसरे के प्रति उनकी मनोवृत्ति ही, इसका आधार होना चाहिए। क्या ऐसा कहा जा सकता है कि भारत का गरीब सर्वहारा वर्ग, धनी तथा निर्धन के बीच के भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं मानता? तथ्यतः यदि वे ऐसा मानते हैं तो ऐसे सर्वहारा वर्ग से समृद्ध लोगों के विरुद्ध कार्रवाई के लिए एकीकृत मोर्चे की क्या आशा की जा सकती है? और यदि सर्वहारा एक संगठित मोर्चा प्रस्तुत नहीं कर सकता तो क्रांति कैसे हो सकती है?” (ए ऑन सी)

संभवतः अंबेडकर समकालीन मार्क्सवादियों से जो आशा करते थे वह यह थी कि वे इस समस्या को मान्यता दें और जातिप्रथा के विरुद्ध अछूतों के आंदोलन को समर्थन दें। किंतु मार्क्सवादी जाति-विरोधी आंदोलन को श्रमिक वर्ग की एकता को

तोड़ने वाला मानते थे और व्यावहारिक स्तर पर वर्ग आधारित अपने आधारभूत उद्देश्य के प्रमुख मुद्दे से अपना ध्यान हटाना नहीं चाहते थे। जाति तथा वर्ग का विभाजन जो आज भी समाप्त होने का नाम नहीं लेते, यह आरंभिक मार्क्सवादियों की इस रुढ़िग्रस्त समझ का परिणाम था। दूसरी ओर अंबेडकर ने जाति के मुद्दे की उपेक्षा के परिणामों को सामने रखने के लिए ही जोरदार यत्न किए। एक तो जाति-चेतना से क्रांति को विफल बनाने के संदर्भ में, दूसरे यदि क्रांति किसी प्रकार परिघटित हो भी जाए तो क्रांति बाद के समाज में इससे भिड़ने की आवश्यकता के संदर्भ में। वे कहते हैं

“मुझे यह समझ में नहीं आता कि भारत में समाजवादी राज्य लोगों में एक दूसरे के प्रति द्वेष भावना, जो उनमें ऊंच-नीच, छूत-अछूत का अहसास भरती है, से उत्पन्न समस्याओं से जूझे बिना एक सेकंड के लिए भी कैसे चल सकता है। यदि समाजवादी सुन्दर मुहावरेदार भाषा में बातें कर ही संतुष्ट नहीं हो जाते, यदि वे समाजवाद को मूर्त सत्य बनाना चाहते हैं तो उन्हें स्वीकार करना होगा कि सामाजिक सुधार की समस्या मौलिक समस्या है और उनके लिए इस समस्या से नजरें चुरा कर निकल जाने का कोई रास्ता नहीं है। भारत में प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से समाजवादियों को निबटना ही होगा और जब तक वे ऐसा नहीं करते, वे क्रांति नहीं ला सकते तथा सौभाग्यवश यदि ऐसा किए बिना क्रांति आ भी गई तो उन्हें इस समस्या से टकराना ही पड़ेगा यदि वे अपना आदर्श पा लेने की कामना करते हैं यह ऐसी प्रस्थापना है, जिससे मेरे विचार से असहमत होने की गुंजाइश ही नहीं। जाति के प्रश्न पर उन्हें क्रांति के परिघटित होने के बाद ध्यान देना ही पड़ेगा यदि वे क्रांति से पहले ऐसा नहीं करते। दूसरी तरह से इसी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि चाहे आपका जिस दिशा में भी मुड़ें, जाति रूपी दैत्य आपका रास्ता रोके खड़ा मिलेगा। आप राजनैतिक सुधार नहीं कर सकते, आप आर्थिक सुधार नहीं ला सकते, यदि आप इस दैत्य को जान से मार नहीं डालते।” (एनिहिलेशन आफ कास्ट्स, III, 1944 में मुद्रित)

ज्यादा सही तौर पर कहें तो मार्क्सवाद या भारत में मार्क्सवादी प्रचलन के विरुद्ध इस क्लासिक तर्क के अतिरिक्त, समाजवादी राज्य के निर्माण के मार्क्सवादी तरीके को लेकर भी अंबेडकर को आपत्ति थी, जिसका अधिकांश, जैसा अब देखने पर पता चलता है, मार्क्सवाद पर इसके दर्शन यथा-भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद और वैज्ञानिक समाजवाद से रहित चर्चा से उत्सृत था तथा शेष आपत्तियां उनके अपने धार्मिक पालन-पोषण और उदारवादी एवं फेबियन परंपराओं की शिक्षा से निर्मित मनोवृत्ति से उपजी थीं। मार्क्सवादी क्रांति का संबंध हिंसक विद्रोह से है और इसकी प्राप्ति के लिए खूनी-संघर्ष से होकर गुजरना अनिवार्य है। अंबेडकर को हिंसा से कोई घृणा नहीं थी पर उनके उदारवादी मन को हिंसा की अपरिहार्यता

स्वीकार्य नहीं थी। क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए राजनैतिक सत्ता पर नियंत्रण प्राप्त करने में वे विश्वास करते थे पर उन्हें संदेह था कि क्रांति के बाद भी। इसे हिंसा के बिना हासिल किया जा सकता है मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार, सर्वहारा की तानाशाही के रूप में वर्ग-संघर्ष चलता रहता है। अंबेडकर कहते हैं “कम्युनिस्ट कहते हैं कि साम्यवाद की स्थापना के केवल दो साधन हैं। पहला है हिंसा, मौजूदा व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए इससे कम कुछ भी नहीं चलेगा। दूसरा साधन है सर्वहारा की तानाशाही। नई व्यवस्था को कायम रखने के लिए इससे कम कोई और चीज पर्याप्त नहीं होगी।” (बुद्ध एंड कार्ल मार्क्स) सर्वहारा की तानाशाही **सर्वहारा राज्य** का ही दूसरा नाम है, जिसे क्रांति द्वारा अंबेडकर जहां प्रतिक्रान्तियों की संभावना से अवगत हैं और उसे मान्यता भी देते हैं, उनके अंदर के लोकतंत्रवादी को किसी भी प्रकार की तानाशाही स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव होता है। उनके समय में क्रांतिकारी समाजों में जो कुछ हुआ उसके आलोक में इस संदेह को पूरी तरह से रद्द नहीं किया जा सकता। हालांकि यह सर्वथा भिन्न परिदृश्य से उत्पन्न संदेह है, इससे क्रांति के बाद स्थापित समाजों में क्रांतिकारी लोकतंत्र की स्थापना की आवश्यकता तो इंगित होती ही है।

अंबेडकर का **राज्य-समाजवाद** मार्क्सवादी तरीकों में मौजूद इन त्रुटियों के निवारण के लिए उपायों की उनकी तलाश का परिणाम है और इसके माध्यम से वे मार्क्सवादी क्रांति द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को ही प्राप्त करना चाहते हैं। बौद्ध धर्म भी जो प्रथमदृष्टया सामाजिक-राजनैतिक विमर्श से असंबद्ध प्रतीत होता है, को इस आधारभूत दुविधा के वास्तविक समाधान के रूप में देखा जा सकता है। वे राज्य को सांविधानिक अध्यादेश द्वारा समाजवाद स्थापित करने का साधन मानते हैं। यदि समाज के लिए समाजवादी ढांचे की व्यवस्था करने वाला संविधान बना लिया जाए तो समाजवाद की स्थापना के उद्देश्य से राजनैतिक सत्ता हथियाने हेतु रक्तरंजित वर्ग संघर्ष की आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार क्रांति के लाभों को हिंसा के बिना ही प्राप्त किया जा सकेगा पर इन लाभों को संरक्षित कैसे रखा जा सकेगा? प्रति-क्रांतिवादी शक्तियों से क्रांति समर्थक शक्तियां इस क्रांति को किस प्रकार बचाएंगी? अंबेडकर का उत्तर है कि इस उद्देश्य के लिए सर्वहारा की तानाशाही के रूप में शारीरिक शक्ति के प्रयोग की जगह नैतिक शक्ति का इस्तेमाल हो। अंबेडकर के अनुसार इस नैतिक बल का स्रोत केवल धर्म ही हो सकता है। इसी कारण से वे बौद्ध धर्म को अपनाते हैं और अपने एजेंडे में इतना ऊंचा स्थान इसे देते हैं कि वे पूरे देश में इसके प्रसार के लिए अपना जीवन लगा देने का संकल्प लेते हैं। संकल्पना के रूप में वे दो सूत्री नियंत्रक उपाय का प्रस्ताव करते प्रतीत होते हैं : पहला, *समाजवाद की स्थापना हेतु तथा प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों के खतरों से उसे बचाने के लिए राज्य का एक साधन के रूप में इस्तेमाल।*

दूसरा, नैतिक शक्ति, जो मूलतः व्यक्ति के स्तर पर सक्रिय होती है, के लिए धर्म का प्रयोग ताकि अभीष्ट नए सामाजिक ढांचे को किसी प्रकार के खतरे की संभावना को क्षीण बनाया जा सके और इससे निबटने के लिए राज्य की ओर से कार्रवाई की आवश्यकता को समाप्त किया जा सके। इस तरह राज्य और धर्म अंबेडकर की क्रांतिकारी परिवर्तन की योजना में अनिवार्य उपकरण हो जाते हैं।

राज्य तथा समाजवाद

राज्य सार्वभौमिकता संपन्न एक राजनैतिक शक्ति है यानी यह किसी उच्चतर राजनैतिक शक्ति के आधीन नहीं है। देश की घरेलू स्थितियों, विशेषतः देश के भीतर की शक्ति के एकाधिकृत करने की भूमिका के रूप में भी इसे परिभाषित किया जा सकता है। विभिन्न राजनैतिक दर्शनों में, राज्य के एकमात्र शक्ति-नियंत्रक घरेलू संगठन होने के संबंध में अलग-अलग राय हैं। ये दर्शन पूंजीवाद के उभार के साथ सामने आए और ऐसा समाज के एक पृथक तथा केंद्रीकृत खंड के रूप में राज्य के (पुनः) मुखर होने की परिघटना के साथ-साथ हुआ। राज्य के दर्शन की चार प्रमुख धाराएं हैं उदारवाद, यथा-स्थितिवाद, मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद। इनमें से अधिकांश दर्शन 'सामाजिक संविदा' के सिद्धांत के किसी न किसी रूप का उपयोग करते हैं, जिसके अनुसार राज्य का कार्य जन-इच्छा का अनुपालन तथा उनके हितों को, जिन्हें जनता ही परिभाषित करेगी, को पूरा करना है। उदारवादी दर्शन के अनुसार राज्य को जनता के हितों यानी संपूर्ण समाज के हितों को सामने लाना तथा उनका व्यक्तियों के हितों के साथ समायोजन करना चाहिए, अतः इसके अनुसार राज्य को लोकतांत्रिक रूप से नियंत्रित किया जाना चाहिए। यह राज्य को व्यापक जनहित में जैसे कि जनकल्याण का प्रबंध करने वाले तथा ऐसे कुछ व्यक्तियों, जो पूरे समाज की संपत्ति का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति रखते हैं, को पकड़ने की भूमिका प्रदान करता है। उदारवादी दर्शन के भीतर कई धाराएं हैं जो मूलतः राज्य के आदर्श आकार तथा भूमिका को लेकर हैं। स्वच्छंदतावादी जहां एक, छोटे या न्यूनतम आकार के राज्य, जो संपत्ति अधिकारों की रक्षा करता है तथा प्रत्येक व्यक्ति के संविदाओं को लागू करता है, के पक्षधर हैं, वहीं समाजवादी उदारवादियों का तर्क है कि पूंजीवादी व्यवस्था में बाजार के ध्वस्त होने और आय तथा संपत्ति के वितरण में घोर विषमता की स्थिति में राज्य को ज्यादा बड़ी और सकारात्मक भूमिका निभानी पड़ती है। समाजवादी उदारवादियों के राज्य के संबंध में विचार समाजवादी लोकतंत्रवादियों (Social Democrats) तथा लोकतंत्रवादी समाजवादियों (Democratic socialists) से मिलते हैं। एक समाजवादी राज्य की स्थापना कर वर्ग के अस्तित्व तथा सभी प्रकार के शोषण को समाप्त किया जा सकता है। यह समाजवादी राज्य उसके बाद धीरे-धीरे लोगों द्वारा अधिकाधिक शक्ति अपने हाथ में लेने के साथ

कमजोर पड़ता जाता है और इस प्रकार प्रतिनिधित्व आधारित लोकतंत्र शनैः शनैः प्रत्यक्ष लोकतंत्र में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रक्रिया के पूर्ण होते और साम्यवादी समाज व्यवस्था के स्थापित होते ही राज्य का अस्तित्व लोगों से अलग नहीं रह जाता। इस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांत में राज्य की आदर्श स्थिति वैसी ही है जैसी कि अराजकतावादी सिद्धांत में है : यानी **राज्य के अस्तित्व का लोप** किन्तु मार्क्सवादी परिदृश्य, अराजकतावादी परिदृश्य जो राज्य को समाज का केवल एक गैर जरूरी और शोषणकारी क्षेत्र मानकर खारिज करता है, से अलग है। अराजकतावादी कहते हैं कि यदि राज्य तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता पर उस के नियंत्रण को समाप्त कर दिया जाए तो लोग एकजुट होकर शांतिपूर्वक काम करने की सोच सकते हैं। मार्क्सवादी परिदृश्य (**Perspective**) को रद्द करते हुए वे इस बात पर जोर देते हैं कि राज्य के नष्ट होने की परिघटना, सत्ता के गैर राजकीय रूपों के उन्मूलन के पहले या साथ-साथ घटनी चाहिए।

चाहे समाजवाद का कोई भी रूप हो या राज्य का कोई भी दर्शन समाजवाद और राज्य परस्पर गहरे रूप से जुड़ी अवधारणाएं हैं चूंकि समाजवाद का अर्थ है आधारभूत तथा सुव्यवस्थित परिवर्तन और राज्य वह केंद्रीकृत शक्ति है, जो समाजवाद की स्थापना में आड़े आती है। सरल ढंग से कहें तो समाजवाद वह विश्वास है जिसके अनुसार सामाजिक तौर पर जो कुछ भी उत्पादित हो उसे समाज के स्वामित्व में रखा जाए। इसके अनुसार उत्पादन मानव आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिए, न कि लाभ के आधार पर। उत्पादन के सभी साधनों का नियंत्रण लोकतांत्रिक रूप से जनता द्वारा होना चाहिए, न कि कुछ व्यक्तियों द्वारा। समाजवाद का अर्थ है उद्योगों तथा सामाजिक सेवाओं का श्रमिकों के हाथों उनके राष्ट्रव्यापी आर्थिक संगठन पर आधारित एक लोकतांत्रिक सरकार के माध्यम से प्रत्यक्ष नियंत्रण। प्रत्येक कार्यस्थलों में उत्पादन को आसान बनाने के लिए जिस-किसी भी समिति अथवा प्रतिनिधियों की आवश्यकता हो, उनका चुनाव वहां के सामान्य कामगारों या कर्मचारियों द्वारा हो। एक प्लांट के प्रत्येक वर्कशाप या कार्यालय प्रभाग के भीतर कुशल संचालन के लिए जरूरी सभी योजनाओं के निर्माण तथा कार्यान्वयन में वहां के आम कामगार प्रत्यक्ष रूप से भाग लें। समाजवाद सच्चे लोकतंत्र से संबद्ध है। समाजवाद का संबंध स्वतंत्रता से है। एक ऐसा समाज जो हर स्तर के लोगों की भागीदारी के साथ कई लोगों की आवश्यकताओं और जरूरतों को संतुष्ट करने पर आधारित हो, न कि कुछ लोगों के लाभ पर। यदि समाजवाद का अर्थ यह है तो राज्य जो शासक वर्गों की एकाधिपत्यपूर्ण शक्ति है, किस प्रकार समाजवाद के हस्तक्षेप को सहन करेगा?

समाजवाद की स्थापना के लिए अपनाई गई पद्धति के अनुसार इसके कई रूप हैं। प्रचलित रीति के अनुसार ये रूप सुधारवादी या क्रांतिकारी, शांतिपूर्ण या उग्र, लोकतांत्रिक या सत्तावादी आदि वर्गों में बांटे जा सकते हैं। जैसा कि हाल ड्रेपर

लिखते हैं, इन सभी रूपों में अंतर बहुत बुनियादी है। समाजवादी आंदोलनों तथा विचारों के पूरे इतिहास में आधारभूत अंतर ऊपर से स्थापित समाजवाद तथा नीचे से स्थापित समाजवाद के मध्य है। ऊपर से स्थापित समाजवाद के विभिन्न रूपों को जोड़ने वाला विचार यह है कि किसी न किसी रूप में समाजवाद, अनुगृहीत सामान्यजन को अभिजात शासक वर्ग वस्तुतः जनसामान्य के नियंत्रण से मुक्त हो, द्वारा ही प्रदत्त होना चाहिए। नीचे से स्थापित समाजवाद के मर्म का यह दृष्टिकोण है कि समाजवाद सक्रिय जनसामान्य जो अपने हाथों से स्वतंत्रता को प्रयासरत हो, “निचले स्तर से” अपने भाग्य का नियंत्रण अपने हाथ में लेने के संघर्ष में संगठित हो, इतिहास के मंच पर नायक हो (मात्र दर्शक नहीं) की आत्ममुक्ति से ही लाया जा सकता है।” श्रमिक वर्गों की मुक्ति इन्हीं वर्गों द्वारा अर्जित होनी चाहिए।” यह मार्क्स द्वारा प्रथम इन्टरनेशनल के लिए लिखी गई नियमावली का प्रथम वाक्य है और उनके जीवन का प्रथम सिद्धांत। (हाल ड्रेपर, द टू सोल्ज आफ सोशलिज्म जो <http://www.sd-il.com/tss/tss.htm> पर उपलब्ध है)

यहां प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार का रैडिकल परिवर्तन शांतिपूर्वक लाया जा सकता है? क्या शासक वर्ग स्वेच्छा से अपने अधिकार की सभी चीजों पर अपने नियंत्रण को त्यागने को राजी हो जाएगा? निश्चित रूप से शासक वर्ग ने सैकड़ों साल के वर्ग-समाज द्वारा बहुत सारे परिवर्तन लाए हैं और शासित-वर्ग ऊपर से मिलने वाली मुक्ति की इच्छा करने का आदी हो गया है। प्रश्न है कि शासक-वर्ग किस प्रकार का परिवर्तन लाता है और ऐसा करने के पीछे उनका प्रयोजन क्या होता है? देखने पर पता चलेगा कि उनके द्वारा लाया गया परिवर्तन ऊपरी परिवर्तन होता है और यह भी कि उनके करने के पीछे कोई चालाक योजना होती है। चूंकि शासक वर्ग ने बोल्शेविक क्रांति के बाद श्रमिक वर्ग के मुखर होने के कारण कल्याणकारी राज्य का मॉडल अपना लिया है (पूंजीवाद को बनाए रखने की रणनीति के तहत भी), इसलिए ऊपर से लाए जाने वाले परिवर्तनों का शासक वर्गों के हितों से प्रेरित होना निश्चित है और इस प्रकार से ये परिवर्तन उनके लिए कुल मिलाकर लाभदायक हैं। यह भ्रान्ति कि उन्होंने लोगों के मन में उनकी मुक्ति के लिए शासक वर्ग का मुंह ताकने का विचार भरा, इस भ्रान्ति का आम लोगों के राजनैतिक दमन के लिए प्रभावकारी रूप से इस्तेमाल किया गया है। प्रत्येक शासक वर्ग स्थायी आशा जगाता है ताकि लोग अपनी रक्षा के लिए शासक वर्ग का मुंह देखें बजाए इसके कि रक्षा की आवश्यकता से मुक्त होने के लिए अपने आप पर भरोसा करें।

सामान्यजन वजीरों-सामंतों द्वारा किए अन्याय के निवारण के लिए राजाओं का मुंह देखते थे, राजाओं के अत्याचारों का अंत करने के लिए मसीहाओं से आशा लगाते थे। सामान्यजन द्वारा नीचे की ओर से साहसिक कार्रवाई करने की जगह एक

भले शासक को, जो लोकहित का कार्य करे, ढूँढ निकालना सदा अधिक सुरक्षित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण है। यह स्वाभाविक ही है कि ऊपर से नीचे की ओर की मुक्ति की अवधारणा का प्रभाव समाजवाद पर पड़ा पर यह इच्छित परिवर्तन इतना मौलिक तथा रैडिकल है कि ऊपर के लोग इसे स्थापित करने की कोशिश नहीं कर सकते।

राज्य समाजवाद या समाजवादी राज्य

राज्य को लेकर भ्रान्ति हो सकती है; क्या इसे तटस्थ वर्ग मानें या पक्षपातपूर्ण? इस भ्रान्ति का स्रोत शायद राज्य की कई प्रकार की भूमिकाओं में है। अंतिम विश्लेषण और निष्कर्ष में यह शासक-वर्ग के हाथ में दूसरों पर अनुचित दबाव डालने का हथियार है लेकिन कल्याणकारिता की कलई चढ़ाकर यह जनता के लिए अपनी घोर चिन्ता दिखाने का ढोंग भी कर लेता है। इस प्रकार यह लोगों में अपनी मुक्ति के लिए शीर्षस्थ लोगों का मुँह ताकने की युगों पुरानी आदत को पक्का करता है। जैसे ही इन लोगों को सत्य का पता चल जाएगा और वे अपनी मुक्ति के लिए स्वयं अपने स्तर पर योजना बनाने लगेंगे, अनुभव कहता है कि राज्य इसे कभी सहन नहीं करेगा। सामान्य जन की राजनीति को राज्य उसके जन्मते ही गर्दन मरोड़ कर समाप्त कर देने की जोरदार कोशिश करता है। यह आतंक पुनः सामान्यजन को अभिजात्य शासकों तथा उनके राज्य पर निर्भर बना देता है। राज्य के इस चरित्र को भारतीय राज्य सबसे बेहतर तरीके से उद्घाटित करता है। यह ऐसे संविधान द्वारा निर्मित है जो अपने स्तर की दृष्टि से सर्वोत्तम संविधानों में गिना जाता है। यह शब्दों का आडंबर ओढ़ राज्य को धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक तथा एक गणतंत्र घोषित करता है। यह समाज के कमजोर तबकों को लेकर इतना चिंतित प्रतीत होता है कि इसके प्रत्येक पृष्ठ में सामाजिक-न्याय उफन कर बाहर गिरता दीखता है लेकिन व्यवहार में इसकी विशिष्टता शासक वर्गों के हाथों में सर्वाधिक दमनकारी ताकत के रूप में सामने आती है। इसकी केवल एक संदिग्ध विशिष्टता से ही कि इसकी छत्रछाया में देश ने हिरासत में होने वाली मौतों का विश्व कीर्तिमान स्थापित किया, इसकी भव्यता धूल धूसरित हो जाती है। सिर्फ गुजरात में जातिसंहार की एक घटना से इसके धर्मनिरपेक्षता के दावे की धज्जियां उड़ जाती हैं! धनी तथा निर्धनों के बीच बढ़ती खाई पर एक वस्तुगत दृष्टि से ही इसके समाजवादी विमर्श के पाखंड का भंडाफोड़ हो जाता है!

यह भारत राज्य का ही प्रश्न नहीं है। विश्व का कोई भी राज्य, समाजवाद के सिद्धांत को व्यावहारिक सच नहीं बना सकता। आज, भारत की तरह ही हर दूसरा देश समाजवादी होने का दम भरता है, इतना अधिक कि इस शब्द ने अपनी अर्थवत्ता खो दी है। जो देश समाजवाद का दावा जितना अधिक शोर मचाकर करता है, वह उतना ही अधिक अन्यायपूर्ण नीतियां चलाता है। समाजवाद शासक वर्गों के लिए,

शासित वर्गों की कुटाई-पिटाई के कृत्यों को छुपाने का साधन बन गया है। जैसा कि मार्क्स की बातों से स्पष्ट है, समाजवाद के सर्वाधिक परोपकारी रूप में भी, राज्य को शासक वर्ग की कार्यपालक समिति के रूप में देखा जा सकता है। अपने कई भिन्न रूपों के बावजूद समाजवाद वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था की चारित्रिक खराबी की ओर संकेत करता है और इस दोष का अंत करने की जरूरत बताता है। इसके प्रति दृष्टिकोण को लेकर मतभेद उभरते हैं। कुछ लोग जहां सोचते हैं कि इस प्रणाली का परित्याग करने की जरूरत नहीं है और इसकी दिशा सामाजिक उद्देश्यों की ओर मोड़ने के लिए इसके अंतर्गत काम किया जा सकता है, वहीं कुछ लोग इसे उखाड़ फेंकने की आवश्यकता समझते हैं क्योंकि इससे अमित रूप से बुराईया जुड़ गई हैं। पहली स्थिति में राज्य, शासक वर्ग के दीर्घकालिक हित में कल्याणकारी होने का स्वांग भरता है और दूसरी स्थिति में यह पूंजीवादी व्यवस्था के संरक्षक के तौर पर अपना वास्तविक रूप दिखा देता है। यह स्पष्ट है कि पूंजीवादी व्यवस्था की कुछ अपरूपता को यह कम कर सकता है पर राज्य को पूंजीवाद का नाश कभी सहन नहीं हो सकता। सारांशतः जनता के कष्टों को समाजवादी राज्य द्वारा कम तो किया जा सकता है पर उन्हें पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार पूंजीवाद से समाजवाद में क्रमिक परिवर्तन की कल्पना जो बड़ी संख्या में मौजूद विभिन्न उदारवादी धाराओं में मिलती है एक असंभव बात है। राज्य का प्रयोजन ही समाजवादी परिवर्तन को रोकने का है, न कि उसे प्रोत्साहित करने का। इस प्रकार **राज्य-समाजवाद** नामकरण में प्रयुक्त शब्दों में परस्पर असंगति है।

पूंजीवादी प्रणाली में समाजवाद को जन्म देने का कोई आंतरिक तार्किक आधार या अभिप्रेरणा उपलब्ध नहीं है और न यह परिवर्तन स्वाभाविक तरीके से संभव है। शासक-वर्ग जिनके हित इस व्यवस्था से जुड़े हैं, इसे जाने नहीं देंगे। स्पष्ट है कि विरोधी-वर्ग को इसे ध्वस्त करने हेतु एक सचेत लड़ाई लड़नी होगी। राज्य, जिसमें शासक वर्गों की शक्ति केंद्रित है ऐसे किसी भी प्रयत्न के विरुद्ध निश्चित रूप से आ खड़ा होता है अतः यह बहुत जरूरी है कि राज्य को अधिकार में लेकर इसे परिवर्तनकामी वर्गों की शक्ति वाले समाजवादी राज्य में बदला जाए। ऐसे समाजवादी राज्य से ही समाज को समाजवादी रूप दिया जा सकता है। जैसा कि ऊपर के विश्लेषणों से स्पष्ट है कि वर्तमान राज्य समाजवाद प्राप्त करने में अक्षम है। **राज्य-समाजवाद** अपने अयथार्थ नाम के बावजूद, पूंजीवादी शोषण को टंक सकता है पर उसे समाप्त नहीं कर सकता। एक समाजवादी राज्य ही यह करिश्मा करने में सक्षम है।

पर समाजवादी राज्य की स्थापना आसान नहीं है। क्रान्ति से ही इसकी स्थापना संभव है। क्रान्ति के लिए क्रान्तिकारी चेतना तथा रणनीति और योजना के संबल की आवश्यकता होती है। यदि क्रान्ति निकट नहीं दीखती हो तो प्रश्न उठता

है कि क्या निर्धन सुनियोजित अत्याचार को धैर्यपूर्वक सहते रहें? इस अत्याचार की तीव्रता को कम करने के लिए यदि कुछ अंतरिम शमनकारी उपाय अपनाए जाएं तो क्या नुकसान है? ये उपाय जनता को क्रांति के लिए तैयार करने में सहायक ही बनेंगे। इस तर्क में कुछ गलत नहीं है, सिवाय इसके कि **ऐसे उपाय ऊपर से नीचे की ओर वाले दृष्टिकोण से लागू न किए जाएं**। यदि सामान्य-जन अपने शोषण के विरुद्ध सचेत संघर्ष करें और शासक वर्गों से ऐसी रियायत हासिल कर लें तो उस क्रांतिकारी लड़ाई की यह गौरवपूर्ण उपलब्धि होगी। ये क्रांतिकारी चेतना को सशक्त बनाती है। **जनता को अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध लगातार संघर्ष कर छोटे-छोटे लाभ हासिल करने होते हैं**। यह क्रांति के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई की तैयारी का एक हिस्सा है, वास्तव में यह क्रांति ही है किंतु यदि यह उन्हें यथास्थिति बनाए रखने को प्रेरित करने के लिए मिलती है, तो यह गलत है क्योंकि इससे दासता को स्थायित्व मिलता है। **राज्य-समाजवाद गलत इसलिए है कि यह ऊपर से समाजवाद लाने की अवधारणा है। राज्य-समाजवाद प्रतिकूल चेतना को जन्म देती है जो क्रांति की संभावनाओं को नुकसान पहुंचाता है।**

अंबेडकर का राज्य-समाजवाद

राज्य-समाजवाद का उपरोक्त विश्लेषण बड़ी हद तक सैद्धांतिक ढांचे के अंदर किया गया है। व्यावहारिक परिदृश्य के लिए अलग से विचार करने की आवश्यकता है। अंबेडकर के राज्य-समाजवाद के संदर्भ में, व्यावहारिक पक्ष पर दृष्टिपात करना अपरिहार्य है क्योंकि वे राज्य समाज की व्यावहारिकता से अत्यधिक जुड़े हुए थे। ऐसे मामलों में सैद्धांतिक पक्ष की विवेचना मार्क्सवादी सिद्धांत द्वारा स्वतः ही प्रस्तुत कर दी जाती है। व्यावहारिक पक्ष तो पिछली शताब्दी में उत्तर क्रांति काल की परिघटनाओं से अर्जित अनुभवों पर आधारित है। जहां मार्क्सवादी सिद्धांत समाजवाद का त्रुटिमुक्त चित्र सामने लाता है, इसे लागू करने के प्रयास इसकी उतनी खुशनुमा तस्वीर प्रस्तुत नहीं करते। सोवियत संघ में क्रांति के बाद जो हुआ वह निश्चित रूप से समाजवाद नहीं था। यह बात कि उत्पादन के साधनों पर कामगारों का स्वामित्व नहीं था बल्कि राज्य का था और राज्य सोवियतों या कामगारों की समिति का संघ नहीं था, जिसमें 1917 में क्रांति करने वाले मार्क्सवादियों की इच्छानुसार प्रतिनिधियों का चुनाव कार्यस्थल से किया गया हो, सब को मालूम है। लेनिन ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की चौथी सभा की अपनी रिपोर्ट में अपनी नयी आर्थिक नीति की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा था कि रूस में समाजवाद लाने से पूर्व पूंजीवाद की जरूरत है और उन्होंने 'राज्य-पूंजीवाद' का समर्थन किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि रूस की पूरी भूमि राज्य की है। वस्तुतः रूस में जो कुछ हुआ वह भूमि

समेत उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा राज्य द्वारा पूंजीवादी सिद्धांतों के आधार पर उद्योग का संचालन था। कामगारों का नियंत्रण न तो उद्योग पर था और न राज्य पर “त्रोइका के रूप में उत्पादन पर उन्होंने जो अपना आरंभिक नियंत्रण स्थापित किया था, वह 1929 ई. में ही समाप्त हो चुका था और प्रबंधकों ने कारखानों पर अधिकार जमा लिया था।” (सीपीएसयू केंद्रीय समिति का प्रस्ताव, सितंबर 1929, टोनी क्लिफ Tony Cliff के स्टेट कैपिटलिज्म इन रशिया में उद्धृत, लंदन 1974 पृ.13)।

अंबेडकर के ‘स्टेट्स एंड माइनोंरिटीज’ में प्रस्तुत प्रस्ताव सोवियत संघ में व्यवहृत सिद्धांतों से आश्चर्यजनक रूप से मिलते हैं। हालांकि केवल इसी बात से वे समान नहीं हो जाते क्योंकि जिन परिस्थितियों में वे लागू किए गए वे भिन्न थीं, विशेष रूप से वे राज्य जहां वे लागू होने थे बिल्कुल ही अलग थे। एक अर्द्ध सामन्ती, अर्द्धउपनिवेशवादी राज्य और दूसरा क्रांति के बाद बना राज्य पर दोनों अन्तर्वस्तु तथा उद्देश्य की दृष्टि से एक थे। जिस प्रकार लेनिन ने औद्योगिक विकास की गति को अनिवार्यतः पूंजीवादी ढर्रे पर न रखकर तीव्र करने की आवश्यकता का समाजवादी व्यवस्था में परिवर्तन के लिए पूर्वानुमान कर लिया था, उसी तरह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के नए भारत का भी समान प्रकार की समस्याओं से सामना था तथा लोकतांत्रिक गणतंत्र बनने के लिए अंबेडकर द्वारा सुझाए गए कार्यक्रम को अपनाया बेहतर होता। उन उपायों की उस समय तथा आज के संदर्भ में प्रासंगिकता को लेकर किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता। अंबेडकर उन गिने चुने अर्थशास्त्रियों में से थे, जिन्होंने भारतीय कृषि की समस्या को ठीक से समझा था और उसमें निवेश को आदर्श स्थिति में लाने के लिए खेतों के सामूहिकीकरण का सुझाव दिया था। भूमि-सुधार के तौर पर भूमिहीनों के मध्य भूमि वितरण, जैसा कि अधिकांश लोग भूमि-सुधार का तात्पर्य लेते हैं, से भूमिहीनों की भूख एक हद तक तो शांत होगी परन्तु इससे खराब उत्पादकता की समस्या का निराकरण नहीं हो पाएगा। अंबेडकर के सुझावों के अनुसार जमीन के राष्ट्रीयकरण तथा खेतों के सामूहिकीकरण से ही उत्पादकता की समस्या सहित अन्य समस्याओं का समाधान हो सकता था। अंबेडकर अकेले ऐसे अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने खेती की समस्या को भारत में औद्योगिकीकरण से सीधे मौलिक रूप से जोड़ा। यदि उद्योग खेती की जनशक्ति के आधिक्य को नहीं अपनाता तो खेती में निवेश (Inputs) कभी आदर्श स्थिति में नहीं आ सकता तथा उत्पादकता की समस्या कभी हल नहीं हो सकती, अतः उन्होंने तीव्र औद्योगिकीकरण का पक्ष लिया। उनकी योजना में बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण ही समस्या का समाधान था। यह योजना वैसी नहीं थी जिसे सरकार ने बड़े पूंजीपतियों के कहने पर अपनाया। उत्पादकता की समस्या के अतिरिक्त, अंबेडकर का कार्यक्रम बेलगाम पूंजीवादी

विकास से उत्पन्न विषमता से भी जुड़ा था। यही स्थिति बीमा क्षेत्र के राष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव की भी थी, जो राज्य के लिए संसाधन जुटाने का एक औजार होने के अतिरिक्त लोगों को अपनी सुरक्षा की आधारभूत चिन्ता से छुटकारा भी दिलाने का उपाय था और जो उनकी रचनात्मक ऊर्जा को उत्पादन की प्रक्रिया में लगाने की पूर्वशर्त था। इस प्रस्ताव की यह आधार-शर्त कि इसे सांविधानिक अधिदेश प्राप्त होना चाहिए ही, इसकी एक मात्र समस्या थी।

जैसा कि ऊपर से स्पष्ट है ऐसी परिस्थितियों में जहां क्रांति, समाज के जातियों में बंटे होने के कारण दूर का सपना थी, अंबेडकर का **राज्य-समाजवाद** भारत के लिए एक उपयुक्त मॉडल की खोज का परिणाम था। स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे के सिद्धांत पर आधारित अंबेडकर के दर्शन की तुलना साम्यवाद से ही हो सकती थी पर इस आदर्श तक पहुंचने के लिए प्रस्तावित तरीकों को स्वीकार करने को लेकर उन्हें गंभीर आपत्तियां थीं। उनके **मिशन के प्रति स्थानीय कम्युनिस्टों के उदासीन तथा कभी-कभी शत्रुतापूर्ण रुख के कारण उनकी ये आपत्तियां और भी अधिक कठोर हो जाती थीं**। इन कारणों ने ही एक वैकल्पिक मार्ग की खोज के लिए उन्हें प्रेरित किया। उन्हें यह रास्ता **राज्य-समाजवाद** के समर्थन में सांविधानिक आदेश प्राप्त करने तथा उस आदेश को शक्ति देने के लिए समाज की नैतिक संरचना के पुनर्निर्माण हेतु बुद्ध के धम्म में नजर आया। बुद्ध के धम्म में वह सब कुछ था जो मार्क्सवाद में था, सिवाए उसकी हिंसा तथा तानाशाही को छोड़कर। अंबेडकर के अंदर मौजूद डेमोक्रेट, समानता एवं स्वतंत्रता की समस्या से निबटने वाली क्रांतियों को उनके अंदर लोकतंत्र की भावना की कमी के कारण अपर्याप्त पाता था। उनके अनुसार बौद्ध धर्म ही इसका जवाब था। वे कहते हैं

*“कुछ लोग लोकतंत्र को समानता एवं स्वतंत्रता के समतुल्य बताते हैं। निस्संदेह समानता एवं स्वतंत्रता लोकतंत्र का मर्म हैं किंतु अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समानता एवं स्वतंत्रता को संबल कहां से मिलता है? कुछ लोग कहेंगे कि राज्य का कानून ही समानता एवं स्वतंत्रता का टेक है, यह उत्तर सही नहीं है। समानता एवं स्वतंत्रता को आधार-बल मिलता है सह-अनुभूति से। जिसे फ्रांसीसी क्रांति ने भाईचारे (**Fraternity**) का नाम दिया था। यह शब्द भी इस भावना को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है, इसके लिए सटीक शब्द वह है जिसे बुद्ध ने ‘**मैत्री**’ कहा। भाईचारे के बिना, स्वतंत्रता ही समानता का अंत कर देगी और समानता, स्वतंत्रता का। यदि लोकतंत्र में स्वतंत्रता, समानता का नाश नहीं करती और समानता, स्वतंत्रता का गला नहीं घोंटती तो इसका कारण है कि दोनों के आधार में भाईचारा होता है। भाईचारा ही लोकतंत्र का मूल है।” (रिड्ल्स ऑफ हिन्दुइज्म पार्ट-III)*

अंबेडकर का मानना था कि “बुद्ध का तरीका भिन्न था। उनका कायदा था

आदमी का मन बदलने का, उसका स्वभाव बदलने का, ताकि वह जो भी करें स्वेच्छा से, बिना किसी दबाव या मजबूरी के करे।” रूस की उपलब्धियों से अंबेडकर पूर्णतया परिचित तथा प्रभावित थे पर वहां की साम्यवादी व्यवस्था के भीतर मौजूद अति भौतिकवाद से उनको ऐतराज था

“रूस की साम्यवादी तानाशाही को लेकर दावा किया जाता है कि इसकी उपलब्धियां अद्भुत हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यही वजह है कि रूस की सी तानाशाही को मैं सभी पिछड़े देशों के लिए अच्छा समझता हूं परन्तु तानाशाही को स्थायी रूप से बनाए रखने का यह तर्क नहीं बन सकता। मनुष्य को केवल आर्थिक मूल्यों की जरूरत नहीं है, वह आध्यात्मिक मूल्यों को भी बनाए रखना चाहता है। स्थायी तानाशाही ने आध्यात्मिक मूल्यों की कभी परवाह नहीं की है और इसका इरादा भी इस प्रकार का ही दीखता है। कार्लाइल ने राजनैतिक अर्थव्यवस्था को ‘पिग फिलॉसफी’ (Pig Philosophy) कहा था। कार्लाइल निश्चित ही गलत था क्योंकि मनुष्य को भौतिक सुविधा की जरूरत तो है ही।” लेकिन साम्यवादी दर्शन भी उतना ही गलत मालूम होता है क्योंकि इस दर्शन का उद्देश्य सूअरों को मोटा-ताजा बनाना लगता है, मानों मनुष्य सूअरों से भी गिरा-पड़ा है। मनुष्य का भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों विकास जरूरी है, इसके लिए समाज एक नई इमारत की बुनियाद डालना चाहता रहा है, जिसे संक्षिप्ततः फ्रांसीसी क्रांति के नारे के तीन शब्द भाईचारा, स्वतंत्रता तथा समानता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। फ्रांसीसी क्रांति का स्वागत इसी नारे के कारण हुआ पर यह समानता स्थापित नहीं कर पायी। हमने रूसी क्रांति का स्वागत इसलिए किया कि इसका लक्ष्य समानता स्थापित करने का था किन्तु इस बात पर आवश्यकता से अधिक जोर नहीं दिया जा सकता कि समता लाने के क्रम में समाज भाईचारा या स्वतंत्रता की बलि चढ़ा सकता है। समानता का भाईचारा या स्वतंत्रता के बिना कोई मूल्य नहीं है। ऐसा लगता है कि ये तीनों साथ-साथ तभी रह सकते हैं, यदि बुद्ध के मार्ग का अनुसरण किया जाए। साम्यवाद से कुछ मिल सकता है, सब नहीं। (20, बुद्धा एंड कार्ल मार्क्स)

मार्क्सवाद को लेकर उनकी समस्या के बावजूद (यहां ध्यान देने की बात है कि मार्क्सवाद की नुक्ता-चीनी करते हुए उन्होंने कभी उसके समग्र दर्शन पर उसके तीन संघटकों के संदर्भ में विवेचना नहीं की है और मूलतः अपने तर्क सोवियत रूस में प्रयुक्त तथा भारत में अनुभूत मार्क्सवाद के प्रयोगाश्रित रूप पर ही केन्द्रित रखे हैं)। उनकी योजना की मूल मान्यता इतनी जटिल है कि उसे पचा पाना संभव नहीं है। इसमें यह बात शामिल की गई है कि समाज की आर्थिक संरचना, जिसे विधायिका या कार्यपालिका बदल नहीं सकती, को सांविधानिक कानून का आदेश प्राप्त होना चाहिए। यह कानून कौन बनाएगा? ऐसा करने का

हमारा प्रयोजन क्या होगा? कौन इसे स्वीकार करेगा और क्यों करेगा? इस प्रकार के कई प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठने चाहिए। क्या ये सवाल अंबेडकर के मन में नहीं उठे? क्या वे समाज में वर्गों के अस्तित्व से अनभिज्ञ थे? सच्चाई यह है कि वे इन तमाम बातों से अच्छी तरह परिचित थे। दिलचस्प बात यह है कि कोलंबिया विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए उन्होंने जो पहला निबंध लिखा था, उनमें इन बातों को लेकर उनकी अन्तर्दृष्टि मौजूद है। वे राज्य के वर्ग-चरित्र को जानते थे और राज्य की नीतियों पर इसके प्रभाव की अपरिहार्यता से सहमत नहीं दीखते। कई उदारवादियों की तरह, वे अपनी इच्छानुकूल एक आशा मन में पालते प्रतीत होते हैं कि राज्य अपने घटकों की वर्गीय पहचान से ऊपर उठेगा। एक उदार विश्वास से वे इसे एक प्रकार की स्वायत्तता देते प्रतीत होते हैं। यदि सरकार में 'भले' लोग हों तो राज्य का चरित्र बदला जा सकता है वे ऐसा सोचते थे। राज्य के मुद्दे पर वे बात यहीं नहीं छोड़ना चाहते। वे संविधान की सहायता से राज्य के व्यावहारिक स्वभाव पर अंकुश लगाना चाहते हैं पर प्रश्न उठता है कि इस संविधान को बनाने की गारंटी कौन देगा?

इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह संभव नहीं है कि अंबेडकर द्वारा सोचा गया संविधान बस 'अच्छे' लोगों द्वारा बना लिया जाए। यह मात्र काल्पनिक बात रही भी नहीं और इसे **भारतीय-संविधान** जिसके बारे में मशहूर है कि उसे अंबेडकर ने स्वयं तैयार किया है, के निर्माण की प्रक्रिया के आलोक में समझा जा सकता है। **स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज** में प्रस्तुत उनका एक भी सुझाव उसमें शामिल नहीं है। उनके किसी भी प्रस्तावित प्रावधान पर संविधान-सभा ने चर्चा नहीं की। अपने संविधान की निर्माण प्रक्रिया पर नज़र डालें तो संविधान पर प्रभुत्व संपन्न वर्गों की छाप स्पष्टतः देखी जा सकती है। उनके संविधान के अस्वीकार संबंधी बयानों यथा *"मैं तो संविधान लिखने के लिए किराए का आदमी भर था"* 'या' *"इसे आग लगा देने वाला मैं पहला व्यक्ति हूंगा"* के चाहे जो भी विशेष संदर्भ रहे हों, ये **राज्य-समाज** की उनकी आधारभूत मान्यताओं के विरोध में ढेरों प्रमाण जुटाते हैं जो हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत बने संवैधानिक राज्य संविधान द्वारा प्रदत्त आश्वासनों पर प्रतिकूल टिप्पणी के समान हैं। संविधान की प्रस्तावना में भारत को धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया है; दुःख की बात यह है कि ये सभी भले लगने वाले शब्द इसकी साज-सज्जा भर ही बने रहे और छः दशकों बाद भी सच नहीं हो सके। इस देश में जनता, जिसे सार्वभौम समझा जाता है, का कोई स्थान नहीं है। अंबेडकर की वर्ग-रहित संविधान सभा संबंधी और राज्य के व्यवहार को नियंत्रित करने की संविधान की क्षमता संबंधी मान्यताएँ, दुखद रूप से गलत सिद्ध हुई हैं।

अंबेडकर के राज्य समाजवाद के माडल का रूख अनजाने ही लस्साले के

ऊपर से आने वाले समाजवाद के दृष्टिकोण से मिलता है। बुद्धिमान लोगों द्वारा लिखे गए संविधान से आशा की जाती है कि उसमें आम जनता, जिसका संविधान निर्माण पर नियंत्रण नहीं है, की आवश्यकताओं का समावेश हो। ठोस रूप से यह कहने का कोई आधार नहीं है कि अंबेडकर इस मार्क्सवादी सिद्धांत कि **‘इतिहास जनता बनाती है’** में विश्वास रखते थे, पर इसमें संदेह नहीं कि वे जनता के संघर्ष की शक्ति का मूल्य समझते थे। **‘शिक्षित बनो, संगठित हो जाओ और आंदोलन करो’** का उनका मंत्र उनकी इस आस्था का प्रमाण है। अतएव यह आश्चर्यजनक है कि समाज की आर्थिक संरचना में परिवर्तन तथा इसे अपरिवर्तनीय रूप देने के महत्वपूर्ण बदलाव के लिए वे आम लोगों के करणत्व या सहायक होने पर निर्भर नहीं करते। कई जनोन्मुख परिवर्तन ऊपर से लाए गए मालूम होते हैं क्योंकि वे अधिकार-बल से कार्यान्वित हो पाते हैं। संविधान में सम्मिलित बहुत से परिवर्तन भी ऐसे ही दीखते हैं। समाज में होने वाली परिघटनाओं में कार्यकारक के मध्य हरेक का दूसरे से कदाचित ही कोई संबंध होता है। वे निश्चिततः जन-संघर्ष की शक्ति के एक ऐतिहासिक संचय का रूप है। यह भूलना नहीं चाहिए कि इतिहास में प्रत्येक वास्तविक परिवर्तन, लोगों के संघर्ष से ही आया है। ऊपर से आने वाला परिवर्तन हमेशा इससे प्रभावित होता है क्योंकि यह उस वर्ग की मध्यस्थता से आता है, जिसे दूसरे वर्ग के हितों के समान समझा जाता है। इसका कुल फायदा निचले वर्ग की बजाए ऊपर के वर्ग को ही होता है चूंकि अंबेडकर की योजना में इस प्रकार का आश्वासन नहीं था, इसलिए सम्माननीय संविधान निर्माणकर्ताओं के दल ने इसे चर्चा के योग्य भी नहीं समझा!

क्रांति का कोई विकल्प नहीं

ऊपर की गई चर्चा तथा हमारे **‘गणराज्य’** के संविधान की अब तक के काम के अनुभव से हमें यह विश्वास हो जाना चाहिए कि क्रांति का कोई अन्य विकल्प नहीं है। अंबेडकर ने क्रांति की आवश्यकता पर कभी विवाद नहीं खड़ा किया। उन्हें उस समय के कम्युनिस्टों की उन एकपक्षीय तथा मतान्ध घोषणाओं को लेकर संदेह था, जो सही भी था कि मजदूर वर्ग द्वारा राजनैतिक सत्ता पर कब्जा करना संभव है और ऐसा होने पर सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा, चूंकि जातिवाद के राक्षस से लड़ने का जिम्मा उन्होंने अपने सिर पर लिया था, इसलिए समस्या की विकरालता तथा उसकी प्रकृति का उन्हें खूब अहसास था और वे क्रांतिकारियों को चेतावनी दे सकते थे पर उन्हें इस बात का अहसास नहीं था कि वे जो करना चाहते थे, वह स्वयं ही एक क्रांतिकारी कार्य था। एक ऐसे समाज में जो जाति, समुदाय और वर्गों में हर प्रकार से विभाजित था, जिसका उदाहरण

अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, ऐसी क्रांति जो सर्वाधिक उत्पीड़ित लोगों की समस्या को अनदेखा करती हो, का सपना देखना मूर्खता ही था। एक प्रकार से यह भी परिवर्तन का अभिजातवादी दृष्टिकोण ही था। निस्संदेह, भारत की जमीनी हकीकत के संबंध में साम्यवादियों की समझ को लेकर उनकी शंकाएँ सच निकलीं। मार्क्सवाद के स्पष्ट अन्तर्विरोधों, जो अंबेडकर की शंकाओं से प्रकट होते हैं, को कोई खारिज नहीं कर सकता। मार्क्सवाद के अनुसार जहाँ सभी आत्मपरक बातें आर्थिक विकास की वस्तुनिष्ठ शर्तों पर पूरी तरह निर्भर रहती हैं, वहीं आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करने वाली क्रांति मनुष्य का आत्मपरक कार्य है। यह अन्य कारकों, जैसे कि राजनैतिक संस्थानों, संस्कृति, विचारधारा तथा आर्थिक विकास के अवकलन (**Derivatives**) के रूप में व्यक्तियों की भूमिका पर विचार नहीं करता था या उनके महत्व को कम करके देखता है। भारत में जाति-आधारित समाज की विचारधारात्मक संरचना इस प्रतिपादन (**Formulation**) की निश्चित ही पुष्टि नहीं करते। अंबेडकर जिस जाति समीकरण से जूझे वह इतना कष्टप्रद था कि इसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता था। 1947 के बाद के भारत में चुनावी राजनीति के नए प्रतिमानों के अंतर्गत यह कमजोर पड़ने की बजाएँ और भी उग्र हो रहा है। हमारी राजनीति वर्ग-चेतना से अभी भी धोखा खाती है तथा जाति तथा समुदाय के आधार पर बढ़ता हुआ ध्रुवीकरण हमें अभी भी हक्का-बक्का कर देता है।

इन अनुभवों से अंबेडकर की बात जहाँ सच सिद्ध होती है वहीं वे उनके अपने समाधानों की सीमाएँ भी बताते हैं। सांविधानिक शासन जिसके विषय में उनका विचार था कि वह समाज को समाजवादी रूप देने में सहायक होगा, लोगों को आजीविका अर्जित करने के अधिकार की गारंटी देने में भी असफल रहा है। पहली बात तो यह है कि संविधान स्वयं ही वर्ग द्वारा निर्मित होता है। इसमें ऐसी बातों का समावेश नहीं हो सकता जो इसे बनाने वाले वर्ग के दीर्घकालिक हित में न हो। दूसरी बात यह है कि संविधान में यदि वर्तमान वर्ग-हित के संदर्भ में कुछ गलत भी है, तो उस वर्ग के वर्चस्व से वह निष्प्रभावी हो जाएगा। इस शासन के अनुभव आम आदमी के लिए संविधान की निरर्थकता ही दिखाते हैं। आम आदमी हर कदम पर बिना किसी शोर-शराबे के अपने सांविधानिक अधिकार का मान-मर्दन बेचारगी से देखता रहता है। इन अनुभवों से यह सबक मिलता है कि संविधान के ऊपर से नीचे की ओर के दृष्टिकोण के तहत निर्मित नियम-कानूनों का चाहे जितना भी ढेर लगा दें, बहुसंख्यक आम जनता को इसका कोई लाभ तब तक नहीं मिल सकता जब तक वे नियम उसके अपने संघर्ष के परिणामस्वरूप अस्तित्व में न आए हों। ऐसे संविधान अभिजात वर्गों के लिए अपने शासन को दीर्घकाल तक विस्तार देने के लिए

ढांचा तैयार करने का अतिरिक्त अवसर ही सुलभ कराते हैं। वे जानबूझकर उदारतासूचक ढेर सारी व्यवस्थाओं के झालरों से इसे खूब सज्जित करते हैं, जिससे बहुतेरे इसकी चकाचौंध में भ्रमित हो बैठें। इसका अर्थ यह नहीं है कि अभिजात वर्ग द्वारा बनाए ये सुधार जनता के संघर्ष का परिणाम नहीं हैं। वस्तुतः, वे निश्चित रूप से जनसामान्य द्वारा अर्जित होते हैं पर अंतर यह है कि अभिजात्य वर्ग उनसे रणनीति बनाकर निबटते हैं और ऐसे सुधारों के बने रहने की आवश्यकता को समाप्त करते हैं। वे यह झूठी चेतना गढ़ते तथा मजबूत बनाते हैं कि *“संघर्ष निरर्थक और बेकार हैं। जन सामान्य का सीधा संघर्ष, जिससे उसके शत्रु-वर्ग को रणनीतिक लाभ न मिले ही इसका जवाब है। इससे शत्रु-वर्ग न सिर्फ घबराहट में रहेगा बल्कि इससे लोगों की संघर्ष-चेतना को भी लगातार शक्ति मिलेगी। अपने लोकतांत्रिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए लड़ाई लड़ने की शिक्षा से ही अंततः क्रांति संभव हो पाती है।”*

क्रांति के संदर्भ में अंबेडकर की सामाजिक सुधारों को लेकर दी गई चेतावनी आज भी प्रासंगिक है। उसमें बस इतना परिवर्तन करने की जरूरत है कि सुधार और क्रांति के रूप में अंतर को समाप्त कर, उन्हें क्रम से व्यवस्थित करें। किसी देश में उत्पन्न होने वाली समस्याएं उस देश से विशिष्ट रूप से जुड़ी होती हैं और उन पर उनके समग्र रूप में विचार करना होता है। भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक वास्तविकता समझी जाने वाली ‘जातियां’, ‘वर्ग’ जो उत्पादन संबंधों के भौतिक पक्षों से बने होते हैं, से घुली-मिली मानी जाती है। इनको दो पृथक् और एक-दूसरे से असंबद्ध कोटि मानना बड़ी भूल रही है। भारतीय क्रांति की योजना में इन्हें संयुक्त कोटि में रखकर निबटना होगा और इसके लिए उपयुक्त रणनीति और तरीके बनाने होंगे। इस क्रांति के कई अंग हो सकते हैं जैसे कि ट्रेड-यूनियन-आंदोलन, किसान-आंदोलन, ट्राइबल-आंदोलन, दलित-आंदोलन, नारी-आंदोलन आदि-आदि। क्रांति की रणनीति इन अवयवों को समन्वित कर बड़े लक्ष्य की प्राप्ति होनी चाहिए। इन सभी आंदोलनों के अपने स्वाभाविक कार्यक्रम हैं, जिन पर सही ढंग से अमल करने से एक सच्चे क्रांतिकारी लक्ष्य से उनकी असंगति नहीं हो सकती। इसके प्रतिकूल किसी भी प्रकार का विचार, क्रांति के लिए निश्चित रूप से हानिकारक होगा। पारंपरिक नामकरण पद्धति के उलट जाति नाश के लिए सचेष्ट दलित-आंदोलन को क्रांति का एक हिस्सा होना चाहिए तथा अन्य किसी भी क्रांतिकारी आंदोलन का पूरक होना चाहिए।

अंबेडकर ने शोषण-रहित समाज की कल्पना की थी। ऐसा समाज जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ पूर्ण स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे की भावना के साथ रहे पर जिस प्रकार से उन्होंने उसे परिभाषित किया उससे वह यूटोपिया ही बन गया। यह किसी सुधार के भीतर चाहे वह कितना भी दूरगामी

प्रभाव वाला क्यों न हो, बंधकर नहीं रह सकता। यह विरोधाभासपूर्ण तथ्य है, इससे मिलता-जुलता एक ही दूसरा यूटोपिया है कम्युनिज्म।

निष्कर्ष

आज समाजवाद बेहद अस्पष्ट अर्थों में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। समाजवाद का मतलब सरकार या राज्य स्वामित्व नहीं है। इसका अर्थ पार्टी द्वारा संचालित लोकतांत्रिक अधिकारों से रहित एक बंद प्रणाली नहीं है। यह राष्ट्रीयकरण या मजदूर-प्रबंधन बोर्ड या किसी प्रकार का राज्य पूंजीवाद (**State Capitalism**) भी नहीं है। इसका तात्पर्य है **सभी पूंजीवादी सामाजिक संबंधों का पूर्ण अंत**। आम धारणा के विपरीत सच्चाई यह है कि समाजवाद का कभी अस्तित्व नहीं रहा। यह पुराने सोवियत संघ में भी नहीं था और न ही यह चीन में है। समाजवाद में समाज ऐसा होगा जिसमें वे चीजें जिनकी आवश्यकता हमें जीवित रहने, काम करने और अपने जीवन को नियंत्रित करने यथा उद्योग, सेवाएं और प्राकृतिक संसाधन के लिए होती है, पर भी सभी लोगों का सामूहिक स्वामित्व होगा तथा उद्योगों और सेवाओं के अंदर लोगों का लोकतांत्रिक संगठन ही, सरकार हो। जनता की जनता के लिए तथा जनता द्वारा संचालित सरकार जब पहली बार वास्तविकता बन जाए, वही समाजवाद है।

जैसा कि पहले स्पष्ट हो चुका है राज्य-समाजवाद को सर्वोत्तम स्थितियों में एक पवित्र कामना तथा निकृष्टतम स्थिति में परस्पर विरोधी शब्द का युग्म कहा जा सकता है। जब तक राज्य एक समाजवादी राज्य में परिवर्तित नहीं हो जाता, राज्य-समाजवाद का कोई अर्थ नहीं है। राज्य-समाजवाद वर्ग-चेतना रहित दृष्टिकोण तथा आदर्शवादी सोच का मेल है। अंबेडकर के राज्य-समाजवाद को नए स्वतंत्र भारत के लिए एक नए संविधान के निर्माण के अनुकूल परिस्थितियों की रचना की संभावना के संदर्भ में देखने की आवश्यकता है। शासक वर्गों की स्थिति के अनुसार कुछ प्रगतिशील उपायों को पा लेने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के पक्ष में सकारात्मक पक्षपात के जो प्रावधान हमारे संविधान में हैं वे ऐसी प्रक्रिया से गुजरकर संविधान में आए हैं। उन्हें हमेशा एक दीर्घ कालिक रणनीति के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है पर ये उपाय इतने दूरगामी प्रभाव वाले नहीं हो सकते कि इनसे समाज की बुनियादी संरचना ही बिगड़ जाए। समाजवाद बिल्कुल ही अलग तरह की व्यवस्था है। यह सोचना कि इसे उग्र वर्ग-संघर्ष के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता, एक भ्रम पालना है।

ऊपर विवेचित कारणों से अंबेडकर ऐसे साधनों में विश्वास करते थे। ऐसा समझा जा सकता है कि उनका विश्वास सैद्धांतिक समझ के मुकाबले उनकी

जबरदस्त व्यावहारिकता से उत्सृत है। अपने जीवन में ही अछूतों के लिए अधिकाधिक लाभ सुनिश्चित करने की उनकी सुस्पष्ट चिन्ता ने उनकी राजनीति की दिशा जन-केंद्रित संघर्ष से मोड़कर नेतृत्व केंद्रित प्रयासों की ओर कर दी। वे सहज रूप से मार्क्सवाद की ओर, विशेषकर इसके लक्ष्यों को लेकर आकृष्ट थे पर उनकी उदार वृत्ति मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता और हिंसक तरीकों से सामंजस्य नहीं बिठा पाई। जाति व्यवस्था के विरुद्ध उनके संघर्ष के क्रम में हिन्दू धर्म से उनके संघर्ष के क्रम में हिन्दू धर्म से उनके टकराव ने आधुनिक समय में सकारात्मक व्यक्ति निर्माण में, धर्म को आवश्यकता से अधिक महत्व देने को उन्हें प्रेरित किया। अंबेडकर के विचारों के विकास के संदर्भों को यदि ध्यान में नहीं रखा जाता तो अंबेडकर के आदर्शों को समझ पाना कठिन है।

अनुवाद : अकील क़ैस

अंबेडकरवाद तथा मार्क्सवाद

अंबेडकरवाद तथा मार्क्सवाद में समन्वय की संभावनाएं

अभय मौर्य

1924 के इर्द-गिर्द दलित क्रान्ति के प्रतीक डॉ. बाबा साहब अंबेडकर ने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना करके दलित-मुक्ति आंदोलन का बिगुल बजाया था। 1927 में बाबा साहब ने मनुस्मृति को सरेआम जलाकर दलित आंदोलन को और प्रखर किया। तब से लेकर अब तक दलित-मुक्ति आंदोलन ने कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। 7-8 दशकों में प्राप्त की गई इस आंदोलन की उपलब्धियां भारत के इतिहास में इस बात का एक अनूठा उदाहरण हैं कि कैसे ढाई हजार से भी अधिक समय से दमित और दलित लोग संघर्ष के माध्यम से सर्वशक्तिमान सवर्ण जातियों के आधिपत्य को चुनौती दे सकते हैं। दलित आंदोलन को शरण कुमार लिंबाले ने 'महायुद्ध' को संज्ञा दी है। इसी नाते दलित-साहित्य को उन्होंने 'महाकाव्य' बता कर ठीक ही किया है।'

आजादी के बाद भारत के दलित समाज ने सामाजिक और आर्थिक उद्धार की दिशा में कई महत्वपूर्ण पड़ाव पार किए हैं। बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की बदौलत भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों के लिए किए गए आरक्षण के प्रावधान ने यह बात सुनिश्चित की कि यदि आजादी से पहले मात्र बाबा साहब ही ऐसे दलित व्यक्ति थे जो देश और विदेश में उच्च शिक्षा पा सके, तो आजादी के बाद आरक्षण की बदौलत हजारों दलित बाबा साहब की तरह उच्च शिक्षा पा सके। इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह हुई कि उच्च शिक्षा पाने के नए-नए अवसरों की बदौलत सैकड़ों-हजारों की तादाद में दलित-चिंतक, लेखक, दार्शनिक तथा समाज-शास्त्री पैदा हुए। इनमें से बहुत सारे लोगों ने दलित-साहित्य की संरचना की और मराठी, हिंदी तथा अन्य भाषाओं के साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया।

'ओरियन्टलिज्म' के संबंध में महान चिंतक एडवर्ड सैड ने कहा था कि अब एंपायर यानी इंग्लैंड और यूरोप के भूतपूर्व उपनिवेशों के प्रतिनिधियों यानी प्राच्यवेत्ताओं ने अपनी आवाज में प्राच्य विद्या को (ओरियन्टलिज्म) को परिभाषित करते हुए प्राच्य

(ओरियंट) की इंपिरियलिस्ट (साम्राज्यवादी) अवधारणा को एक सफल चुनौती दी है। सईद ने इसे यों भी कहा था कि एंपायर अपनी भाषा में इंप्रियलिस्टों से जवाबी बात कह रहा है (**The empire is speaking back to the imperialists**)। ठीक इसी प्रकार दलित लेखकों और चिंतकों ने भी सवर्ण लेखकों और चिंतकों को एक कड़ी चुनौती देते हुए अपनी भाषा में यानी अपने इंडियन के माध्यम से सवर्ण लेखकों के ब्राह्मणवादी-विमर्श को ललकारा है। विशेषकर हिंदी साहित्य में दलित-साहित्य एक मुख्य धारा के रूप में उभरकर आया है। इसी की बदौलत सकल हिंदी साहित्य, मिखाइल बख्विन के शब्दों में यदि कहें तो, **'Polyphonic'** हो चला है, यानी दलित-साहित्य की बदौलत हिंदी साहित्य का जनतंत्रीकरण हुआ है, इसकी सवर्णीय एकस्वरता का भंजन हुआ है और अब यह बहुस्तरीय साहित्य (**Multi-voiced या Polyphonic**) बन चुका है।

फिर भी गहराई से अगर विश्लेषण किया जाए तो लगता है कि वर्तमान समय में दलित-आंदोलन एवं दलित साहित्य एक अत्यंत विकट चौराहे पर आ खड़ा हुआ है। यह सही है कि आज दलित समाज से निकलकर आए दलित शिक्षाविदों, चिंतकों, साहित्यकारों, दार्शनिकों और समाज-शास्त्रियों का काफी सशक्त तबका उभर कर आया है। एक मायने में दलित समाज का सशक्तिकरण स्पष्ट दिखाई देता है। पर इसके आधार पर क्या हम कह सकते हैं कि पूरे दलित समाज का उद्धार हो चुका है? क्या यह सही नहीं है कि इतने सारे दलित नेताओं, मंत्रियों, मुख्यमंत्रियों और अन्य विभूतियों के उभर कर आने के बावजूद दलित समाज के एक बहुत बड़े हिस्से की हालत अभी भी चिंताजनक है? बल्कि यूँ कहना चाहिए कि 80-90% से अधिक दलित जनता आज भी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक शोषण, दमन और अत्याचार की शिकार है। आए दिन हम लोग देश के विभिन्न भागों में दलितों पर होने वाले अत्याचारों के बारे में दिल दहलाने वाले वृत्तांत पढ़ते हैं। और यह तब जब दलितों पर हो रहे सभी तरह के अत्याचारों के विवरण अखबारों में छपते ही नहीं। दलित औरतों पर सवर्णों द्वारा सदियों से किया जाने वाला बलात्कार आज भी जारी है, दलित आज भी जुल्म की चक्की में पिस रहे हैं। यहां पर एक सीधा-सा सवाल उठता है कि यदि जगजीवन राम, काशीराम, मायावती, पासवान और अनेकों दलित नेताओं के आने के बावजूद दलित उद्धार 10-15% तक पहुंच कर थम गया है, तो क्या आरक्षण की बदौलत पनपा दलित आंदोलन अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर अब थमाय की जकड़ में आ चुका है? क्या आरक्षण का लाभ अब मात्र पहली, दूसरी या तीसरी पीढ़ियों तक आर्थिक रूप से मुक्त हुए दलितों के बीच में ही बंट कर नहीं रह गया है? दलितों में से नए लोगों द्वारा आरक्षण का लाभ पाना अब असंभव-सा हो गया है। ऐसी स्थिति में दलित चिंतकों और उनके साथ सहानुभूति रखने वाले सवर्ण जाति से निकले विचारकों का क्या यह कर्तव्य नहीं बन जाता कि इस बात

पर गंभीरता से विचार-मंथन किया जाए कि दलित उद्धार के आंदोलन को किस प्रकार आगे बढ़ाया जाए?

सबसे पहले तो इस बारे में समझ को साफ करना अति आवश्यक है कि समाज की कौन-सी ऐसी शक्तियां हैं या तत्व हैं जो वास्तव में दलित-उद्धार चाहते हैं। साथ में यह भी समझना जरूरी है कि कौन-कौन सी ताकतें वास्तव में दलित-मुक्ति के विरुद्ध हैं। दलित-साहित्य में इस मुद्दे पर नाना प्रकार की बहसें हुई हैं। मोटे तौर पर यह साफ निकलकर आता है कि सवर्ण लोग या मनुवादी शक्तियां और उनका प्रतिनिधित्व करने वाले अनेकों राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक संगठन ढाई हजार वर्ष पूर्व स्थापित किए गए मनुवादी ढांचे का विनाश नहीं होने देना चाहते। वे नाना प्रकार के हथकंडों द्वारा या जटिल जाल फैलाकर यथास्थिति को बनाए रखना चाहते हैं। दुर्भाग्यवश दलित-विमर्श में ऐसी शक्तियों को मात्र दो शब्दों के माध्यम से यानी 'मनुवादी' या 'सवर्ण' कहकर बहस को समाप्त कर दिया जाता है, उन द्वारा चलाई जा रहीं नाना प्रकार की दलित-विरोधी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष गतिविधियां दलित-चिंतकों के तौर-तलवारों के वार से साफ-साफ बच जाती हैं। कितनी बड़ी विडंबना है, जैसा कि अक्सर देखने में आया है, कि दलित-बुद्धिजीवियों के आक्रोश भरे बाण अधिकांशतः उनके अपने स्वाभाविक साथियों या दोस्तों यानी वामपंथियों पर चलते दिखते हैं।

यह बात तो सही है कि मार्क्सवादी संगठन या शक्तियां दलित-विमर्श और चिंतन में गहन सूक्ष्मता से किए जा रहे विश्लेषण के दायरे में आ जाते हैं। यह शायद इसलिए होता होगा कि समाज में समूल परिवर्तन के समर्थक होने के नाते मार्क्सवादी या वामपंथी शक्तियों को दलित-मुक्ति का स्वाभाविक पक्षधर होना ही चाहिए। वामपंथियों से ऐसी अपेक्षा करना अतिरंजना की बात नहीं। वास्तव में होना यों चाहिए था कि मार्क्सवादी ही दलित-मुक्ति के अभियान में प्रथम पंक्तियों में नजर आते। लेकिन दलित-साहित्य के विश्लेषण के आधार पर यह कहना उचित होगा कि दलित-मुक्ति, अंबेडकरवाद और मार्क्सवाद को लेकर चिंतन, दर्शन, विश्लेषण विरोधाभासों की भूलभुलैया में फंस कर रह गए हैं। दलित-लेखकों और चिंतकों की कलम से मार्क्सवाद के प्रति कड़वाहट नाना प्रकार के स्तरों पर और तरह-तरह के लहजों में मुखरित हो रही है। एक तरफ तो ऐसे लेखक हैं जो कभी न कभी व्यक्तिगत रूप से आहत हुए होंगे या फिर ऐसा भी हुआ होगा कि व्यक्तिगत जीवन में वामपंथियों ने उन्हें वह सब कुछ न दिया होगा जिसकी उन्हें अपेक्षा थी। उदाहरण के रूप में ऐसे ही दलित लेखक के निम्नलिखित शब्दों को यहां उद्धृत करना उचित होगा "आज से 18-20 वर्ष पहले जब मेरा रुझान मार्क्सवादी विचारधारा की ओर हुआ था तब एक सर्वहारा, शोषित मानव की मुक्ति का प्रश्न मेरे जहन में था जिसमें अपनी मुक्ति भी शामिल थी। तब मैं यह नहीं

जानता था कि जैसा जातिभेद का सामाजिक संस्करण दक्षिणपंथी विचारों में है वैसा ही वामपंथियों में भी होगा, पार्टी के सर्वोच्च नेता की स्थिति उसकी उच्च या निम्न जाति के अनुसार होगी। नेतृत्व सवर्ण का ही होगा। इसके लिए तर्क जुटा लिए जाएंगे। अछूत जातियां यहां महज झंडा-डंडा वाहक हैं या नेताओं के आगे-पीछे ज़िन्दाबाद-मुर्दाबाद, लाल-सलाम वगैरह-वगैरह करते रहने वाले मुफ्त की गुलाम हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी विपन्न। आजादी के सपनों से भी दूर?"²

खेद की बात यह है कि ऐसे दलित-चिंतक अंबेडकर और मार्क्सवादियों के मतभेदों को लेकर सतही मूल्यांकन करते हैं और निहायत छिछोरी भाषा में मार्क्सवादियों और अंबेडकरवादियों के बीच लड़ाई करवाने के लिए दक्षिणपंथियों द्वारा संचालित खेल को जाने-अनजाने में समर्थन दे देते हैं। उपरोक्त दलित चिंतक ने आगे लिखा है "सवर्ण मार्क्सवादी तो अपनी सांस्कृतिक सवर्णता के साथ ही क्रान्ति का ठेकेदार ही खुद को समझते हैं। मार्क्सवादियों ने अंबेडकर को प्रतिक्रियावादी कहा है क्योंकि वे सामाजिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन चाहते थे। वे वैचारिक क्रान्ति को प्राथमिक मानते थे..., यही कारण है कि हमारे देश में जहां-जहां कम्युनिस्ट सरकारें हैं, वहां भी कांग्रेस, भाजपा या जनता दल सरकारों की तरह दलितों की दशा खराब है। शिक्षा, साहित्य और उच्च स्तर की नौकरियों में उनकी औसत भागीदारी कम है। भूमिदारों और भवनदारों ने उन्हें गांव और शहरों में भूमिहीन व आवासहीन बना दिया है...जाति यहां भी टूटेगी, क्रान्ति यहां भी हो सकती पर तब जब यह व्यवस्था कुछ लोगों की दुधारू गाय बनने के बजाय समता भाव भाव से संचालित होगी।"³

आगे चलकर विमर्श के इसी अंदाज में यह चिंतक लिखता है "मार्क्स पर सवर्ण चेतना का कब्जा है। वे उसका दर्शन पढ़कर उसका दलित विरोध में इस्तेमाल कर रहे हैं; डी-क्लास होने की बात को डी-कास्ट की दिशा में विकसित नहीं कर रहे। केवल इतनी तीव्र इच्छा है कि मार्क्स के नाम पर दलितों पर हम राज करें। तो हमारे अंबेडकरवादी कुछ मित्र मार्क्स को ही बुरा समझते हैं। वहीं मार्क्स के विचार को दलित बचा सकता है। दार्शनिक स्तर पर गाइड लाइन दलित दे, नेतृत्व दलित करे तो मार्क्स बचेगा। उसे बचाने की जरूरत अभी हमें नहीं।"⁴

यहां यह कहना होगा कि बुर्जुआ संगठनों के ऐन विपरीत मार्क्सवादी संगठनों में सदस्यों के व्यक्तिगत अहम या महत्वाकांक्षाओं को बढ़ावा नहीं दिया जाता। मार्क्सवादी लोग अपनी विचारधारा के प्रति पूर्णतः समर्पित होकर अपने संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए, जो भी काम उन्हें दिया जाता है, पूरी निष्ठा और कर्मठता से करते हैं। इसीलिए वामपंथी कार्यकर्ता, बुर्जुआ संगठनों, जहां सब अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं को हवा देने में जुटे रहते हैं, से हट कर अक्सर अपने को आगे बढ़ाने की बजाए अपने विचारों तथा लक्ष्यों के प्रति समर्पित होते

हैं और इन संगठनों में कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता। प्रत्येक सदस्य को उसकी योग्यता और क्षमता के अनुसार काम दिया जाता है। जाति या धर्म की जिम्मेदारियों के बंटवारे में कोई भूमिका नहीं होती। यह दूसरी बात है कि दलित पृष्ठभूमि के सदस्य नेतृत्व के स्तर तक इसलिए कम संख्या में पहुंचते हैं क्योंकि दलित समुदायों से पढ़े-लिखे लोग हाल ही में आगे आने लगे हैं, शिक्षा पर तो कुछ समय पहले तक अगड़ों का ही कब्जा था। जाहिर है कि यह वास्तविकता वामपंथी दलों की सदस्यता एवं नेतृत्व के चरित्र में भी झलकती है। ध्यान देने लायक बात यह भी है कि अधिकांश दलित कार्यकर्ता सर्वविदित कारणों से शासक वर्ग के मुख्य दलों में खप जाते हैं। वाम दलों में रहकर आनन-फानन में कैरियर नहीं बनाया जा सकता, पदोन्नतियां नहीं पाई जा सकतीं। वामपंथी होने का अर्थ है पाने की बजाए खोने के लिए तैयार रहना। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि मध्यम-वर्ग में नए-नए शामिल हुए बेचैन दलित भाई मध्यम-वर्ग में पनपने वाले पद-लोलुपता तथा महत्वाकांक्षाओं जैसे रोगों से ग्रस्त हो ही जाते हैं, परंतु शीघ्र ही जब रोमांस का नशा लुप्त होने लगता है, तब वामपंथी संगठनों से उन्हें चिढ़ हो रही है। ऐसे में वामपंथ का साथ छोड़ देते हैं, पर वे दोष-भावना के बोझ से दब कर अपने को जस्टिफाई करते हुए वाम-पंथियों को खूब गालियां देते हैं, जातिसूचक शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में करते हैं।

मार्क्सवाद और अंबेडकरवाद में कड़वाहट बनाए रखने और उसे और भड़काने की मुहिम इतनी प्रचंड हो चली है कि बहुत सारे गंभीर दलित लेखक और चिंतक भी इसकी चपेट में आने से नहीं बच पाते। दलित लेखन में डॉ. जय प्रकाश कर्दम का अत्यंत विशिष्ट और आदरणीय स्थान है। पर वे भी अपनी उत्कृष्ट रचना **इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन (साहित्य एवं समाज-चिंतन 2004)** में लिखते हैं “दलित न मार्क्स के समर्थन में हैं न विरोध में। मार्क्स का अपना लक्ष्य है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उनके अपने साधन और सिद्धांत हैं, जबकि दलितों का अपना लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के लिए उनके अपने सिद्धांत हैं।”⁵ कर्दम आगे लिखते हैं “दलित जाति-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत हैं और मार्क्सवादी वही पुराने केवल वर्गभेद मिटाने के अपने पोथीनिष्ठ सिद्धांतों पर अडिग हैं। जाति-विरोध से उनका कोई लेना-देना नहीं है. .. मार्क्सवादी-आंदोलन सामंतवाद या पूंजीवादी अर्थात् वर्गभेद के खात्मे पर जाकर विराम ले लेगा क्योंकि यही उसकी मंजिल है। जबकि दलितों के सामने जाति तब भी एक समस्या बनी रहेगी।”⁶ कर्दम जी निम्नलिखित अवधारणा गौरतलब है “..जाति से बचकर चलने या गौण बनकर उसकी उपेक्षा करके दलितों को अपने साथ जोड़ने की कोशिशों का क्या यह मतलब नहीं है कि दोस्ती के नाम पर मार्क्सवादी उसकी कीमत पर अपना लक्ष्य साधना चाहता है और एकजुटता के नाम पर उसके

*आंदोलन को निगलना चाहता है।”*⁷

आश्चर्य की बात यह है कि कर्दमजी यह भी भूल गए कि दलितों और मार्क्सवादियों के लक्ष्य मुख्यतः एक जैसे ही हैं। इसके सिवाय मार्क्स से लेकर, भगत सिंह, राहुल सांकृत्यायन और बी.टी. रणदिवे जैसे अनेक मार्क्सवादी चिंतकों ने जातिवाद की धज्जियां उड़ाई हैं, उसके उन्मूलन की गुहार लगाई है। यह कहना सच्चाई से कोसों दूर होगा कि वर्ग-भेद को मिटा चुकने के बाद मार्क्सवादी जाति-भेद को नहीं मिटाएंगे। सच तो यह वर्गभेद मिटाने की लड़ाई चलते-चलते जातिवाद का विनाश सबसे पहले होगा जैसा कि रूस में बोल्शेविक क्रांति के समय धर्म के साथ हुआ था। समाजवादी क्रांति होने पर जातिभेद के पिताश्री हिन्दू धर्म सामाजिक और राजनीति जीवन से लुप्त हो जाएगा। इस तरह जब जाति-प्रथा की जननी या जन्मदाता ही नहीं रहेंगे तो जातियां कैसे रहेंगी? दुर्भाग्यवश इस तथ्य की ओर कर्दमजी का ध्यान नहीं गया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दलितों के एक भाग में मार्क्स विरोधी भावना को इस तरह हवा दी जाती है, इस आग को इस तरह भड़काया जाता है कि दलित बुद्धिजीवियों के बीच मार्क्सवाद विरोध ने इस हद तक प्रचंड रूप धारण कर लिया है कि कई अत्यंत गहन और ईमानदार चिंतकों के जहन में भी शंका के बीज पड़ जाते हैं “*दरअसल, वामपंथियों की सबसे बड़ी समस्या डॉ. अम्बेडकर द्वारा धर्म को स्वीकार कर लेने की रही है वह भी बौद्ध धर्म को। उनकी दृष्टि में अगर डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म में बने रहकर जातिवाद के खिलाफ संघर्ष करते तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती है क्योंकि वे खुद हिन्दू धर्म में रहते हुए वर्ग-संघर्ष पर लंबी-चौड़ी बातें करते हैं तो दूसरी तरफ जातिबोध का विरोध करते हैं, पर वर्णव्यवस्था को मजबूत करने वाले ब्राह्मणवाद पर चुप्पी साधे रहते हैं। उन्हें भारत में सामंतवाद और पूंजीवाद तो दिखाई देता है पर सामंतवाद और पूंजीवाद से गठबंधन करने वाला ब्राह्मणवाद नहीं दिखाई देता।”*⁸

इस संदर्भ में यह बात रेखांकित करना आवश्यक हो जाता है कि न तो मार्क्सवादियों को धर्मपरिवर्तन के माध्यम से दलित-मुक्ति की कोई संभावना नजर आती है और न ही बाबा साहब का हिन्दू धर्म में बने रहने से उन्हें कोई खुशी हो सकती है। रही बात ब्राह्मणवाद पर चुप्पी साधने की, तो आदरणीय दलित चिंतक इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणवाद सामंतवाद का अभिन्न हिस्सा ही नहीं, बल्कि उसका आधार है और उन्हीं के शब्दों में “*सामंतवाद तो मार्क्सवादियों को दिखाई देता है।”*

उपरोक्त दलित-साहित्यकार तथा आलोचक जैसा संदर्श परिप्रेक्ष्य रखने वाले कंवल भारती भी कुछ इसी तरह की दलील देते हैं “*क्या कारण है कि मार्क्सवाद का सारा नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथों में आज भी है?*”⁹ इस तरह के तर्क हास्यास्पद

होने के सिवा और क्या हैं? भला यह बात किसे समझ में नहीं आती कि कुछ दशक पहले तक शिक्षा-दीक्षा पाने पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। अब उनमें से कुछ न्यायशील तत्व टूटकर यदि सर्वहारा आंदोलन से जुड़ते हैं तो इसमें कौन सी बुरी बात है?

इसी कड़ी में कुछ अन्य दलित साथी इक्का-दुक्का तथाकथित 'मार्क्सवादियों' के ब्राह्मणवादी व्यवहार के आधार पर समूचे मार्क्सवाद को लपेट लेते हैं। सूरज बड़त्या के अनुसार "कुछ वामपंथी विश्लेषक 'जाति' विमर्श को 'साम्राज्यवादी साजिश' का परिणाम... मानते हैं।" इनमें डॉ. अजय तिवारी का तर्क कुछ यूँ है "इन विमर्शों की आत्मा 'अनुभूति की प्रामाणिकता' के सिद्धांत में बसी हुई है जो वास्तव में एक पूंजीवादी विचारधारा है।"¹⁰

सवाल यह उठता है कि इस तरह से तोड़-मरोड़ कर पेश किए गए कथन के माध्यम से बड़त्या साहब क्या सिद्ध करना चाहते हैं? इस अंदाज में तथाकथित मार्क्सवादियों के कथनों को प्रस्तुत करने से क्या दलितों और मार्क्सवादियों के बीच खाई बढ़ेगी या घटेगी? ऐसी बातें किसके हित में हैं?

दूसरी ओर अशोक कुमार मार्क्सवादियों को अतिवादी लाठी से पीटते हैं

"सी.पी.आई., सी.पी.एम. के लिए मार्क्सवादी कठमुल्ला सूत्र भर हैं, इसलिए वे मार्क्स के मृत शब्दों को ढो जरूर रहे हैं, लेकिन उसकी जीती-जागती आत्मा की रोशनी को पकड़ नहीं रहे। वे... पूंजीपति वर्ग के एक हिस्से के संरक्षण में क्रांति करने की हद तक पतित हो चुके हैं।"¹¹

इस परिप्रेक्ष्य में अंबेडकरवाद और मार्क्सवाद में रहे मतभेदों पर नजर डालना उचित होगा। स्वयं बाबा साहब की कम्युनिस्टों के बारे में मान्यता थी "कम्युनिस्टों का ध्येय मूलतः अनुचित है, ऐसा हमें नहीं लगता। कम्युनिस्टों का ध्येय जैसा राष्ट्रीय स्वरूप का है वैसा ही सामाजिक और आर्थिक स्वरूप का भी है। परंतु पहले सामाजिक क्रांति के बावत लोगों के विचारों में क्रांति आनी चाहिए।"¹² बाबा साहब वामपंथ के विरोधी नहीं थे। उनके आधारभूत मुद्दों, यानी लक्ष्य या रणनीति (Stratgy) को लेकर मार्क्सवादियों से मतभेद नहीं थे। मतभेद मात्र रणकौशल यानी 'Tactics' को लेकर थे। डॉ. अंबेडकर ने समाजवादी दृष्टिकोण में निहित समझ कि आर्थिक शक्ति ही राजनीतिक व सामाजिक शक्ति का स्रोत है, की कटु आलोचना की थी। वे राजनैतिक एवं आर्थिक क्रांति से पहले सामाजिक क्रांति चाहते थे, जातियों को मिटाना चाहते थे। सवाल केवल इतना है कि जाति को कैसे मिटाया जाए? थॉमस मैथ्यू ने अपनी क्रांति प्रतीक अंबेडकर नामक पुस्तक में लिखा है कि डॉ. अंबेडकर ने यह तो माना था कि "सत्ता का अधिग्रहण अनिवार्यतः सर्वहारा के द्वारा ही होना चाहिए" पर डॉ. अंबेडकर इस बात पर आश्वस्त नहीं थे कि "भारत का सर्वहारा वर्ग इस क्रांति को लाने के लिए एक मत हो सकता है। भारत में

समानता एवं भ्रातृत्व सबसे जरूरी न्याय की अनुभूति से प्रेरित सर्वहारा का एक इस प्रकार का एकीकरण, जाति एवं वंश के आधार पर, असंख्य विभाजनों एवं भिन्नताओं के चलते असंभव प्रायः है। अतः व्यक्ति समानता एवं भ्रातृत्व की भावना जगाने के लिए जाति का उन्मूलन एक पूर्व शर्त है। यही मनुष्यों की समानता पर आधारित एक नए सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के निर्माण के लिए सर्वहारा वर्ग को कदम उठाने के लिए प्रेरित करेगी। भारतीय समाज में जाति एक वह महादानव है जो आप जिस भी दिशा में जाओ, वहीं आपका रास्ता काटता है। जब तक इस जाति रूपी महादानव का उन्मूलन नहीं किया जाता है, तब तक न तो राजनीति सुधार और नही आर्थिक सुधार संभव है।”¹³

बाबा साहब अंबेडकर का यह विचार दलित चिंतकों के दर्शन में बार-बार रेखांकित किया जाता है। डॉ. तेज सिंह ने अपने लेख **मार्क्सवाद और दलित-साहित्य** में लिखा है “मार्क्स ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले भारतीय समाज-व्यवस्था की जातिवादी संरचना को पहचान कर उसके विभेदकारी और अलगाववादी आदि नकारात्मक पहलुओं को उजागर किया था जबकि भारत के मार्क्सवादी आज भी अपनी घिसी-पिटी मान्यताओं से ही चिपके हुए हैं और बार-बार यही दोहराते हैं कि वर्णव्यवस्था भारत के सामाजिक विकास में कोई बाधा नहीं है।”¹⁴ इसलिए डॉ. तेज सिंह ने अपने इस लेख में डॉ. सी.बी. भारती की ‘जाति-विहीन वर्ग-विहीन समाज’ कविता की निम्नलिखित पंक्तियों को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि भारत के मार्क्सवादियों ने अपनी ‘यांत्रिक मार्क्सवादी समझ की वजह से जाति और वर्ग के द्वंदात्मक रिश्ते को उलझा दिया है “जातियां तोड़ती हैं मनुष्य को/ जातियां बोती हैं जहर दिलों में/ जातियां बुनती हैं असमानता” तो ‘वर्ग बनाते हैं स्तर/ पैदा करते हैं शोषक व शोषित।’ इसलिए दलित कवि दृढ़ संकल्प लेकर ऐसा बनाना चाहता है ‘जिसमें न हों जातियों/ न हों वर्ग।’ (आक्रोश)”¹⁵

डॉ. अंबेडकर और उनके बाद आने वाले दलित चिंतकों की इस अवधारणा को यदि हम स्वीकार भी कर लें तो प्रश्न यह उठता है कि जातिवाद का उन्मूलन कैसे होगा? डॉ. अंबेडकर के अनुसार यह लक्ष्य दो तरीकों से प्राप्त किया जा सकता है। पहला तो यह कि दलितों को जातिवाद पर आधारित हिन्दू धर्म को छोड़कर बुद्ध धर्म अपना लेना चाहिए। बाबा साहब ने महानिर्वाण से पहले ऐसा किया भी। उनके बाद उनके बहुत सारे अनुयायियों ने भी ऐसा ही किया। पर इससे क्या भारतीय समाज से जातिवाद का उन्मूलन हो गया? पिछले पचास वर्षों में अगर ईमानदारी से इस समस्या का मूल्यांकन करें तो स्वीकार करना पड़ेगा कि 1956 से लेकर 2009 तक जातिवाद के महादानव का कद घटने की बजाय बढ़ा ही है।

दूसरा रास्ता, जो बाबा साहब अंबेडकर ने सुझाया था, वह था अंतर्जातीय विवाह का। स्वयं बाबा साहब ने अंतर्जातीय विवाह किया था। उनके बाद और भी

बहुत सारे दलितों ने अंतर्जातीय विवाह किए। पर समस्या यह है कि बहुत बड़े पैमाने पर इस रास्ते पर नहीं चला जा सकता। अंतर्जातीय विवाह करना पूर्णतः दलितों पर निर्भर नहीं करता। एक बहुत बड़े पैमाने पर तय तभी हो सकेगा जब सवर्ण जातियों के लोग ऐसा करने के लिए राजी हो जाएंगे। ऐसा होना असंभव-सा लगता है। इसके सिवाय सभी अंतर्जातीय विवाहों के परिणाम बहुत अधिक सुखद नहीं रहे हैं। परिवारों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों में भिन्नता के कारण अक्सर ऐसे विवाह सफल नहीं होते। बहुत सारे दलितों ने तो स्वर्गीय बाबा साहब की पत्नी तक पर ब्राह्मणवादी होने का लांछन लगाया था। शरणकुमार लिंबाले के कहानी संग्रह 'देवता आदमी' में दिए गए 'अनुवादकीय आमुख : दलित कथा : व्यथा की कथा' में अंतर्जातीय विवाह के कथानक पर आधारित कहानियों के बारे में निशिकांत ठकार ने लिखा है "दलित साहब की सवर्ण पत्नी की संतान अपने को 'न घर का न घाट का' की स्थिति में पाती है। मां के घर की संस्कृति भिन्न है, पिता के माता-पिता इन्हें अपना नहीं मानते। इस खींचातानी में संतान को जिन यातनाओं से गुजरना पड़ता है, उनका अनुमान नहीं किया जा सकता है। यह 'लहरों के राजहंस' वाली अस्तित्ववादी अवस्था नहीं है। यह तो 'न घर का न घाट का' वाली अमानुषी वास्तविकता है।"¹⁶

भारत के मार्क्सवादियों ने यह भूल अवश्य की कि उन्होंने जातिवाद को वर्ग की समस्या के दायरे में मानकर वर्गहीन समाज बनाने के अपने लक्ष्य की प्राप्ति में ही इसका समाधान देखा। मार्क्सवादियों ने इस बात को नजरअंदाज कर दिया कि जातिवाद केवल भारतीय समाज में ही पाया जाता है और इसीलिए आवश्यकता यह थी कि जातिवाद के महादानव को एक विशेष समस्या मानकर इसके विरुद्ध खेत-खलिहानों, फैक्ट्रियों, बस्तियों और गांव-गांव में संघर्ष चलाते। पर उन्होंने गांव में इस समस्या का किसान आंदोलन के माध्यम से हल निकालने की कोशिश की तथा शहरों में मजदूर आंदोलन के तहत जातिवाद के खात्मे का रास्ता चुना। वैसे भी कम्युनिस्ट पार्टियों का किसान आंदोलन कमजोर ही रहा है। इसके तहत जातिवाद के खात्मे का रास्ता चुना। वैसे भी कम्युनिस्ट पार्टियों का किसान आंदोलन कमजोर ही रहा है। इसके तहत जातिवाद अभियान को चलाने में वाम दल पूरी तरह असफल रहे। कम्युनिस्टों की किसान आंदोलन मार्क्सवादी लेखन में भी साफ झलकती है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के दिग्गज बी.टी. रणदिवे को अपने लेख 'जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध' में भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के नायक बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी के दर्शन में जातिवादी पुनरुत्थान तो दिखाई दिया। उन्होंने तिलक को एक घोर ब्राह्मणवादी और गांधी को सनातनी हिन्दू सिद्ध करते हुए ज्योतिबा फूले के आंदोलन को पेशवा बाजीराव द्वितीय के घोर ब्राह्मणवादी शासन के विरुद्ध एक 'खुले युद्ध'¹⁷ की संज्ञा दी। बाबा साहब अंबेडकर के बारे में

रणदिवे ने लिखा “अछूतों के हितों के लिए अथक संघर्ष चलाने वाले महान योद्धा, अंबेडकर ने अपने शुरुआती दौर में सवर्णों के पाखंड का भंडाफोड़ किया था। कांग्रेस की अच्छी तरह खबर ली थी”¹⁸ रणदिवे ने आगे लिखा है “कांग्रेसी नेताओं और उनके पाखंड के खिलाफ, अंबेडकर जैसा तीखा तथा निरंतर आक्रमण किसी ने शायद ही किया हो। इसके बावजूद वह हमारे संविधान के प्रमुख निर्माताओं में से एक थे। यह वही संविधान है जिसे अभी तक कांग्रेस, लोकतंत्र का बेमिसाल नमूना कहकर उसकी तारीफ करते नहीं अघाती। यह वही संविधान है जिसके अंतर्गत अछूतों के घर जलाए जाते हैं, उनके घर लूटे जाते हैं, उनकी औरतों के साथ बलात्कार किया जाता है, उनकी हत्याएं होती हैं, अचरज की बात नहीं है अगर अंबेडकर को महसूस हुआ हो कि उन्हें धोखा दिया गया है।”¹⁹

पर रणदिवे की दलील में दम तब होता यदि मार्क्सवादी पार्टी दलित-समस्याओं को लेकर उसी तरह के संघर्ष चलाती जिस तरह का संघर्ष वह मजदूर वर्ग की समस्याओं को लेकर चलाती रही है। वी.टी. रणदिवे भी इस बात को मानते हैं “जो भी हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि किसी हद तक जातिवाद तथा सांप्रदायिकता के खिलाफ विचारधारात्मक संघर्ष की उपेक्षा होती रही है।”²⁰

रणदिवे ने आगे लिखा है कि “उनकी पार्टी ने इन समस्याओं को लेकर बड़े पैमाने पर जुझारू लड़ाई लड़ने का संकल्प किया है। पर वे सामाजिक-व्यवस्था में आमूलचूल बदलाव किए बगैर इस समस्या का अंतिम हल नहीं देखते।”

“जहां तक सी.पी.आइ. (एम) का सवाल है, उसने अपने अभी हाल के प्लेमन में, सामंती तथा अर्द्धसामंती विचारधाराओं के खिलाफ लड़ाई को फिर से बड़े पैमाने पर शुरू करने का फैसला किया है। इस तरह के संघर्ष के बिना तथा जातिवादी उत्पीड़न के खिलाफ आंदोलन के सक्रिय हस्तक्षेप के बिना, आर्थिक संघर्षों के बीच पैदा होने वाली आम चेतना को आगे नहीं ले जाया जा सकता। इस विचारधारात्मक संघर्ष को, भूमि संबंधों सहित, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल बदलाव की जरूरत के साथ तो जोड़ना ही पड़ेगा। इसके अलावा इस संघर्ष को तभी सफल बनाया जा सकता है जबकि आमतौर पर धर्म तथा खास तौर पर हिन्दू धर्म की सामाजिक आर्थिक भूमिका को ठीक तरह से मजदूर वर्ग के सामने रखा जाए। आज जाति व्यवस्था के खात्मे के सवाल को इस जमाने के उस मुख्य संघर्ष से अलग-थलग करके हिन्दू समाज के सुधार के सवाल की तरह पेश नहीं किया जा सकता जो कृषि-क्रांति का संघर्ष है, जो समाजवाद की ओर ले जाने वाले जनता के जनवादी राज्य की स्थापना का संघर्ष है।

हमारे दौर के मुख्य वर्ग संघर्ष को काटकर, जाति विरोधी संघर्ष चलाने की जितनी भी कोशिशें हुई हैं, नाकाम रही हैं और उनकी उपलब्धि बहुत ही अल्प रही है। यह एक बार फिर साबित हो गया है कि जाति विरोधी संघर्ष को अलग-थलग

करके नहीं चलाया जा सकता, इस संघर्ष को वर्तमान दौर के जनवादी आंदोलन तथा वर्ग-संघर्ष का हिस्सा बनाकर ही चलाना होगा। जाति पर आधारित असमानता और अन्याय आज आधुनिक वर्गीय अन्याय का अविभाज्य हिस्सा बन चुका है। इन अन्यायों के खत्म के लिए सारे शोषित तबको को, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, एकजुट होकर लड़ना होगा।”²¹

शायद इसी संदर्भ में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी अठारहवीं कांग्रेस में ‘दलितों के साथ भेदभाव और उनके उत्पीड़न के विरोध’ में अलग से एक प्रस्ताव पास करके दलित समस्या को अपने संघर्ष का केंद्र-बिंदु बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया है। यहां यह बात रेखांकित करने की आवश्यकता है कि पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा और केरल आदि प्रांतों में जहां वामपंथी सरकारें सत्ता में रही हैं अन्य प्रांतों के मुकाबले में दलित-उत्पीड़न की समस्या काफी हद तक कम हुई है। यह बात तो साफ है कि वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढांचे के चलते संपूर्ण दलित-मुक्ति संभव नहीं होगी। इस व्यवस्था को जड़ से उखाड़कर और इसके स्थान पर नई सामाजिक-व्यवस्था कायम करके ही जातिवाद के महादानव को दफन किया जा सकेगा।

जातिवाद हिन्दू धर्म का एक महत्वपूर्ण पहलू है। अतः सामाजिक और राजनीतिक क्रांति के माध्यम से धर्म को सामाजिक और राजनीतिक जीवन से निष्कासित करके ही जाति प्रथा को समाप्त किया जा सकता है। यहां सोवियत संघ और अन्य भूतपूर्व समाजवादी देशों का उदाहरण तर्कसंगत होगा। यद्यपि सोवियत संघ में समाजवाद का विकृत रूप ही था यानी स्तालिनवाद वास्तविक समाजवाद से कोसों दूर था। वह सरकारी पूंजीवाद से मिलता-जुलता था। फिर भी समाजवाद के सोवियत मॉडल में बहुत सारी बातें वास्तविक समाजवादी मॉडल की भी थी। धर्म के दबदबे को समूलतः मिटाकर उसे चर्च या मस्जिद की चाहरदीवारी तक सीमित करना समाजवाद की एक महान उपलब्धि थी। यह बात सर्वमान्य है कि सोवियत संघ के पतन से पहले सोवियत जनता के बीच धार्मिक आधार पर न किसी प्रकार का कोई तनाव था, न ही सामाजिक जीवन में किसी की कोई धार्मिक पहचान थी। यही बात भूतपूर्व यूगोस्लाविया पर भी लागू होती है परंतु समाजवादी ढांचे के पतन के बाद सांप्रदायिक महादानव ने सोवियत संघ के पूर्व राष्ट्रों के कोने-कोने में अपना दानवी सिर उठाना शुरू कर दिया। यूगोस्लाविया के टुकड़े-टुकड़े हो गए। वह ईसाई क्रोएशिया, सर्बिया तथा इस्लामिक हिरजेगवेना, कोसेवा और न जाने किन-किन धर्मों में बंट कर छिन्न-भिन्न हो गया। धर्म की यह विनाशकारी भूमिका हमारे देश में भी निर्बाध चल रही है। हिन्दू धर्म के दायरे में जातिवाद कम होने की बजाए दिनों दिन विकराल होता जा रहा है। इसका समूल विनाश समाजवादी-क्रांति के तहत ही संभव होगा। इसके बारे में किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए।

एक तरफ तो कई दलित-चिंतक बाबा साहब अंबेडकर और मार्क्सवादियों में कभी रहे मतभेदों को बार-बार उछाल कर अपने दुश्मन यानी जातिवादी, मनुवादी ताकतों की मदद कर रही। दूसरी तरफ वामपंथी ताकतें दलित-मुद्दे को मात्र वर्ग संघर्ष के दायरे में सीमित करके इस खतरनाक दानव का विनाश करने की अनिवार्यता को सही ढंग से समझ नहीं पा रही हैं। यहां यह बात रेखांकित करने की आवश्यकता है कि मनुवादी ताकतें अपने धिनौने खेल में न केवल संलग्न हैं बल्कि वे जुझारू तरीके से जातिवाद विरोधी ताकतों को तोड़ने में संघर्षशील हैं।

अब समय आ गया है जब दलितों और वामपंथियों की इस तथ्य की ओर आंखें खुलनी चाहिए कि वे स्वाभाविक साथी होकर भी एक-दूसरे को नष्ट करने में जुटे हैं, जबकि जातिवाद के पक्षधर एकजुट होकर जाति-प्रथा को यथावत बनाए रखने पर तुले हुए हैं। असल में आवश्यकता अंबेडकरवाद और मार्क्सवाद में समन्वय बनाने की है। महाराष्ट्र में कई दलित साहित्यकारों और चिंतकों ने इस तरह के समन्वयवाद का पुरजोर समर्थन किया है। उदाहरण के तौर पर डॉ. शरणकुमार लिंबाले ने *दलित-साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र* नामक पुस्तक में राव साहेब की 'अंबेडकर और मार्क्स' (1985), वि.स. जोग की 'मार्क्सवाद और दलित-साहित्य' (1985), शरद पाटील की 'अब्राह्मणी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' (1988) और सदा कव्हाड़े की 'मार्क्सवाद, बुद्धवाद और अंबेडकरवाद' (1992) आदि पुस्तकों में दलितों और मार्क्सवादियों के बीच झलकती समन्वय की पक्षधरता का विशेष रूप से उल्लेख किया है।²²

संदर्भ

1. शरण कुमार (लिंबाले), *अक्करमाशी*, नई दिल्ली, 1997, पृ. 28
2. बेचैन श्यौराजसिंह (डॉ.), *दलित क्रांति का साहित्य*, संगीता प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. 5-6
3. बेचैन, पृ. 13
4. बेचैन, पृ. 14
5. कर्दम जयप्रकाश (डॉ.), *इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन (साहित्य एवं समाज-चिंतन)*, पंकज पुस्तक मंदिर, दिल्ली, 2004, पृ. 53-54
6. कर्दम, पृ. 54
7. कर्दम, पृ. 55
8. तेजसिंह (डॉ.), *मार्क्सवाद और दलित-साहित्य*, 'पहल', सितंबर-नवंबर-2003, अंक-75
9. भारती कंवल, *दलित विमर्श की भूमिका*, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 21
10. बड़ल्या सूरज, *मार्क्सवाद और दलित-साहित्य के अंतःसंबंध*, 'दलित-साहित्य

- वार्षिकी', संदर्भ जयप्रकाश कर्दम, दिल्ली 2006, पृ. 64
11. अशोक कुमार, 'अंबेडकर और मार्क्स', *हरिजन से दलित*, (संपादन-राजकिशोर), वाणी प्रकाशन, 1995, पृ. 135
 12. बेचैन से उद्धृत, पृ. 14
 13. थॉमस मैथ्यू, *क्रांति प्रतीक अंबेडकर*, धम्म बुक्स, नई दिल्ली, 1994, पृ. 32
 14. तेजसिंह, पृ. 209-210
 15. तेजसिंह, पृ. 213
 16. ठकार निशिकांत, देखिये, शरणकुमार लिंबाले, *देवता आदमी*, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पृ. 16
 17. रणदिवे, बी.टी. 'जाति, वर्ग और संपत्ति के संबंध', *जाति क्यों नहीं जाती?*, संपादन : सुभाष चंद्र (डॉ.), उद्भावना प्रकाशन, 2005, पृ. 98
 18. रणदिवे, पृ. 103
 19. रणदिवे, पृ. 104
 20. रणदिवे, पृ. 105
 21. रणदिवे, पृ. 105-106
 22. लिंबाले शरणकुमार, *दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 70

अनुवाद : योगेश कुमार

डॉ. अंबेडकर एक पुनरावलोकन

थॉमस मैथ्यू

अम्बेडकर के विषय में बहुत सी भ्रांतियां व्याप्त हैं, विशेष रूप से, 'वर्ग-संघर्ष' तथा 'जाति-उन्मूलन' से संबद्ध उनके विचारों को लेकर। उनके जाति विरोधी संघर्ष को अक्सर 'वर्ग-संघर्ष' के मुकाबले में खड़ा किया जाता है। तर्क दिया जाता है कि मार्क्सवादियों का विश्वास 'वर्ग-संघर्ष' में है जबकि अंबेडकरवादियों का जाति-संघर्ष में। इसके साथ ऐसी सोच भी बन गई है मानों इन दोनों विचारधाराओं का संभव नहीं है। यह गलतफहमी वर्ग तथा जाति के विषय में व्याप्त गलत धारणाओं से उपजी है। 'वर्ग' तथा 'जाति' शब्दों का प्रयोग अलग-अलग जातियों तथा वर्गों को बताने के साथ-साथ वर्ग आधारित समाज तथा जाति व्यवस्था को समग्र रूप से इंगित करने के लिए भी होता है। अंबेडकर तथा मार्क्स ने जाति रहित एवं वर्ग विहीन समाज की कल्पना की थी। उनके विरोधी आम तौर पर तर्क देते हैं कि ऐसा समाज तो बस यूटोपिया ही है। वास्तव में उनका उद्देश्य जाति-व्यवस्था तथा वर्गों में विभाजित समाज-व्यवस्था का उन्मूलन था।

2. डॉ. अंबेडकर ने स्पष्ट रूप से गैर-ब्राह्मणवादी आंदोलन के भीतर के विभिन्न जाति समूहों के पारस्परिक विरोध तथा टकराव में अंतर करते हुए बताया कि गैर-ब्राह्मणवादी आंदोलन भारतीय परिपेक्ष्य में वर्ग-संघर्ष का द्योतक है और वर्ग-संघर्ष का उद्देश्य भारत में जाति प्रथा का अंत करना है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार वर्ग संघर्ष यानी विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में परस्पर विरोधी वर्गों के बीच संघर्ष इतिहास की दिशा तथा प्रगति को नियत करता है। वर्गों के भीतर मौजूद विभिन्न स्तरों में आपसी टकराव का स्वरूप आमतौर पर विरोधात्मक नहीं होता। अंबेडकर ने 'बौद्ध-धर्म' और 'ब्राह्मणवाद' के बीच खूनी संघर्ष को भारतीय इतिहास का आधार स्तम्भ बताया। मार्क्स ने कहा है कि दो विरोधी वर्गों का पारस्परिक संघर्ष मानव विकास को गति देने वाला प्रधान कारक है। ये विचार उस समय उपजे जब सामन्तवाद के गर्भ से जन्में पूंजीवाद ने औपनिवेशिक लूटमार को अपना आधार बनाया। अंबेडकर के सिद्धान्त प्राचीन काल से लेकर अब तक के

भारतीय समाज के लंबे विस्तृत अध्ययन करना होगा। श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के बीच जिन विरोधजन्य असंगतियों की मार्क्स ने बात की है, वह जीवित मजदूरों तथा मृत मजदूरों व मौजूदा एवं बीते समय के मजदूरों के बीच का अंतर्विरोध है। इस विचारधारा का मूल तत्व दो भिन्न विचारधारात्मक पद्धतियों अर्थात् पूंजीवादी मध्यम वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच अविरत संघर्ष है। यह वर्ग संघर्ष की वही सैद्धान्तिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है जिस पर माओ ने 'जी.पी.सी.आर.' में बल दिया है। अंबेडकर ब्राह्मणवाद और फासीवाद के बीच वैचारिक समानता को सामने लाये। उन्होंने सामाजिक विकासक्रम के संबंध में नीत्से के दर्शन तथा ब्राह्मणवादी सोच की साझा जड़ों का पर्दाफाश किया।

3. हम में से कुछ लोग कहा करते थे कि 'जाति' का एक सामाजिक श्रेणी है जबकि 'वर्ग' आर्थिक। एक दूसरे तर्क के अनुसार जाति एक अधिरचना (Superstructure) है तथा अर्थव्यवस्था आधारभूत ढांचा। यह भी दावा किया जाता था कि एक बार आर्थिक ढांचे के परिवर्तित होते ही जाति उत्पीड़न समाप्त हो जाएगा। ऐसी धारणाओं का खंडन करते हुए हमने कहा कि जाति केवल एक सामाजिक तथा धार्मिक मामला नहीं है अपितु आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक अर्थात् सामूहिक रूप से एक 'चहुमुखी' अथवा 'पंचमुखी' मामला है। हमारा यह भी तर्क है कि संपत्ति संबंध समाज का आधार है और भारत में जाति उस आधार को तय करती है, अतः यह कहना कि जाति एक अधिरचना है गैर मार्क्सवादी है। बहुत से मार्क्सवादी उक्त वक्तव्य को स्वीकार करते हैं परन्तु उनमें से बहुत से लोग जाति विरोधी तथा जाति व्यवस्था के अवशेषों के विरुद्ध संघर्ष को सामंतवाद विरोध का हिस्सा मानते हैं। सामान्यतः जाति-उत्पीड़न को मान्यता आरक्षण, जिसे दलित सशक्तिकरण के एक उपाय के रूप में देखा जाता है, के लिए समर्थन जुटाने के उद्देश्य से दी जाती है तथा 'भूमि भूमिहीनों के लिए' जैसे नारे यदा-कदा ही लगाये जाते हैं। गौरतलब बात यह है कि 'राजनैतिक सत्ता ही सामाजिक परिवर्तन की कुंजी है' की मार्क्सवादी उक्ति पर बल देने का श्रेय बहुजन आंदोलन को ही जाता है पर बहुजन की अवधारणा की गैर लचीली समझ के कारण आंदोलन का प्रभाव सीमित ही रहा। यह आंदोलन सैद्धांतिक आधार के अभाव तथा संसदीय लोकतंत्र से सावधान रहने की अंबेडकर द्वारा दी गई चेतावनी को सही तौर पर समझ नहीं पाने के कारण अपने रास्ते से डिगा भी। दुर्भाग्य से दलित बहुजन लोकतांत्रिक क्रांति की संकल्पना अपने नेताओं के हाथों ही ऐसे समय ध्वस्त हुई, जब देश को ब्राह्मणवादी फासीवादी शक्तियों की अब तक की सबसे बड़ी चुनौती का सामना करना था। अतः हमें भारत में वर्ग संघर्ष के विचार को 'बौद्ध धर्म' बनाम 'ब्राह्मणवाद' के परिदृश्य की सैद्धांतिक रूपरेखा से जोड़ कर विचारों को क्रांतिकारी रंग देना होगा। यहां अंबेडकर और माओ को मिलाकर देखना जरूरी है। अंबेडकरवादी

‘बौद्ध धर्म’ अभी भी एक प्रबल वैचारिक शक्ति है हालांकि इसे क्षति पहुंचाने के निरंतर प्रयास किए गए हैं। ब्राह्मणवादी फासीवाद तथा विश्व में उनके आकाओं के विरुद्ध अपने भीषण संघर्ष के दौरान ही हम समझ पाए कि अंबेडकरवादी बौद्ध धर्म फासीवादी शक्तियों की काट है। सैद्धान्तिक चिंतन-मनन के दौरान मैंने अनुमान किया कि वर्ग को परिभाषित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारक विचारधारा या मूल्य होता है न कि उत्पादन प्रक्रिया में आर्थिक स्थिति। मानव समाज द्वारा अस्तित्व के लिए आवश्यक संसाधनों के उत्पादन से संबंधित समस्याओं पर विजय प्राप्त करने के साथ यह और भी स्पष्ट होता जाता है। बुद्ध से अशोक तक शांतिवाद के संदेश तथा विचार और कल्पना की महत्ता बने रहने का श्रेय प्रकृति की समृद्धि के एक ऐसे स्तर पर पहुंच गया है, जहां मजदूर को उत्पादन पर वरीयता प्राप्त है और श्रम में बौद्धिक तथा मानसिक श्रम को ही वर्चस्व प्राप्त है। यहां फिर विचारों का संघर्ष वर्गों के बीच संघर्ष का मुख्य युद्धस्थल बन जाता है। समाज के इस मौलिक विभाजन के विषय पर डॉ. अंबेडकर तथा मार्क्सवादियों की विचारधारा एक सी है। उनकी अध्ययन पद्धति तार्किक रूप से भौतिकवादी थी। उन्होंने तार्किक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैश्विक दृष्टिकोण का समर्थन किया परन्तु भारतीय मार्क्सवादियों की कार्य पद्धति के विषय में उन्हें कुछ संदेह थे। उन्होंने स्वतंत्रता के पूर्व तथा पश्चात् मजदूर संघों की हड़तालों, भूमि संघर्षों यहां तक कि चुनावी मुकाबलों, संघर्षों में भी साम्यवादियों तथा समाजवादियों का सहयोग किया।

5. क्रांतिकारी परियोजना में वर्ग विश्लेषण की व्यावहारिकता के संबंध में डॉ. अंबेडकर कदाचित थोड़ा भिन्न दृष्टिकोण रखते थे। उनका दृष्टिकोण कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो के निकट जान पड़ता है, जिसमें धनी वर्ग के विरुद्ध निर्धनों को एकजुट करने का आह्वान किया गया है। उन्होंने शासक वर्ग और श्रमिक वर्ग के स्थान पर शासक वर्ग तथा शासित वर्ग की परिकल्पना दी। अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत उन्होंने मानवाधिकार, सांस्कृतिक अधिकार, भूमि, शिक्षा जैसे मुद्दों पर अस्पृश्यों तथा दलित वर्गों को संगठित करने से की। उन्होंने ‘इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी’ का गठन किया, जिसमें मुख्यतः श्रमिक, कृषक तथा मध्यम वर्गीय लोग शामिल थे। बाद में उन्होंने अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिसंघ तथा रिपब्लिकन पार्टी भी बनाई।

6. अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘व्हाट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू दी अनटूचैबल्स’ में उन्होंने लिखा है “ब्राह्मण वर्ग भारत का शासक वर्ग था पर ब्रिटिशों के आगमन के उपरांत ब्राह्मण वर्ग के परंपरागत सहयोगी क्षत्रिय वर्ग का स्थान बनियों ने ले लिया। उन्होंने शूद्रों तथा अछूतों को शासित वर्ग बताया तथा उन्हें इस विषय में कोई शंका नहीं थी कि शासन इसी वर्ग के हाथ में होगा। यह मूलतः मार्क्सवादी विचारधारा के

अनुरूप ही था।” यदि सांस्कृतिक सशक्तिकरण तथा ब्राह्मणवाद के विरुद्ध धार्मिक विद्रोह पर जोर देने वाले इस विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए देखें तो हमें एक ऐसी योजना का ज्ञान होता है जिसमें अंबेडकर ने क्रांति के प्रणेता के रूप एक ‘प्रबुद्ध भारत’ की कल्पना की थी। यहां पुनः प्रणेता वर्ग की परिभाषा एक विचारधारात्मक श्रेणी के रूप में सामने आती है, जिसमें जाति चेतना और देशभक्ति की भावना तिरोहित हो जाती है। यह भी बहस का विषय है कि सर्वहारा वर्ग की परिभाषा तकनीकी रूप से की जानी चाहिए या विचारधारात्मक आधार पर। यहां तकनीकी परिभाषा के विषय में भी प्रश्न है कि संसार में किन-किन वर्गों को सर्वहारा वर्ग का हिस्सा होना चाहिए तथा उनमें से किसे इस वर्ग की अगुवाई करनी चाहिए। यह प्रश्न अप्रासंगिक भी हो सकता है क्योंकि साम्यवादी आंदोलन विश्व भर के सभी मजदूरों की एकता का दृष्टिकोण रखता है।

7. शासक वर्ग की परिभाषा देने की बात बहुतों को अनुचित लग सकती है। अंबेडकर ने अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए *ब्रिटिश शासन के अंतर्गत प्रादेशिक विधान परिषद् में 1930 के दशक के आखिरी बरसों में सत्तारूढ़ कांग्रेसी नेताओं की जातियों एवं वर्गों को उदाहरण के रूप में इस्तेमाल किया*। स्वतंत्रता के बाद के अनुभवों ने उनके विचार की पुष्टि ही की। उत्तर-वैश्वीकरण युग ने भी शासक वर्ग तथा फासीवादियों के बीच के वैचारिक साम्य को उजागर किया। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि एक जाति अथवा वर्ग को शासक वर्ग की श्रेणी में कैसे रखा जा सकता है। इसका उत्तर शायद यह हो सकता है कि भारतीय लोग वर्गों के स्वरूप को साम्यवादियों द्वारा प्रयुक्त अन्य किसी शब्द से अधिक इसी रूप में अधिक आसानी से समझ पाते हैं। इससे एक विचारधारा के रूप में वर्ग की संकल्पना की भी पुष्टि मिली। दिलचस्प बात यह है कि मार्क्स ने अपने लेखों में ब्राह्मणों तथा बनियों के बारे में भी लिखा है। अंबेडकर ने इन दोनों वर्गों के स्वभाव का गहन विश्लेषण किया।

8. क्लासिकी मार्क्सवादी सिद्धांतों में राष्ट्रीय लोकतांत्रिक, जन लोकतांत्रिक तथा नव लोकतांत्रिक गठबन्धनों की संकल्पनाओं का उल्लेख है। मौटे तौर पर जिन वर्गों का उल्लेख किया गया उनमें बुर्जुआ वर्ग, मजदूर वर्ग, किसान वर्ग तथा निम्न बुर्जुआ वर्ग आते हैं परन्तु समस्या यह है कि वर्गों का निर्माण क्लासिकी सिद्धांतों के अनुरूप नहीं होता रहा है। इसके बजाय, वर्गों की संख्या में वृद्धि न केवल अखिल भारतीय पैमाने पर हुई बल्कि क्षेत्रीय स्तर के साथ-साथ अलग-अलग जातियों तथा समुदायों के भीतर भी हुई। सवाल उठता है कि आज भारत में हमें मुख्य रूप से किस क्षेत्र में या स्तर पर वर्ग-संघर्ष पर अधिक बल देना चाहिए। यह मजदूर-वर्ग तथा राज्य के बीच हो या भारत राष्ट्र तथा साम्राज्यवाद अथवा बहुजन समाज तथा ब्राह्मणवादी राज्य के मध्य? बहुजन जनता तथा मजदूर लोगों के बीच कोई खास अंतर नहीं है। उनके तथा राज्य के मध्य गहरे मतभेद भी हैं।

यह भी समस्या है कि राज्य को किसकी ओर रखा जाए लोगों की तरफ या साम्राज्यवादियों के पक्ष में? इस विषय में भारत राष्ट्र के बारे में सवाल खड़े हुए हैं। कुछ सिद्धांतों के बारे में हमने भी विचार किया है परंतु आज जब वैश्वीकरण ने पहले ही भारत को एक वैश्विक राष्ट्र बना दिया है, तो उन सिद्धांतों की कोई प्रासंगिकता नहीं रह जाती। आज वैश्वीकरण की नीतियां बहुत महत्वपूर्ण हो गई हैं। दुर्भाग्यवश अभी तक हम विश्व को बांटकर उस पर शासन करने के साम्राज्यवादी छल-प्रपंचों को नहीं समझ पाए हैं। जहां इस्लामी प्रतिरोध खासकर 'अरब राष्ट्रवाद' साम्राज्यवादियों के लिए एक मुख्य चुनौती है, वहीं हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष साम्राज्यवादी नीति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। दलित-बहुजनों पर ब्राह्मणों का आधिपत्य भी उनकी मुख्य योजना का एक अंग है। कारपोरेट गैर सरकारी संगठनों के अलावा दलाई लामा का बौद्ध धर्म तथा जापानी पूंजीवाद दलितों तथा कामगार वर्ग को मिलाने की तिकड़म में लगे हैं जिसका खास मकसद फासीवाद तथा साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के प्रतिरोध को भोथरा करना है।

9. बाबरी मस्जिद के विध्वंस तथा गुजरात जनसंहार के बाद भी हम समाज को तोड़ने वाले साम्राज्यवादियों के षड्यंत्र को नहीं समझ पाए हैं। हरियाणा के झज्जर में मारे गए पांच दलित मजदूर ही थे जिनके परंपरागत व्यवसायों को आधुनिक पूंजी निगलती जा रही है। दलितों एवं ईसाइयों पर हमले मुसलमानों का साथ न देने के लिए दी गई चेतावनी है। गुजरात में तथ्यों के विपरीत यह प्रचार किया गया कि दलितों ने मुस्लिमों पर हमला किया। ग्रामीण भारत में नियोजित ढंग से निर्धन वर्गों की दुर्गति तथा विनाश साम्राज्यवादियों का निर्धनों के संसाधनों पर अधिकार करके उनको समाप्त करने का पैतरा है। क्या हमारे पास इस परिस्थिति का सामना करने के लिए रणनीति है?

10. डॉ. अंबेडकर का नारा था शिक्षित बनो, संगठित हो तथा संघर्ष करो। अधिकतर दलित राज्य के सहयोग तथा अन्य विभिन्न योजनाओं की सहायता से शिक्षा प्राप्त करते हैं। अब वैश्वीकरण के कारण सभी परंपरागत व्यवसाय तथा सरकारी नौकरियां घटती जा रही हैं। यदि जाति निर्माण एक प्रकार लोगों को सामाजिक रूप से नपुंसक बनाना था तो वैश्वीकरण दलित तथा कामगार जनता की सामाजिक उपेक्षा का रास्ता इसलिए बिना संघर्ष और संगठन के शिक्षा अर्थहीन हो जाती है। डॉ. अंबेडकर ने किस प्रकार के संगठन की बात की थी? निश्चित रूप से उन्होंने मात्र ट्रेड यूनियनों तथा कल्याण संस्थाओं की ही बात नहीं कही थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से राजनीतिक संगठन द्वारा राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य दिया। गांधी एवं कांग्रेस के विषय पर उनकी पुस्तक में इस आशय का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है। अछूतों के उत्थान के बारे में गांधीवादी परिपाटी को उन्होंने सिर से अस्वीकार कर दिया।

उन्होंने स्पष्ट किया कि स्थिति की विकटता को शांत करने से कुछ नहीं होगा। उनके अनुसार आवश्यकता है इन लोगों के सशक्तिकरण एवं मुक्ति की। उन्होंने आगे कहा कि उनके विश्लेषण में कांग्रेस 'मनुवाद' का प्रतिनिधित्व करती है जो देश को प्रगति की ओर नहीं ले जा सकता। उनको उससे भी अधिक इसका डर था कि यदि ब्रिटिशों ने बिना सावधानी बरते सत्ता की सुपुर्दगी की तो कांग्रेस कहीं देश को फिर से पीछे की ओर न धकेल दे।

11. डॉ. अंबेडकर ने अखिल भारतीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति परिसंघ की ओर से जो संविधान प्रस्ताव भेजे थे उनमें से कुछ प्रस्ताव बहुत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि देश की संपूर्ण खेती योग्य भूमि को राष्ट्रीयकृत किया जाए और सरकार भूमिहीन किसानों को यह भूमि पट्टे पर दे। उन्होंने आधारभूत तथा महत्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का भी प्रस्ताव किया तथा साथ ही जनता के कल्याण और विकास में सरकार द्वारा सार्थक योगदान दिये जाने की वकालत की। वस्तुतः वे राज्य-समाजवाद के समर्थक थे। वे उत्पादन के साधनों पर समाज के स्वामित्व के दृढ़ समर्थक थे। डॉ. अंबेडकर नीति निर्देशक सिद्धांतों को मौलिक अधिकारों में शामिल करवाना चाहते थे। उन्होंने राष्ट्रीयकृत उद्योगों को मुआवजा दिये जाने के लिए संविधान में संशोधन किए जाने का पुरजोर विरोध किया। संविधान में अस्पृश्यता उन्मूलन, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित-जातियों तथा अनुसूचित-जनजातियों के लिए विशेष प्रावधानों को जोड़ा गया।

12. संविधान में उनके हितों की सुरक्षा से संबंधित जितने भी प्रावधान वे करवा पाए उन सबके बावजूद परवर्ती घटनाओं ने उनकी सभी चिंताओं को सही ठहराया है। मजदूरों की एक रैली को संबोधित करते समय उन्होंने सतर्क किया था कि संसदीय लोकतंत्र औद्योगिक तथा व्यापारिक घरानों द्वारा एक प्रकार की तानाशाही है। उन्होंने श्रमिकों को 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' पढ़ने की सलाह भी दी थी तथा 'सर्वहारा तानाशाही' को भी एक सीमित समय तक कम से कम लोकतंत्र के सुचारू परिचालन के सुनिश्चित होने तक, बनाए रखने का समर्थन किया। उनके अनुसार तानाशाही अनिश्चितकाल तक जारी नहीं रह सकती। वे कहते थे कि लोकतंत्र व समाजवाद के दीर्घकालीन अस्तित्व को निश्चित करने का केवल एक ही मार्ग है कि समाजवादी आंदोलन का तार्किक भौतिकवादी मुहिम में बौद्ध धर्म के मैत्री के सिद्धांत का समावेश किया जाए। उनके विचारों को यदि माओवादी-मूल्यों एवं आध्यात्मिक-प्रोत्साहन की संकल्पनाओं से जोड़ कर देखा जाए तो उनके द्वारा की गई आलोचनाओं का सभी क्रांतिकारी वर्ग स्वागत करेंगे।

13. मैं अंबेडकर द्वारा स्थापित परिपाटियों और उनकी उपलब्धियों के प्रमुख पहलुओं का संक्षिप्ततः उल्लेख करना चाहूंगा जो आज अत्यधिक प्रासंगिक हैं

(क) सामान्य रूप से धर्म तथा विशेष रूप से ब्राह्मणवाद की आलोचना।

अंबेडकरवाद तथा मार्क्सवाद में समन्वय की संभावनाएं 237

इसमें उनके दर्शन की आलोचना भी शामिल है। अंबेडकर मार्क्स के उद्धरणों का समर्थन करते हुए कहते हैं कि “दर्शनशास्त्र का उद्देश्य विश्व की व्याख्या मात्र न होकर विश्व परिवर्तन होना बेहद जरूरी है। वे आगे कहते हैं कि दर्शनशास्त्र का संबंध सत्य से है परंतु धर्म का संबंध प्रेम से भी है। वे विश्व बंधुत्व पर जोर देने वाले सर्वमुक्तिवादी धर्मों की चर्चा करते हैं पर हिन्दू धर्म को इस परिभाषा से बाहर रखते हैं। उन्होंने ब्राह्मणवाद की तीव्र, विस्तृत विशिष्ट तथा मुखर आलोचना तथा भर्त्सना की है जिसका उल्लेख करना यहां जरूरी नहीं है।” प्रेम व सत्य को एक ही सिक्के के दो पहलू मान कर तथा प्रेम को सत्य तथा ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग मानते हुए, गांधीजी ने हिन्दुत्व का एक सार्विक तथा धर्मनिरपेक्ष रूप प्रस्तुत किया।

- (ख) ‘बौद्ध धर्म’ तथा ‘ब्राह्मणवाद’ का खूनी-संघर्ष भारतीय इतिहास का मूल तथ्य है।
- (ग) सार्वजनिक जलाशयों से पेयजल के लिए अछूतों के अधिकारों की प्राप्ति हेतु ‘बहिष्कृत हितकारिणी सभा’ का गठन ‘चादर टैक आंदोलन’ तथा ‘महाद’ सत्याग्रह। कालाराम मंदिर में अछूतों के प्रवेश हेतु नासिक में सत्याग्रह।
- (घ) पूना पैक्ट में हिन्दुओं तथा अछूतों के लिए साझे चुनाव क्षेत्र बनाने पर सहमति।
- (ङ) इंडिपेन्डेंट लैबर पार्टी का निर्माण, जिसमें मुख्यतः मजदूर, किसान तथा मध्य वर्गों के लोग शामिल थे।
- (च) साम्यवादियों तथा समाजवादियों के साथ मिलकर बम्बई में संयुक्त ट्रेड यूनियन संघर्ष।
- (छ) ‘आल इंडिया शैड्यूल्ड कास्ट फ़ेडरेशन’ का गठन।
- (ज) मजदूरों की ओर से सदस्य के रूप में वायसरॉय की कार्यकारिणी समिति की सभा में भाग लेना।
- (झ) कांग्रेस के भारतीय शासक वर्ग के रूप में वर्ग चरित्र तथा विचारधारा का विश्लेषण।
- (ट) ‘आल इंडिया शैड्यूल्ड कास्ट फ़ेडरेशन’ की ओर से संविधान सभा में संविधान के मसौदे का प्रस्तुतीकरण जिसमें भूमि तथा प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के साथ ‘राज्य समाजवाद’ का भी प्रस्ताव किया गया था।
- (ठ) मद्रास में पेरियार के साथ मुस्लिम-लीग के सम्मेलन में भाग लेना।
- (ड) मुस्लिम लीग के सहयोग से ‘आल इंडिया शैड्यूल्ड कास्ट फ़ेडरेशन’

- के प्रतिनिधि के रूप में संविधान सभा में सम्मिलित होना।
- (ढ) कांग्रेस के सहयोग से बम्बई से संविधान सभा के लिए पुनः निर्वाचित होना तथा प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में कार्य करना।
 - (ण) कानून मंत्री के रूप में कार्यभार संभालना तथा संविधान प्रस्तुत करना।
 - (त) हिन्दू संहिता बिल का मसौदा तैयार करना तथा नेहरू कांग्रेस तथा हिन्दू महासभा द्वारा सहयोग न मिलने पर मंत्री पद से त्याग पत्र।
 - (थ) समाजवादियों तथा साम्यवादियों के साथ मिलकर संयुक्त रूप से चुनाव लड़ना।
 - (द) सन् 1956 में महाराष्ट्र के नागपुर में लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म को अपनाना।
 - (ध) रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया का गठन।

14. संक्षेप में कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी आंदोलन तथा डॉ. अंबेडकर द्वारा अपने जीवन भर चलाए गए आंदोलनों की कार्य-शैली व रणनीति में कोई बहुत अधिक अंतर नहीं है। एक प्रश्न बार-बार पूछा जाता है कि अंबेडकर ने धार्मिक पंथ क्यों अपनाया, वह भी ऐसे धार्मिक देश में जहां घोर अंधविश्वास और भाग्यवाद व्याप्त है। इसका जवाब यह है कि अंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्म को अपनाना सबसे विद्वेषपूर्ण धर्मों में से एक, यानी हिन्दू धर्म के दुष्प्रभावों की काट करने के लिए था जो कि भारतीय क्रांति के लिए न केवल आवश्यक था कि बल्कि अनिवार्य भी था। दूसरे अंबेडकरवाद को एक अधिरचनात्मक व्यवस्था में जाति के विरोध में संचालित आंदोलन भी कहा जाता है, साथ ही यह भी सत्य है कि बहुत से स्व-घोषित अंबेडकरवादियों ने अंबेडकर की महान विरासत को हास्यास्पद स्तर तक गिरा दिया है किंतु मूल वर्ग के भूमि-संघर्षों पर जोर नहीं दिए जाने के कारण मार्क्सवादी आंदोलन को भी क्षति हुई है। यह सत्य है कि उग्र वामपंथ ने भूमि संघर्षों को शीर्ष प्राथमिकता दी है लेकिन उन्होंने शायद वर्ग संघर्ष में अन्य पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अतिवादियों ने सशस्त्र संघर्ष को उच्च प्राथमिकता देते हुए वैचारिक संघर्ष की तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जो कि विशेषकर **ब्राह्मणवादी फासीवाद** की वर्तमान अवस्था को देखते हुए महत्वपूर्ण है।

15. विशेषकर जब हमारी अर्थव्यवस्था, राजशासन तथा समाज सभी विकराल संकट का सामना कर रहे हैं, मैं देश के भीतर कृषिक संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन के विशेष महत्व की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए अपनी बात समाप्त करना चाहूंगा। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने जिसके हाथों हम लंबे समय से यातना झेलते रहे हैं, विश्व भर के फासीवादियों के साथ रणनीति के तहत समझौता कर लिया है, जिससे मानव सभ्यता के विनाश का खतरा उत्पन्न हो गया है। आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से उपेक्षित दलित बहुजनों के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक सशक्तिकरण

के बिना क्या भारत मानवता के समक्ष खड़ी इस चुनौती का सामना कर पायेगा? चाहे संगठित व शिक्षित लोग यह न मानें पर क्या भारत तथा संसार के अविकसित हिस्सों का पुनः औपनिवेशीकरण नहीं हो गया है? शासक वर्ग अपनी पुरानी रूढ़ि को अपना रहा है, इसलिए हमें भी अपने मौलिक शक्तियों को परिष्कृत करने की आवश्यकता है। कृषिक क्रांति के बिना भारत में कोई लोकतांत्रिक क्रांति संभव नहीं है। कृषिक क्रांति का ध्येय न केवल खेतिहरों के लिए भूमि बल्कि विशेष रूप से भूमिहीन दलितों, जो सदियों से किसी भी अधिकार तथा संपत्ति से वंचित रहे हैं, उनके लिए भूमि जुटाना भी है। क्या क्रांतिकारी परिवर्तन के बिना विशाल जन समुदायों को शिक्षित करके अर्थपूर्ण जीवन प्रदान करना संभव है? हमें अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि अंबेडकर ने भूमि के राष्ट्रीयकरण तथा कृषकों को भूमि पट्टे पर दिये जाने का सुझाव दिया था। कुछ ऐसा ही चीन में हो रहा है। जब मैंने जमीन के सामूहिक स्वामित्व को भारत की प्रगति का एकमात्र मार्ग कहा तो मेरे मित्रों ने पूछा क्या आप सोचते हो ऐसा भारत में संभव है? हां यही भारत की समस्या है। हिन्दुस्तान दलितों को भूमि नहीं दे सकता। भूमिहीन होने के कारण दलितों को अछूत माना जाता था या अछूत माने जाने की वजह से वे भूमिहीन रहे? दलितों को भूमि नहीं दी जा सकती क्योंकि यह हिन्दुस्तान है यहां दलितों को भूमि नहीं दी जाती? यह दुष्चक्र अब ध्वस्त होना चाहिए। इस गतिरोध को कौन समाप्त करेगा? शहीद भगत सिंह ने कहा था कि वास्तव में अछूत ही सर्वहारा है। भूमि, लोकतंत्र, राजनीतिक अधिकार तथा समाजवाद लाने के लिए क्रांतिकारी संघर्ष हमारी रणनीति को परिभाषित करेगा। **‘भूमिहीन दलितों के लिए भूमि’** दलित सशक्तिकरण का मुख्य नारा होना चाहिए। साम्राज्यवाद तथा इसके ब्राह्मणवादी फासिस्ट सहयोगियों के प्रतिरोध का आधार केवल अंबेडकर एवं माओ की विचारधारा वाली एक सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के द्वारा ही बन पाएगा। दलित जनता को अपने सुप्रभाव में लेने वाली अंबेडकरवादी विचारधारा अब तेजी से एक प्रमुख शक्ति बनती जा रही है।

इतिहास एवं राजनीति दर्शन

निर्गुण सन्तों की वाणी : सामाजिक क्रांति

डॉ. तेजस्वी कुट्टीमणी

वर्णाश्रम धर्म की क्रूर एवं जड़ व्यवस्था होने के कारण अपमानित निम्न जाति के लोग विद्रोह के कई रास्ते ढूंढने लगे। इतिहास में पीछे जाएं तो आठवीं शताब्दी के बाद विद्रोह की यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है।

इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत के बरसों में खड़े होकर भारतीय इतिहास को एक बार मुड़कर देखने से हमें निम्न जातियों के तीन विभिन्न प्रकार के विद्रोह दिखाई पड़ते हैं। इन्हें निम्न जाति के विद्रोह कहना भी समीचीन नहीं होगा क्योंकि केवल सामाजिक अपमान के कारण ही ये विद्रोह नहीं हुए। इन विद्रोहों में सूक्ष्म आध्यात्मिक कारणों के चलते भी जाति-व्यवस्था के खिलाफ उच्च जाति के लोगों ने भाग लिया है।

मनुष्य के मन में क्रांति का स्रोत कहां से शुरू होता है, यह जानना बड़ा विस्मयकारी है। यह सच है कि अन्न एवं वस्त्र के अभाव में मनुष्य मृग की तरह व्यवस्था को तहस-नहस कर देता है। भौतिक शोषण के विश्लेषण-क्रम भी यही कहते हैं। शोषण की ऐसी व्यवस्थाओं को वैज्ञानिक रूप से विश्लेषित करना ही मार्क्सवाद की विशेषता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण है-इतिहास विकासमान है; मनुष्य 'रोटी कपड़ा और मकान' की समस्याओं हेतु विद्रोह करता है। मानव के मूर्त जीवन में होने या नियंत्रित होने वाले अमूर्त आदर्श ही वैज्ञानिक समाजवाद है।

बावजूद इस सबके यह भी सच है कि सीधा रोटी-कपड़े से संबंध न रखने वाले तत्व भी मनुष्य को विद्रोह करने हेतु प्रेरित करते हैं। निम्न स्तर के लोगों की गरीबी, आर्थिक विपन्नता के कारण जिस तरह उनकी जिंदगी असहनीय होती है, उसी तरह प्रतिष्ठित, आर्थिक संपन्न, सुविधाओं से ओतप्रोत लोग भी मानसिक रूप से दमघोंटू स्थिति को महसूस करते हैं; यही क्रांति की पूर्वस्थिति है। इसी कारण से बुद्ध, बसवेश्वर, कबीरदास, रैदास, कनकदास, गांधी, कार्लमार्क्स, ज्योतिबा फुले, गाडगेबाबा, नारायण गुरु, स्वामी अछूतानंद हरिहर, शाहू महाराज जैसे लोग विद्रोही कहलाये। स्पष्ट है कि अमूर्त आध्यात्मिक कारणों से भी लोग विद्रोही होते हैं।

मध्यकालीन भारत के भक्ति-पंथ के विद्रोह की सामान्य रूप से भक्ति-आंदोलन

के रूप में व्याख्या की जाती है। भक्ति-पंथ के संत एवं कवि सभी निर्गुण भक्ति पंथ के थे। उन दिनों दलित एवं शूद्र संत मंदिर प्रवेश से वंचित थे। भारत के इतिहास में भक्ति के कारण मध्यकाल का विशेष उल्लेख रहा है। यह काल भारतीय समाज में काफी उथल-पुथल का रहा है। विख्यात विचारवादी डॉ. धर्मवीर के अनुसार इस उथल-पुथल का कारण इस्लाम के रूप में विदेशी प्रभाव था। इस्लाम धीरे-धीरे उस समय उत्तर भारत से चलकर सारे भारत को प्रभावित करता चला गया था। जब भी कोई विदेशी असर, जिसे हमेशा विदेशी आक्रमण नहीं कहा जाना चाहिए, इस देश के समाज पर पड़ता है तो शूद्र और स्त्रियां सबसे पहले प्रभावित होते हैं। तब प्रस्थापित वर्ण-व्यवस्था पर चोट पड़ने लगती है।

भक्तिकाल को हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है। इसमें सगुण और निर्गुण दो अलग भक्ति-धाराएं मुखरित हुई हैं। मध्यकालीन इतिहास में दलित जातियों से निर्गुणी संतों का जन्म लेने की घटना, को देशी क्रांति का हिस्सा माना गया है। दलित और गैर-दलित समाज में अनेक संतों ने इसी काल में जन्म लिया था।

तब दलित जातियों के लिए धन, सम्मान और समानता प्राप्त करने की मनाही थी। इस मनाही के विस्तार में आध्यात्मिकता भी आ गई अर्थात् दलितों के लिए ईश्वर की भक्ति भी वर्जित कर दी गयी। ईश्वर, भक्ति और मंदिर ये तीनों उच्च जातियों की प्रतिष्ठा के हिस्से थे। दलित जातियों के संतों ने समाज और आध्यात्म के दोनों स्तरों पर अपना संघर्ष जारी रखा। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र दिलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया, साथ ही श्रम और श्रमिक को प्रतिष्ठा दिलाई।

बीसवीं शताब्दी के कन्नड़ साहित्य में **बसवेश्वर**, **अल्लमप्रभु**, **अक्कमहादेवी**, **मादार चेन्नय्या**, **अंबिगर चौडय्या**, **समगार हरल या**, **वेश्या संकव्या** आदि समाज के विविध स्तर के संत थे। **बसवेश्वर** ने बिज्जल राजा के यहां मंत्री का काम करते हुए अपनी भक्ति की साधना की। **अंबिगर चौडय्या** मल्लाह थे। नाव चलाते हुए भी वे भक्ति की साधना में आगे थे। मादार चेन्नय्या गांव में मरे हुए गाय-भैंसों की चमड़ी उतार और बेचकर अपनी जीविका चलाते थे एवं भगवान के चिंतन में रहते थे। **बसवेश्वर** मादार चेन्नय्या को ही अपने मानसिक पिता मानते थे। **समगार हरलया** पेशे से मोची थे। मोची का काम करते-करते वे भगवान के ध्यान में अपना समय गुजारते थे। **संकव्यान** ने एक वेश्या होते हुए भी अपनी भक्ति के कारण 'अनुभव मंटम' में एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। **बसवेश्वर** के भक्ति-आंदोलन का मूल मंत्र था 'कायक ही कैलास' है, श्रम और श्रमिक को बड़ा समझकर, सामाजिक क्षेत्र में उसको प्रतिष्ठित करने का यह एक अनोखा उदाहरण है, इसलिए इस भक्ति-आंदोलन को 'श्रमिकों का भक्ति आंदोलन' भी कहा गया है। पन्द्रहवीं शताब्दी के संत कबीरदास स्वयं एक बहुत बड़े संत होने

के बावजूद भी जुलाहे का काम करके अपना जीवन बिताते थे। **कबीर** के समकालीन तथा शिष्य संत **रविदास** मोची का काम करते थे और निर्गुण भक्ति साधना में एक उच्च स्तर के संत भी थे। महाराष्ट्र के **ज्योतिबा फुले** मूलतः माली थे। **गाडगे बाबा** ने धोबी का काम करते हुए, महाराष्ट्र के दलितों में सदियों से प्रचलित अंधविश्वासों को निकाल फेंकने का काम किया, भगवान के नाम पर प्राणियों की बलि का खंडन किया तथा दलितों में व्याप्त शराब पीने की आदत को छोड़ने का आग्रह किया। **ज्योतिबा फुले** और **गाडगे बाबा** ने भगवान के अस्तित्व को कभी नहीं नकारा लेकिन दलितों के लिए मंदिर प्रवेश के निराकरण पर बड़े क्रोधित थे। 'ईलव' जाति में जन्म करल का शूद्र गुरु 'नारायण गुरु' ने शूद्रों के मंदिर प्रवेश के लिए कई सामाजिक लड़ाइयां लड़ीं। अंत में स्वयं उन्होंने कुछ ऐसे मंदिरों का निर्माण करवाया, जिनमें भगवान की मूर्ति न होकर उसकी जगह केवल एक दर्पण होता था, जिसमें भक्त अपनी छवि देख सकते थे, भक्त को भगवान के रूप में प्रतिष्ठित करने का यह एक क्रांतिकारी कदम कहा जा सकता है।

लेकिन उच्च वर्ण के संतों की जीवन शैली को देखने से हमें बड़ा दुःख होता है क्योंकि उच्च वर्ण के संत स्वयं मंदिरों में ही वास करते थे, उनका पालन-पोषण मंदिरों की ओर से होता था। उनकी भक्ति ने एक संस्था का रूप ले लिया था जबकि दलित संतों को मंदिर प्रवेश से रोका गया था, इसलिए मजबूर होकर वे भगवान के निर्गुण तत्व की पूजा करने लगे। इस तरह उच्च वर्ण के संतों का आध्यात्मिक केंद्र बिन्दु काशी के मंदिर थे, तो शूद्रों के लिए 'मन ही मंदिर' हो गये थे। उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में उड़ीसा में शूद्र लोगों द्वारा 'महिमा धर्म' की स्थापना इन्हीं कारणों से की गई। शूद्र जाति में जन्मे 'महिमा स्वामी' ने 'महिमा' धर्म की स्थापना की। सर्वव्यापि, आकार रहित, वाणी से परे भगवान के अस्तित्व का प्रतिपादन किया गया। **महिमा धर्म** ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया। जाति-भेद एवं राजा-प्रजा के विभेद को भी उन्होंने नकार दिया। इस पथ में सब लोगों का स्वागत था। उड़ीसा के निम्न जाति, अस्पृश्य और आदिवासियों के बीच में **महिमा धर्म** बहुत जल्दी लोकप्रिय हो गया। इसका कारण एक यह भी था कि मध्यकाल के **भक्ति-पंथ** ने उड़ीसा और असम के आदिवासियों को अपने **लोकदेव** से अलग कर दिया था। आदिवासियों के सांस्कृतिक लोक का संस्कृतिकरण करने की इस प्रक्रिया ने आदिवासियों को नया भगवान, नया आचरण, नया विश्वास अपनाना पड़ा था। **महिमा पंथ** की स्थापना द्वारा अस्पृश्य एवं आदिवासियों को दुबारा अपने **आदिदेव**, प्राकृतिक देवी-देवताओं के पास वापिस जाने का मौका मिल गया। सन् 1816 में पश्चिम उड़ीसा में **महिमा पंथ** की स्थापना हुई। इस धर्म के स्थापकों में आदिवासी कवि **भीमा बोई** प्रमुख हैं।

यह एक कवि था और अंधा था। महिमा धर्म स्वामी के शिष्यों में प्रमुख था। भीमा बोई के कारण महिमा पंथ का व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ और उन्होंने पंथ की सही व्याख्या करके उसे पक्का नियम बना दिया।

उड़ीसा की संस्कृति में पुरी जगन्नाथ का महत्व एवं प्रभाव असीमित है। जगन्नाथ ही उड़ीसा संस्कृति का केन्द्रबिन्दु है। मूलतः जगन्नाथ आदिवासियों का आराध्य देव था, समय के साथ-साथ जगन्नाथ उड़ीसा का आदिदेव बन गया, उड़ीसा का बड़ा ठाकुर बन गया। गंग और सूर्यवंश के राजाओं के शासन काल में जगन्नाथ राष्ट्रदेवता बन गया। आदिवासी, दलित, दमित लोगों का भगवान वैदिकों के बन्धन में जकड़ा गया क्योंकि राजाओं की प्रशासनिक हितों की रक्षा करने वाले वैदिकों ने आसानी से जगन्नाथ पर धार्मिक कब्जा कर लिया और दलितों को मंदिर से बाहर कर दिया। जगन्नाथ के दर्शन आम जनता के लिए दुर्लभ हो गए। आदिवासियों से दूर होकर वह राजा एवं वैदिकों के वशवर्ती हो गया, पहले वह 'दीन बन्धु' था, आज वह 'वैदिक बन्धु' हो गया। उन दिनों में आर्थिक दृष्टि से भी किसानों पर राज्य का कर ज्यादा ही था। राजाओं ने जब बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण किया तब अछूत और आदिवासियों को, वहां बरसों तक 'बेगार' काम करना पड़ा था। जगन्नाथ की पूजा करने वाले वैदिकों को ईनाम के रूप में सैकड़ों एकड़ जमीन दी गई लेकिन बरसों से खेती करने वाले आदिवासियों को अपनी जमीन से भगाया गया। आदिवासियों ने देखा कि अपने आराध्यदेव जगन्नाथ के कारण उनके खान-पान के मूलाधार छीन लिए गये। इस तरह आदिवासियों का भगवान जगन्नाथ हिन्दू साम्राज्य एवं शोषण का प्रतीक बन गया।

ऐसे संक्रमण काल में महिमा स्वामी ने अपने नये धर्म की स्थापना की। महिमा धर्म अपने समय के राजा एवं समकालीन वैदिक व्यवस्था के सामने एक ललकार के रूप में विकसित हुआ। महिमा स्वामी उड़ीसा के इतिहास में धुलिया बाबाजी, फलाहारी गोसावी, क्षिया निरापाई, आचारि वैष्णव के नाम से भी जाना जाता है। 1856 में महिमा स्वामी का देहांत हो गया। यह कहा गया है कि महिमा स्वामी की मृत्यु के पांच बरस बाद उड़ीसा के संबलपुर प्रदेश के एक भक्त के सपने में आकर देवताओं को जला देने की आज्ञा दी! जगन्नाथ मंदिर की तीनों मूर्तियां जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा लकड़ी की हैं। सपने की घटना के कुछ ही दिनों में बीस नंगे स्त्री-पुरुष जूठे हाथों से जगन्नाथ मंदिर पर टूट पड़े। वे तीनों मूर्तियों को आग लगाना चाहते थे। अधिक संख्या में इकट्ठा होकर पूजा करने वाले यात्रियों ने इन धर्म भ्रष्टों को (इतिहास में इस तरह इनको पुकारा गया है) पकड़कर पुलिस के हवाले कर दिया। न्यायालय में मुकद्मा चला और उन सबको सजा दी गई। फैसले में यह कहा गया कि मंदिर में इन लोगों ने अनाधिकार प्रवेश किया है जो अपराध है। चूंकि इन लोगों का मंदिर में प्रवेश करना धर्म-बहिर है। (Report Of Ethnological Committee, 1866-67) अपने

ही भगवान के मंदिर में प्रवेश करना दलितों का बहुत बड़ा अपराध था! इसकी उन्होंने सजा भोगी!

मंदिर पर किए गए हमले का बहुत बड़ा सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व है। अपने समकालीन समाज में इन महिमा पंथियों का कोई भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। समाज में नगण्य समझे जाने वाले लोगों के छोटे समूह ने पुरी के **जगन्नाथ**, **बलभद्र** और **सुभद्र** की मूर्तियों को जलाने की यह चेष्टा, उड़ीसा के सांस्कृतिक केन्द्र को विध्वंस करने की घटना के रूप में चित्रित हुई। वास्तव में यह हमला जगन्नाथ पर न होकर; छूत-छात का प्रतिनिधित्व करने वाली जातीय व्यवस्था के विरुद्ध था। पहले जगन्नाथ का मंदिर सबके लिए मुक्त था, वह सबका भगवान था, विशेष रूप से निम्न जातियों, आदिवासियों, किसानों का रक्षक था। कालान्तर में उन लोगों के अपने भगवान को राजा एवं वैदिक लोगों ने छीन लिया अनुष्ठानों, संप्रदायों, छुआछूतों जैसे अंधविश्वासों में जगन्नाथ को बंदी बना लिया। **महिमा-धर्म** अपने भगवान को वैदिकों की दासता से मुक्त करना चाहते थे। वास्तव में उनका यह आध्यात्मिक प्रतिशोध है। जगन्नाथ मंदिर में यह परंपरा बनाई गयी है कि खाने के बाद कोई मंदिर में प्रवेश नहीं करेगा। **महिमा धर्मियों** ने हमले के वक्त केवल खाना ही नहीं खाया था, बल्कि जूठे हाथों मंदिर में प्रवेश किया था। जूठे हाथों से मंदिर में प्रवेश करने के इस साहसिक कदम से यह जाहिर होता है कि वैदिकों के नीति-नियमों के विरोध में महिमा पंथियों ने विद्रोह किया और प्रचलित रीति-रिवाजों को तोड़ा है। इस विद्रोह में उनके अपने ही भगवान जो पराये हो गये हैं, को भी ठुकरा देने का निर्णय है। आदिवासियों की मिट्टी की संस्कृति का प्रतिनिधि शोषकों का प्रतिनिधि बन गया है। जमीन पर विचरित करने वाला भगवान आकाशगामी हो गया, इसलिए उन्होंने इस पराये जगन्नाथ को जला देने और उस राख से अपने पुराने जगन्नाथ को ढूँढ निकालने की कोशिश की। अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि भगवान जगन्नाथ के खिलाफ उनके इस विद्रोह से **महिमा पंथियों** को क्या प्राप्त हुआ? उत्तर के रूप में इतिहास को कहना पड़ता है कि **‘सतनामियों’** की यह प्राप्ति नहीं थी बल्कि यह उनकी मजबूरी थी क्योंकि उनके अपने जगन्नाथ को वैदिकों ने छीन लिया था, जिस कारण मजबूर होकर उनको निर्गुण उपासक बनना पड़ा था। भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में बहुजन-समाज के ऐसे कई विद्रोह छिपे हैं, जिनका उल्लेख मात्र करना भी बहुजनों को धर्म से बाहर करने वाले हमारे इन इतिहासकारों ने जरूरी नहीं समझा और मौन धारण किए रहे हैं। भारत में समय समय पर दलितों के विद्रोह होते रहे। विद्रोह की इस कड़ी में दलित कवि संत **रविदास** का महत्वपूर्ण स्थान है। सन् 1847 में काशी में जन्मे रविदास वर्ण-व्यवस्था के आधार पर निम्न जाति समझे जाने वाली चमार जाति से संबंधित थे, जो कि अछूत जाति समझी जाती है। पिता राघव के पैतृक कर्म को रविदास

ने श्रद्धापूर्वक अपनाया एवं वे जूते बनाने का काम करने लगे, जिससे परिवार की जीविका का पालन होता था। चर्मकार का काम करते हुए वे ज्ञान-चर्चा की बातें भी किया करते थे, जो कि वैदिक समुदाय के लोगों को पसंद नहीं थीं। इस संबंध में उन लोगों ने रविदास के पिता से भी शिकायत की थी। गंगा नदी के घाट पर कुटिया बनाकर **संत रविदास** रहते थे। उनकी कर्मनिष्ठा, भक्ति-भावना एवं ज्ञान से प्रभावित होकर वाराणसी के महापंडित स्वामी **रामानन्द** ने उन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर गुरु-दीक्षा प्रदान की। यह ऐतिहासिक सत्य है कि मध्यकालीन भारत में रामानन्द ही एक ऐसे मानवतावादी व्यक्ति हुए थे, जिन्होंने अछूत जाति के संतों को अपना शिष्यत्व प्रदान किया। उन्होंने सदियों से शोषित शूद्र को शिक्षा, भक्ति, पूजा, उपासना और समानता के लिए सामाजिक मान्यता दिलाई। ऊंच-नीच का अंतर रखने वाले लोगों से संत रविदास ने प्रश्न करते हुए कहा “तोही-मोही, मोही-तोही अंतर कैसा?” यही कारण है कि उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दू समाज की कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष कराने में लगाया। संत रविदास निम्न समझी जाने वाली जाति में जन्म लेकर भी उनकी भक्ति-भावना को प्रमाणित करते हैं। मानव कृत जातीय कल्पना पर कटाक्ष करते हुए संत रविदास कर्म को प्रधान मानते हुए कहते हैं

*जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसबा हमारा।
नीच से प्रभु ने ऊंच किया है, कहै रैदास खालिस चमारा॥
तुम बिन सकल देव मुनि ढूँढ़, कहूँ न पाऊँ जम पास छुडइया।
हमसे दीन, दयाल न तुम से, चरन सरन रैदास चमइया॥
ऊंचा कुल नीचा मता, ये करमों की मार।
नीचा कुल ऊंचा मता, धन्य रैदास चमारा॥”*

संत रविदास ने जाति भेद की व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते हुए कहा कि देश की एकता, अखंडता, शांति, संगठन एवं सांप्रदायिक भाव के लिए जाति-रोग को समूल खत्म करना आवश्यक है। उनके अनुसार मानव जाति एक है, इसलिए सब प्राणियों को समान समझकर प्रेम करना चाहिए।

*“जन्म जात न पूछिए क्या जात न पात।
बामन, खत्री, वैश्य, शूद्र सबकी एक ही जात
जात जात में जात है, ज्यों केले में पात।
रैदास न मानुस जुडि सकें, जब लों जाति अरू पात।
एक माटी के सब भांडे, सबका एकै सिरजन हारा।
रैदास व्यापै एको घर भीतर, सबको एकै गढ़ै कुम्हारा।
आदि धर्म है आदि का, यहां मानव जाति समान।
छोटा-बड़ा कोई नहीं, मानुस जन्म महान।”*

उपरोक्त वाणियों से स्पष्ट हो जाता है कि अतीत में मनुष्य-मनुष्य से कितनी घृणा करता था। एक अच्छे-भले आदमी से उनकी जाति पूछी जाती थी, उसे अपने जीवन में कितने तिरस्कार सहने पड़े होंगे? क्या यही हमारी सत्य-परख सोच थी?

संत **रविदास** ने अछूतों को बताया कि तुम्हारी दासता की जंजीरें कोई दूसरा नहीं तोड़ेगा बल्कि तुम्हें स्वयं अपनी उन्नति करनी होगी। उन्होंने पुरुषों के साथ ही नारी समुदाय को भक्ति की ओर प्रेरित किया। नारी समुदाय को समझाते हुए बताया कि सदियों से प्रताड़ित नारी के अधिकारों की रक्षा के लिए सवर्णों द्वारा प्रतिपादित नारी शोषण की कुरीतियों, रीति-रिवाजों और अन्यायपूर्ण मानव कल्पनाओं को उजागर करें तथा सत्य पर आधारित बातों का पालन करें। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था पर आधारित झूठे जाति-भेद को कभी स्वीकार नहीं किया। **रविदास** केवल संत कवि ही नहीं बल्कि सच्चे समाज सुधारक भी थे। उन्होंने अतीत से चली आ रही **मूर्तिपूजा का खंडन** किया। उनकी दृष्टि में वेदों का ब्रह्मा, विष्णु, शिव, रामायण के राम और गीता के कृष्ण अवतार भगवान न होकर **मानव-मात्र** थे। मुसलमानों के रहीम, करीम, काबा, और **'कुरान'** अल्लाह की **'बख्शियत'** न होकर मानव निर्मित रचनाएं हैं। उन्होंने सर्वधर्म स्वभाव हेतु हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। उन्होंने अपनी साधना द्वारा केवल आध्यात्मिक एकता पर बल दिया। उन्होंने अपनी साधना द्वारा केवल आध्यात्मिक चेतना को बल दिया बल्कि मानवीय करुणा से प्रेरित होकर सामाजिक चेतना को भी नया जीवन प्रदान किया। रविदास ने अपनी साधना में समष्टि का समाहार किया तथा दीन, दुःखी, गरीबों की पीड़ा को समझते हुए लोक कल्याण की कामना की। संत रविदास की वाणी इस तरह सत्य का उद्घोष करती है

“रैदास उपजई सब सब कूं एक ही देख,
रैदास हमारा रामजी, सोई है रहमान।
काशी-काबा जानि नाहि, दोनों एक समान।”

यहां यह बात गहराई से सोचने लायक है कि **रामानंद सगुण** उपासक थे, तो उनके शिष्य शूद्र जाति के कबीर एवं अस्पृश्य जाति के रैदास निर्गुण के उपासक बने। फिर यह भी आश्चर्य की बात है कि रैदास के निर्गुण उपासक होने के बावजूद उनकी शिष्या **मीराबाई** सगुण उपासक बन गई हैं। रामानंद के शिष्य रैदास और रैदास की शिष्या मीराबाई हैं। रामानंद उच्च कुल उत्पन्न हैं। **दोनों उच्च कुल उत्पन्न संत सगुण के उपासक हैं** और बीच का **अकेला शूद्र कुल उत्पन्न रैदास निर्गुण का उपासक है**। मीरा सगुण भक्ति को कैसे निभा सकीं? क्योंकि वे उच्च जाति की थीं लेकिन एक सवाल फिर उठता है कि मीरा को अपने गुरु के रूप में रैदास ही क्यों मिले? उन्हें किसी सवर्ण जाति में उत्पन्न सगुण उपासक ने शिष्या क्यों नहीं बनाया? इसके उत्तर में और एक सामाजिक बंधन सामने आता है कि **सवर्ण समाज**

में स्त्रियों को शूद्रों के बराबरी में रखा गया है।

भारत में शूद्रों को शिष्य बनाने की परंपरा नहीं रही है। शूद्रों द्वारा बार-बार कोशिश की गई कि गुरुओं द्वारा उन्हें शिष्य बनाया जाए लेकिन उन्हें हर बार निराश होना पड़ा, शूद्र द्वारा जिद किए जाने पर उसे नुकसान भी उठाना पड़ा। एकलव्य का उदाहरण जगत्प्रसिद्ध है। आखिर गुरु द्रोण ने एकलव्य को शिष्य के रूप में नहीं स्वीकारा, कुछ सिखाया भी नहीं लेकिन गुरु-दक्षिणा के रूप में उससे उसका अंगूठा भी ले लिया था। इस गुरु दक्षिणा ने सीधे उसकी तीरअंदाजी की कला पर आक्रमण किया था। मध्यकालीन इतिहास में शिष्य बनने की ऐसी जिद कबीर ने भी की थी। कबीर रामानंद को अपना गुरु बनाना चाहते थे। रामानंद कबीर को अपना शिष्य नहीं बनाना चाहते थे। कबीर बहुत परेशानी में थे। कोई चारा न देखकर उन्होंने एक उपाय सोचा। उन्होंने पता किया कि रामानंद रोज सुबह अंधेरे में गंगा की ओर जाते हैं। एक दिन कबीर गंगा की पैड़ियों पर जाकर लेट गए। वहां से रामानंद गुजरे, उनका पैर कबीर पर पड़ा। रामानंद ने देखा कि यह कोई मनुष्य है जिस पर उनका पैर पड़ गया है। रामानंद के मुख से राम-राम का शब्द निकला। कबीर ने इसी 'राम-राम' के शब्द को अपने लिए गुरु-मंत्र मान लिया। यह कथा अजीब ढंग की है लेकिन इससे एक बात का पता जरूर चलता है कि कबीर ने शिष्य बनने की जबरन और जबरदस्त कोशिश की थी। रैदास के गुरु भी रामानंद ही थे।

इसी पंद्रहवीं शताब्दी में कन्नड़ साहित्य में शूद्र संत कवि कनकदास सक्रिय थे। गड़रिया जाति में जन्मे यह शूद्र संत उडुपी के जगत्प्रसिद्ध कृष्ण के दर्शन करने गए, तो उनको वैदिकों ने मंदिर के बाहर ढकेल दिया। महीनों तक उनको मंदिर के बाहर रहना पड़ा। किंवदंतियों के अनुसार स्वयं कृष्ण की मूर्ति ने मुड़कर कनकदास को दर्शन दिया था। एक बार गुरु की तलाश में कनकदास निकल पड़े, उन्होंने व्यासराय का बस नाम सुना था। व्यासराय के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। उठकर हाथ जोड़कर कनकदास कहने लगे कि “गुरु महोदय, बाड ग्राम के वीरप्पनायक का पुत्र हूं तथा कुल से गड़रिया हूं। मुझे आपका आशीर्वाद चाहिए।” व्यासराय ने कनकदास की नखशिख तक परीक्षा की दृष्टि से देखा और कहा कि “ओहो, तुम गड़रिया हो, रहने दो, गड़रियों को मंत्रोपदेश देना भैंसा को मंत्र पढ़ाने के समान है। तुम्हें मेरे मंत्र समझ में नहीं आयेंगे।” कनकदास ने समझा कि यही गुरुमंत्र है। जंगल में जाकर 'भैंसा मंत्र' का स्मरण करने लगा। इस तरह दलित संतों को साधना शुरू करने के पहले अपने लिए गुरु को ढूंढना बहुत कष्टदायक काम था। वही संत व्यासराय, कनकदास को शिष्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, जिस तरह रामानंद ने कबीर और रैदास को स्वीकार कर लिया था। कनकदास के कारण व्यासराय को अपने समकालीन पंडितों की अवहेलना सहनी पड़ी। बिल्कुल इसी तरह कबीर और रैदास के कारण रामानंद को काशी के पंडितों

ने बहिष्कार करने का सोचा था। कनकदास सगुणोपासक थे, 'कागिनेले के केशव' उनका आराध्यदेव था। फिर भी उनको वैदिकों का बहुत कुछ सुनना पड़ा था। जाति और भक्ति का कोई संबंध नहीं है, भगवान की आराधना में जाति का कोई स्थान नहीं होता। कनकदास पूछते हैं

“आत्मा का कौन सा कुल
जीव का कौन सा कुल
तत्वेन्द्रियों का कौन सा कुल
वही मिल जाने पर
किसका कुल, क्या करना है?”

इस तरह भगवान की कृपा होने पर जाति की भावना निरर्थक है। कनकदास के अनुसार हिन्दू धर्म के अंधानुकरण, अर्थहीन आचरण, तीर्थस्नान सब वैदिकों के स्वांग हैं। कबीरदास हो, रैदास हो, कनकदास हो अथवा मादार चेन्नया हो सबको पंडितों की अवहेलना सुननी पड़ी। बदले में दलित जातियों के इन सभी संतों ने वैदिकों की भक्ति के **वाह्य आचार-विचारों** का खंडन किया है। दलित जाति के यह संत कहीं किसी एक मंदिर में बैठकर भक्ति के गीत नहीं गा सकते थे क्योंकि उनके लिए वैदिकों की तरह भक्ति कोई पेशा नहीं थी। उन्हें पेट भरने के लिए हाथों से काम भी करना पड़ता था। संत होने का सही अर्थ निर्गुण संप्रदाय में ही मिलता है। यदि संत के मन में अस्पृश्यता, जाति-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था का सामाजिक भेद बना रह गया तो वे संत किस बात का है?

“कुल कौन सा है?
सत्य का सुख भोगने वाले लोगों के लिए?”

कहकर कनकदास 'जीवन की सच्चाई' पर बल देते हैं। तीर्थयात्रा के बारे में रैदास कहते हैं

“का मथुरा, का द्वारका, का काशी, हरिद्वार?
रविदास खोजा दिल आपना तो मिलिया दिलदार”

बैठे-बैठे हृदयशुद्धि की बात कहकर रैदास मथुरा, द्वारका एवं काशी जाने की बात को नकार देता है। तीर्थस्थानों के महत्व को नकारने की, संत रैदास की इस कोशिश में उनके विद्रोही रूप को भी हम देख सकते हैं तथा उनकी मजबूरी को भी।

सगुण और निर्गुण में मुख्य भेद सामाजिक है। ये दोनों भक्तिमार्ग ऊपर से ऐसे दीखते हैं कि भक्ति से संबंधित हों परंतु इनका संबंध मूल समाज से गहरा जुड़ा है। यह कहा जा सकता है कि ये दोनों पौधे समाज की मिट्टी और उसके खाद-पानी से उगे हैं। इस सामाजिक भेद में सगुण भक्त वर्णाश्रम की समाज-व्यवस्था को मानता है और निर्गुण भक्त मानव-प्रेम को आधार बनाता है। ऐसा कोई सगुण भक्त नहीं मिलेगा जिसने वर्णों का विरोध किया हो। रैदास किसी भी माध्यम से एक ही

बात कहते हैं। यह मानव-प्रेम की बात है। उन्होंने कहा है कि निर्गुण भक्ति का रास्ता मनुष्य प्रेम का रास्ता है

“वन खोजो पीया मिला वन में प्रीतम नाहिं,
रविदास पी हम बसे, रहियो मानव प्रेमी माहिं”

लेकिन यही बात उन्होंने शुद्ध सामाजिक होकर भी कही है, जिसमें भक्ति का कोई जिक्र नहीं है। यह दोहा इस प्रकार है

“जात जात में जात है ज्यों केलन में पात
रैदास मनुष न जुर सकें जब लों जात अरू पात।”

डॉ. धर्मवीर इस दोहे के बारे में लिखते हैं कि “इस दोहे को पढ़ते हुए लगता है कि मानो डॉ. अंबेडकर की पुस्तक ‘जाति विनाश’ के मूल मंत्र हो।” जात का यह प्रश्न केवल कबीर, रविदास, गाडगे बाबा, चोकामेळा, कनकदास, नारायण गुरु एवं पेरियार के सामने ही नहीं खड़ा किया गया है। देश के बहुजन, शूद्र और अस्पृश्य होने के कारण अल्पसंख्यक वैदिकों ने अपना अर्थहीन आचरण, बेबुनियाद मनगढ़ंत कहानियां एवं ऊंच-नीच के विभाजन द्वारा बहुजनों को शिक्षा, ज्ञान, प्रश्न पूछने, अपना दुःख व्यक्त करने तथा मंदिर-प्रवेश से रोक दिया था। सवर्ण जातियों को वे अपनी सामाजिक संपत्ति समझते हैं। अपनी इस संपत्ति को कायम रखने की जिम्मेदारी वैदिकों ने ले ली है। वैदिकों के इन विशेष अधिकारों को समय-समय पर बहुजनों ने ललकारा है। बहुजनों के विद्रोह के यह प्रयत्न ‘दारू प्रतिमा न पूजिवे’ अर्थात् लकड़ी की देवता की पूजा नहीं करना, कबीर पंथ, रैदास पंथ, बसवेश्वर धर्म, नारायण धर्म, परिपालन पंथ के रूप में इतिहास में जाने जाते हैं।

संदर्भ

1. ‘कबीर और रैदास’ एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ. चन्द्रदेव राय
2. ‘गुरु रविदास’ : डॉ. धर्मवीर
3. ‘दारू प्रतिमा न पूजिवे’ : सौरभ दुबे, फणींदम् देव, इशिता बैनर्जी, कन्नड अनुवाद जी.राजशेखर
4. दलित-साहित्य 1999 संपादक : जयप्रकाश कर्दम
5. संत कनकदास का विद्रोह : प्रो. ज्योति होसूर

दलित राजनीति का दर्शन

कंवल भारती

मौजूदा दलित राजनीति की समस्याओं को समझने के लिये हमें दलित राजनीति पर एक विहंगम दृष्टिपात करना होगा। एक सरल दृष्टिपात के लिये कुछ विभाजन करते हैं, जो कम-से-कम तीन हो सकते हैं। जैसे (1) दलित राजनीति स्वतंत्रता पूर्व। यह समय 1930 से 1955 तक का हो सकता है, जिसमें डॉ. आंबेडकर और गांधी जी के नेतृत्व पर विचार किया जा सकता है; (2) स्वतंत्रता के बाद की दलित राजनीति। जिसमें आंबेडकर के बाद हुए परिवर्तनों पर विचार कर सकते हैं, इस काल को हम 1980 तक ले जा सकते हैं; और (3) वर्तमान दलित राजनीति, जो 1980 के बाद अस्तित्व में आयी और जिसने दलित से बहुजन तक विकास किया।

चूंकि हमें दलित राजनीति की वर्तमान समस्याओं पर विचार करना है, इसलिये आरम्भ के दोनों काल खण्डों पर बहुत ही संक्षेप में चर्चा करेंगे। भारतीय समाज में दलित-राजनीति की शुरुआत 1930 से हाती है, जब डॉ. आंबेडकर ने दलित-वर्गों के राजनैतिक अधिकारों का सवाल उठाया था। अस्पृश्यता और जातीय भेदभाव के खिलाफ सामाजिक-आन्दोलनों की असफलताओं ने राजनैतिक आन्दोलन की आधारशिला रखी थी। यहां यह माना जा सकता है यदि सामाजिक आन्दोलन सफल हो गये होते, तो भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका सम्भवतः नहीं होती लेकिन धर्म से नियंत्रित और संचालित हिन्दू समाज ने खंडित होकर रहना स्वीकार किया, अपनी जटिलता को नहीं छोड़ा, इसलिए यह सोच स्वाभाविक थी कि यदि दलित वर्गों की समस्याओं का हल हो सकता है, तो राजनैतिक शक्ति से ही हो सकता है। अतः आंबेडकर ने ब्रिटिश सरकार से दलित वर्गों के लिये पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की। इस मांग का मकसद यह था कि दलितों के प्रतिनिधि सत्ता-प्रतिष्ठानों में बैठकर दलितों के हित में सोचेंगे और उनकी समस्याओं को हल करेंगे। दलितों को अपनी मुक्ति के लिये सवर्ण प्रतिनिधियों पर निर्भर रहना नहीं पड़ेगा। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने इस मांग को स्वीकार कर लिया था। इतिहास में यह निर्णय 'कम्यूनल अवार्ड' के नाम से जाना जाता है।

हम यह कह सकते हैं कि आंबेडकर के नेतृत्व में दलित-राजनीति के केंद्र में जाति थी पर इसके लिये मुख्य रूप से तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन जिम्मेदार था, जिसका नेतृत्व सामन्तों और पूंजीपतियों के हाथों में था। वे दलितों की मुक्ति के सवाल पर कतई गम्भीर नहीं थे। वे न ब्राह्मणवाद से टकराने को तैयार थे और न सामाजिक परिवर्तन के पक्षधर थे लेकिन डॉ. आंबेडकर इस सवाल को हल करना चाहते थे कि स्वतंत्र भारत में दलितों की क्या स्थिति होगी? क्या वे अस्पृश्य ही बने रहेंगे अथवा सामान्य नागरिक के सभी अधिकार प्राप्त करेंगे?

गांधी जी और हिन्दू नेताओं ने कम्पूनल अवार्ड में दलितों के राजनैतिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार नहीं किया। गांधी जी उसके विरुद्ध 'आमरण-अनशन' पर बैठ गये और अन्ततः भारी सामाजिक दबावों के बीच गांधी जी और डॉ. आंबेडकर के बीच पूना में समझौता हुआ, जिसमें पृथक अधिकारों की मांग समाप्त करके शासन और प्रशासन में कुछ सीटें आरक्षित करने का निर्णय लिया गया। 1932 में हुआ यह समझौता 'पूना पैक्ट' के नाम से जाना जाता है।

पूना पैक्ट ने दलित राजनीति की दिशा बदल दी। आंबेडकर ने वर्गीय प्रतिनिधित्व का सवाल उठाया था पर गांधी जी और हिन्दू नेताओं ने आरक्षण-व्यवस्था लागू करके भविष्य की पूरी दलित राजनीति को जाति पर खड़ा कर दिया था। तब कौन जानता था कि यह व्यवस्था कितनी मजबूत होने जा रही है कि पूरा दलित आन्दोलन ही उसमें जाकर लुप्त हो जाएगा?

पूना पैक्ट के बाद दलित राजनीति के समानान्तर कांग्रेस की 'हरिजन राजनीति' का उभार होता है। गांधी जी के दिशा-निर्देशन में 'हरिजन सेवक संघ' का जन्म होता है। दलितों के लिये गांधी जी द्वारा किया गया 'हरिजन' नामकरण दलित आन्दोलन के नेताओं को अपमानजनक लगता है, जिसका देश भर में भारी विरोध होता है। सम्भवतः इसी विरोध के कारण हरिजन उद्धार का कार्य कांग्रेस और गांधी जी ने भंगी समुदाय में आरंभ किया। इसका एक कारण आंबेडकर के आन्दोलन से भंगी समुदाय को अलग करना भी था। इसमें कांग्रेस को सफलता मिली। भंगी समुदाय गांधी जी और कांग्रेस का इस कदर अभिन्न अंग बन गया कि 'हरिजन' शब्द भंगी जाति का ही पर्याय बन गया पर राजनैतिक लाभ उन्हीं जातियों को मिला, जिनकी संख्या ज्यादा थी। अतः महाराष्ट्र में महार और उत्तर भारत में चमार जातियों में ही कांग्रेस ने अपना राजनैतिक आधार खड़ा किया। भंगी समुदाय जनसंख्या में काफी कम था, इसलिये उसका राजनैतिक शोषण भी सबसे ज्यादा हुआ।

पूना पैक्ट कांग्रेस के लिये वरदान बन गया। यदि वर्गीय प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया जाता तो दलित वर्गों को सबसे ज्यादा और ब्राह्मणों को सबसे कम प्रतिनिधित्व मिलता लेकिन कांग्रेस ने इसके विपरीत कार्य किया। उसने 1937 के

आम चुनावों में सर्वाधिक टिकट ब्राह्मणों, वैश्यों, व्यापारियों और जमींदारों को दिये और सत्ता के शीर्ष पर ब्राह्मण शासक वर्ग को बैठाया। उसने इससे भी बढ़कर जो घातक कार्य किया, वह यह था कि उम्मीदवारों के चुनावों के लिये नीति बनायी, उसके अनुसार उच्चतम श्रेणी की शैक्षणिक योग्यता प्राप्त ब्राह्मण को प्राथमिकता देना और गैर-ब्राह्मण तथा दलित जातियों के उन उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जाती थी, जो कम-से-कम योग्यता प्राप्त हों।¹ इसका उद्देश्य, आंबेडकर के अनुसार, गैर-ब्राह्मणों और दलित वर्गों को कांग्रेस मंत्रीमंडल में शामिल होने से रोकना था। आंबेडकर कहते हैं कि इसके दो लाभ थे। एक यह कि अशिक्षित गैर-ब्राह्मण शिक्षित गैर-ब्राह्मण की अपेक्षा कांग्रेस हाई कमान का अधिक वफादार और कृतज्ञ होगा तथा कांग्रेस में शिक्षित गैर-ब्राह्मणों से मिलकर शासक वर्ग के बने कांग्रेसी मंत्रीमंडल के प्रति विद्रोह न कर सकेगा।² इस नीति के तहत कांग्रेस ने दलित जातियों में अशिक्षित और सबसे कम योग्यता वाले व्यक्तियों को संसद और विधान मंडलों में भेजा। सत्ता-स्वार्थ ने उन्हें कांग्रेस हाई कमान और शासक वर्ग के 'यस मैन' बना दिया और वे अपने वर्ग के प्रति अपने दायित्व को भूल गये।

पूना पैक्ट के इस परिणाम ने डॉ. आंबेडकर के चिन्तन में अन्तर्द्वन्द्व पैदा कर दिया। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आरक्षण और प्रतिनिधित्व की व्यवस्था से सामाजिक-परिवर्तन नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार, यह व्यवस्था ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद को ही मजबूत करने वाली थी। वे स्वयं देख रहे थे कि असमानता पर आधारित ब्राह्मणवाद दलित वर्गों में भी पैदा होने लगा था। शिक्षित और नौकरियां पाने वाले दलितों का एक बड़ा हिस्सा अवसरवादी होता जा रहा था, जो अपने निजी हितों की पूर्ति के लिये शोषक वर्ग की तरह ही शोषण के हथकण्डे अपना रहा था।

इस समय हम डॉ. आंबेडकर के राजनैतिक विचारों में एक बड़ा परिवर्तन देखते हैं। वे जातीय संघर्ष से वर्ग-संघर्ष पर आते हैं। वे साम्राज्यवाद, ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के खिलाफ खड़े होते हैं और **इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी (1937)** बनाकर दलित वर्गों को वर्ग-हित और वर्ग-चेतना के आधार पर संगठित करने का काम करते हैं। 12 और 13 फरवरी 1938 को मनमाड में जी.आई.पी. रेलवे के एक दलित सम्मेलन में अध्यक्ष के आसन से जो भाषण उन्होंने दिया था, वह दलित राजनीति के लिये आज भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा था कि दलितों को अब वर्ग-हित और वर्ग-चेतना पर आधारित राजनैतिक पार्टी में शामिल होना चाहिए। इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के समर्थन में दिये गये इस भाषण में उन्होंने कहा कि यह पहला अवसर है, जब दलित अपनी आर्थिक समस्याओं पर विचार करने के लिए मजदूरों के रूप में एकत्र हुए हैं। उन्होंने आगे कहा कि इस देश के मजदूरों के सिर्फ दो ही शत्रु हैं एक, **ब्राह्मणवाद** और दूसरा **पूंजीवाद**। उन्होंने ब्राह्मणवाद को परिभाषित करते हुए कहा कि "इसका अर्थ ब्राह्मणों के विशेषाधिकार और उनकी सत्ता नहीं है, बल्कि यह

स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता के सिद्धांत को न मानना है। इस अर्थ में, उन्होंने कहा कि यह सभी वर्गों में व्याप्त है, सिर्फ ब्राह्मणों तक सीमित नहीं है, हालांकि वे इसके उद्भावक हैं।³

इस भाषण में डॉ. अम्बेडकर ने कई महत्वपूर्ण सवाल उठाये थे; जैसे किस तरह से दलित स्वयं को मजदूर के रूप में संगठित करें? कैसे मजदूरों के बीच एकता कायम हो? उन्होंने कहा कि एकता लाने के लिये मजदूरों को यह बताया जाय कि जो लोग सामाजिक भेदभाव रखते हैं, वे सैद्धांतिक रूप से गलत हैं और मजदूरों के संगठन के लिये घातक हैं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने कहा कि “मजदूरों को यदि संगठित होना है, तो उन्हें अपने बीच से ब्राह्मणवाद यानी, असमानता की भावना को जड़ से मिटाना होगा।”⁴

उन्होंने श्रमिक राजनीति के रूप में दलित राजनीति का आरंभ किया और उसे सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य पर आधारित किया। दलित जातियों में शोषक श्रेणी के उभार को देख यह अनुभव कर लिया था कि दलित जातियों की यह श्रेणी उनके परिवर्तन के आन्दोलन का समर्थन नहीं करेगी, इसलिये उन्होंने शोषित और मजदूर वर्ग को राजनैतिक रूप से संगठित करना आवश्यक समझा। उन्होंने अपने समय के सोशलिस्ट नेताओं के साथ काम किया और अमृत डांगे जैसे वामपंथी नेताओं के साथ भी वे रहे पर उनके साथ काम करने के उनके अनुभव अच्छे नहीं रहे। वे पूंजीवाद के साथ-साथ ब्राह्मणवाद के खिलाफ भी संघर्ष चाहते थे, जबकि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट नेता ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष में उतरना नहीं चाहते थे। वे वर्ग-संघर्ष के तो पक्ष में थे, पर जाति के राक्षस को नहीं देख पा रहे थे जो वर्ग-संघर्ष में मुख्य बाधा था, अतः शीघ्र ही आंबेडकर उनसे अलग हो गये।

डॉ. अम्बेडकर की सबसे बड़ी चिन्ता थी अपने समय का स्वराज आन्दोलन, जो ब्राह्मणों और पूंजीपतियों के हाथों में था। उनके लिये स्वराज महत्वपूर्ण नहीं था, महत्वपूर्ण यह था कि स्वराज किनके हाथों में होगा? वे स्वतंत्र भारत की बागडोर मजदूर वर्ग के हाथों में देखना चाहते थे। उनका कहना था कि इंग्लैंड में लोकतंत्र इसलिये विफल हो गया था क्योंकि वह अनुदार लोगों (Tories) के हाथों में था। यदि भारत में पूंजीपतियों और ब्राह्मणवादियों के हाथों में स्वराज आयेगा तो वह भी विफल हो जायेगा, इसलिये उन्होंने मजदूर नेताओं से अपील की थी कि वे भारतीय मजदूरों के हाथों में स्वराज लाने का प्रयास करें।⁵ इसके लिये वे चाहते थे कि दलित वर्ग आन्दोलन अन्य समुदायों के मजदूर वर्गों के साथ मिलकर ब्राह्मणवाद, पूंजीवाद और सामन्तवाद के खिलाफ एक संयुक्त (साझा) मोर्चा बनाये।⁶ इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के नेता के रूप में डॉ. आंबेडकर ने सोशलिस्टों, वामपंथियों और अन्य संगठनों से मिलकर साझा मोर्चा बनाने की हर सम्भव कोशिश की, पर ब्राह्मणवाद के राक्षस ने मजदूरों में एकता नहीं होने दी। दुनिया के मजदूर भले ही एक हों, पर भारत के

मजदूर ब्राह्मणवाद के रहते एक नहीं हो सके।

यह मोर्चा इसलिये भी सफल नहीं हो सका क्योंकि पूंजीवादी ताकतों ने इसे सफल होने नहीं दिया। उन ताकतों ने डॉ. आंबेडकर की पृथक राजनैतिक मांग में ही पूंजीवादी और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ भयानक आग देख ली थी। पूना-पैक्ट उसी आग को ठण्डा करने की एक प्रतिगामी कार्यवाही थी। इसके बाद गांधी जी और कांग्रेस द्वारा सुनियोजित ढंग से अपनायी गयी आरक्षण नीति और 'कल्याणकारी योजना' आधारित व्यवस्था ने दलित वर्गों को ज्यादा लुभाया, अतः कांग्रेस की हरिजन-राजनीति, जिसका संचालन ब्राह्मणों और पूंजीपतियों के हाथों में था, सफल हुई और डॉ. आंबेडकर को असफलता हाथ आयी। यदि उस समय सोशलिस्ट और वामपंथी ताकतें ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष को अपने एजेण्डे में रखतीं, तो दलित वर्गों का संगठन पूंजीवाद के खिलाफ एक बड़ी क्रांति को अन्जाम दे सकता था और तब स्वतंत्र भारत की बागडोर मजदूरों के हाथों में ही होती।

यहां यह कहना कदाचित गलत न होगा कि पूना-पैक्ट के बाद से ही दलित वर्गों को राजनैतिक रूप से संगठित करने की शक्ति डॉ. आंबेडकर के हाथों से निकल गयी थी। दूसरे शब्दों में, दलित राजनीति की क्रांतिकारी धारा को विकसित होने से पहले गर्भ में ही कांग्रेस ने मार दिया था। पूना-पैक्ट के बाद 1956 तक के इस काल खण्ड में हम आंबेडकर को सिर्फ एक अकादमिक स्तर के प्रगतिशील राजनीतिज्ञ, विद्वान और ईमानदार सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में देखते हैं। 1956 में ऐतिहासिक धर्मांतरण (दीक्षा समारोह) के सिवा वे कोई बड़ा राजनैतिक आन्दोलन नहीं कर सके। यह धन और सिद्धांत का खेल था, जिसमें कांग्रेस विजयी हुई थी और आंबेडकर हारे थे।

लेकिन भारतीय राजनीति में डॉ. आंबेडकर ऐसे पहले विद्वान् राजनीतिज्ञ थे जो निम्न वर्ग से आये थे, निम्न वर्ग के लिये कर्मक्षेत्र में उतरे थे, निम्नवर्ग की मुक्ति जिनके चिन्तन के केंद्र में थी और जिन्होंने लोकतंत्र के हर सिद्धांत को निम्न वर्ग की दृष्टि से देखा था। वे समाजवाद के पक्षधर थे और वैसी ही व्यवस्था स्वतंत्र भारत में चाहते थे। पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष में उन्होंने कभी समर्पण नहीं किया। प्रतिगामी शक्तियों ने निम्न वर्गों को अशिक्षित और गरीब बनाये रखने की कार्य योग्यता पर अमल करके डॉ. आंबेडकर के मिशन को विफल जरूर कर दिया था पर कांग्रेस और पूंजीवादी शक्तियां उन्हें न खरीद सकी थीं और न भटका सकी थीं। यही उनकी सबसे बड़ी जीत थी।

इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी को भंग करने के बाद डॉ. आंबेडकर ने सामाजिक क्षेत्र में काम करने के उद्देश्य से 'शेडयूल्ड कास्ट फेडरेशन' का गठन किया। इसके माध्यम से उन्होंने राजनैतिक गतिविधियां भी आरम्भ कीं। अब तक उन्हें यह अनुभव हो गया था कि सुरक्षित सीटों की राजनीति दलित वर्ग के लिये घातक है,

इसे समाप्त होना चाहिए। अक्टूबर 1955 में उन्होंने शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के नासिक सम्मेलन में अनुसूचित जातियों के लिये सुरक्षित सीटों को समाप्त करने की मांग की थी। उन्होंने कहा कि अब समय आ गया है कि ये सीटें खत्म होनी चाहिए' पर फेडरेशन के समानान्तर कांग्रेसी नेता बाबू जगजीवन राम का 'दलित वर्ग संघ' ज्यादा ताकतवर संगठन था। उनका मकसद ही दलित वर्गों को कांग्रेस और गांधीवाद से जोड़ना था। उन्होंने डॉ. आंबेडकर की मांग का समर्थन नहीं किया। **आरक्षण व्यवस्था कांग्रेस की राजनैतिक आवश्यकता बन गयी थी, जिसे समाप्त करने का अर्थ था दलितों को कांग्रेस से अलग करना। कांग्रेस यह आत्मघात कभी नहीं करती।**

इसी समय डॉ. आंबेडकर ने नयी राजनैतिक पार्टी बनायी, जिसका नाम 'रिपब्लिकन पार्टी आफ इंडिया' था पर वे अपने समय में इसका गठन नहीं कर सके थे। कहा जाता है कि पार्टी का संविधान और कार्यक्रम उन्होंने अपनी मृत्यु (1956) से पहले ही तैयार कर लिया था।

2. दलित राजनीति 1960 से 1980 तक

दलित राजनीति का दूसरा काल 1960 से 1980 तक का है। इसे हम साठोत्तरी और उत्तर आंबेडकर काल भी कह सकते हैं हालांकि समग्र दलित राजनीति पर आंबेडकर का दबाव उनके समय में ही नहीं था तथापि दलित आन्दोलन के एक उन्नायक की छवि दलित वर्गों में बनी हुई थी लेकिन इस प्रश्न पर गौर नहीं किया गया कि जो डॉ. आंबेडकर अपने समाजवादी विचारों के घेरे में दलित वर्गों को संगठित करने में सफल नहीं हो सके, वे 1956 में (14 अक्टूबर) बौद्धधर्म में दीक्षा के लिये नागपुर में लगभग दस लाख दलितों को इकट्ठा करने में सफल हो जाते हैं? क्या यह इसलिये हो सका कि आंबेडकर का दलित आन्दोलन ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के लिये घातक था, दीक्षा समारोह घातक नहीं था? कम-से-कम इस घटना से हम उन परिस्थितियों को समझ सकते हैं, जिनसे दलित-आन्दोलन को गुजरना पड़ा।

साठ के दशक में डॉ. आंबेडकर के दलित-आन्दोलन की जमीन पर भारतीय रिपब्लिकन पार्टी को व्यापक सफलता प्राप्त हुई। **नीली टोपी, नीला झण्डा और हाथी** निशान इस पार्टी की पहचान बन गया था। इसी समय 'जयभीम' के नारे ने क्रांतिकारी असर दिखाया। उसका जनाधार महाराष्ट्र के साथ-साथ उत्तर प्रदेश में भी खड़ा हो गया। 1962 के आम चुनावों में उत्तर प्रदेश से विधानसभा में ग्यारह तथा लोकसभा में चार रिपब्लिकन पार्टी के सदस्य चुने गये। रिपब्लिकन पार्टी ने जाति की बुनियाद पर राजनीति नहीं की वरन् उसने दलित मजदूर और किसानों की समस्याओं को उठाया। **1964 में उसने पूरे देश में भूमि-सत्याग्रह किये, जो दो महीने तक चले।** इस सत्याग्रह में पार्टी की मुख्य मांग भूमि का राष्ट्रीयकरण करने

और बेकार पड़ी भूमि को भूमिहीन किसानों को देने की थी। केंद्र सरकार ने राष्ट्रीयकरण की मांग को स्वीकार नहीं किया पर बेकार पड़ी भूमि भूमिहीन किसानों को देने के निर्देश उसे सभी राज्य सरकारों को देने के लिये बाध्य होना पड़ा। पार्टी की यह एक बड़ी उपलब्धि थी। इतने कम समय में ही वह दलित मजदूर वर्ग के हितों की पार्टी बन गयी थी।

रिपब्लिकन पार्टी की सफलता का मुख्य कारण था कि उसने डॉ. अम्बेडकर के पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद के खिलाफ संघर्ष को अपना आधार बनाया था और समाजवाद उसका लक्ष्य था। इसके पहले राष्ट्रीय अध्यक्ष दादा साहेब गायकवाड़ थे जो डॉ. आंबेडकर के विश्वसनीय साथी और अनुयायी थे। इसका सम्पूर्ण नेतृत्व अधिकांश रूप से उन दलितों के हाथों में था, जो आंबेडकर-विचारों के जानकार और समर्थक थे। हिन्दी भाषी क्षेत्र में इसके नेता बुद्धप्रिय मौर्य और संघप्रिय गौतम थे, जो अपने निर्भीक विचारों और सामाजिक सरोकारों के कारण दलित वर्गों में इतने लोकप्रिय थे कि वे लोकगीतों के विषय बन गये थे पर यही नेता सबसे ज्यादा भटके और पार्टी छोड़कर कांग्रेस और भाजपा के साथ चले गए।

रिपब्लिकन पार्टी का पतन उसके उभार के दस साल बाद ही शुरू हो गया था। समाजवाद के जिस लक्ष्य को लेकर पार्टी चल रही थी, वह कांग्रेस के लिये खतरनाक था। कांग्रेस जिस ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद को संरक्षण दे रही थी; दूसरे शब्दों में ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद जिस कांग्रेस को चला रहा था, वह रिपब्लिकन पार्टी के उभार से संकट में पड़ गया था, इसलिये कांग्रेस ने रिपब्लिकन पार्टी के प्रभावशाली नेताओं को सत्ता का प्रलोभन देकर पार्टी को विभाजित कर दिया। कुछ नेता पूरी तरह कांग्रेस में चले गये और कुछ ने कांग्रेस से गठबन्धन कर लिया। खण्ड-खण्ड रिपब्लिकन पार्टी का हर खण्ड कांग्रेस का पिछलग्गू बन गया। दादा साहेब गायकवाड़ की मृत्यु के बाद पार्टी राजनैतिक अवसरवाद की भेंट चढ़ गयी और दलित-राजनीति का सारा लक्ष्य, जो उसके मूल में था, बिखर गया। उत्तर प्रदेश में वह निष्प्राण हो चुकी हैं। हालांकि कुछ लोग उसमें प्राण फूंकने की असफल कोशिश कर रहे हैं पर महाराष्ट्र में उसके कुछ गुट अभी भी अपने अस्तित्व के लिये लड़ रहे हैं।

रिपब्लिकन पार्टी एक बड़ा राजनैतिक लक्ष्य हासिल कर सकती थी क्योंकि दलित-वर्गों में उसने अपना व्यापक जनाधार बना लिया था। डॉ.आंबेडकर द्वारा संस्थापित पार्टी होने की वजह से दलित वर्गों के लोग भावनात्मक रूप से भी जुड़ गये थे। यह जुड़ाव आज भी पुराने लोगों में देखा जाता है लेकिन पार्टी नेतृत्व डॉ. आंबेडकर के विचारों के अनुरूप अन्य मजदूर संगठनों और दलों के साथ मिलकर साझा मंच नहीं बना सका। उसके नेता अपने तक सीमित रहे। वे भूल गये कि अकेले चलकर कोई वर्ग या समुदाय मुक्ति नहीं पा सकता। दूसरी तरफ, यह

भी विडम्बना रही कि मजदूर और सर्वहारा वर्ग की सत्ता कायम करने का कार्यक्रम लेकर चलने वाले वामपंथी नेताओं ने भी रिपब्लिकन पार्टी से जुड़ने की कोशिश नहीं की। वे लकीर के फकीर बने रहे और उन्होंने जाति-संघर्ष को अपने कार्यक्रम में शामिल नहीं किया। डॉ. आंबेडकर के बाद, वामपंथ के लिये यह दूसरा बड़ा अवसर था जो उन्होंने गंवा दिया। जिस दिशाहीनता और विचारहीनता की वजह से रिपब्लिकन पार्टी भटकी और टूटी, यदि वामपंथी नेता चाहते, तो अपनी विचारधारा से दलित वर्गों को जोड़ने की एक बड़ी कोशिश उसके साथ साझा मोर्चा बनाकर कर सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो कांग्रेस कभी भी कमजोर हो गयी होती और भारत की शासन-सत्ता समाजवादियों के हाथों में होती।

रिपब्लिकन पार्टी के पतन के बाद कांग्रेस पुनः दलित वर्गों को अपने साथ जोड़ने में सफल हो गयी। 1971 में, इन्दिरा गांधी ने जगजीवन राम को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया। उसी वर्ष मध्यावधि चुनाव हुए और कांग्रेस 'गरीबी हटाओ' के नारे पर पुनः सत्ता में वापिस आयी। बीस-सूत्री कार्यक्रम और हदबन्दी कानून लागू करके कांग्रेस ने दलित वर्गों को लुभाया और दलित राजनीति अपना वजूद खोकर इसी प्रतिक्रांति की सहयोगी बन गयी। दूसरे शब्दों में कांग्रेस से लाभान्वित दलित राजनीति का बिका हुआ नेतृत्व दलित वर्गों को वहां ले गया, जहां से उसे आगे जाने का रास्ता आंबेडकर ने दिखाया था।

इसके बाद की स्थिति यह है कि 1980 तक दलित राजनीति का कोई वजूद दिखायी नहीं देता है। दलित वर्ग कांग्रेस का समर्थक और वोट बैंक बन जाता है। साथ ही कांशीराम के उभार तक दलित राजनीति और आन्दोलन की स्थिति मृतप्रायः बनी रहती है।

दलित राजनीति 1980 से अब तक

1980 में दलित-आन्दोलन के एक नये नायक के रूप में कांशीराम का उदय हुआ। उन्होंने 1978 के अन्तिम महीने में वाम सेफ (बैकवर्ड एण्ड माइनोरिटी कम्युनिटीज इम्पलाइज फेडरेशन) की स्थापना की, जो 1980 तक दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक समुदाय के कर्मचारियों का विशाल संघ बन चुका था। वामसेफ ने कांशीराम का आर्थिक आधार मजबूत किया। इससे उत्साहित होकर उन्होंने 1981 में अपने राजनैतिक कार्यक्रम को लागू करने के उद्देश्य से डी.एस-4 अर्थात् 'दलित शोषित समाज संघर्ष समिति' का गठन किया। इसी संगठन से उन्होंने हरियाणा में 1982 में विधानसभा चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े किये। इस चुनाव में उसे 57,588 (1.19 प्रतिशत) वोट मिले। यह एक प्रयोग था, जिसमें वे सफल हुए। इसके दो साल बाद 1984 में उन्होंने बाकायदा नयी राजनैतिक पार्टी 'बहुजन समाज पार्टी' (बसपा) बनायी।

कांशीराम ने 1988 में बसपा की ओर से सामाजिक-परिवर्तन और आर्थिक मुक्ति के आन्दोलन चलाये। इनमें स्वाभिमान आन्दोलन, किसान मजदूर आन्दोलन, सफाई मजदूर आन्दोलन, दस्तकार आन्दोलन, शरणार्थी आन्दोलन और भागीदारी आन्दोलन मुख्य थे।(8)

कांशीराम ने पूना पैक्ट के पचास वर्ष पूरे होने पर 24 सितम्बर 1982 से अपने राजनैतिक अभियान की शुरुआत की थी। इस वर्ष देश के चारों कोनों से पूना पैक्ट धिक्कार रैली निकाली गयी, जो पूना में जाकर समाप्त हुई। इस रैली ने दलित वर्गों में ब्राह्मणवाद के खिलाफ उस चेतना को उभार दिया, जिसे समय और तात्कालिक राजनैतिक दबावों ने दबा दिया था। पचास साल पहले जो पैक्ट गांधी और आंबेडकर के बीच हुआ था, ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर राजनैतिक बहस हमेशा हो सकती है पर लोकतंत्र में उसे नकारने का कोई अर्थ नहीं है। अब कोई दूसरा पैक्ट हो नहीं सकता था और न पृथक् निर्वाचन की पद्धति की मांग करने का अब कोई औचित्य था पर कांशीराम इसके माध्यम से घोर दलितवाद उभारना चाहते थे, जो सीधे-सीधे कांग्रेस के खिलाफ हो। उनका मकसद कांग्रेस के खिलाफ दलित वर्गों में गुस्सा उत्तारना था, जिससे कांग्रेस का दलित वोट बैंक खत्म हो सके। उनका राजनैतिक लक्ष्य कांग्रेस को कमजोर करके रिपब्लिकन पार्टी का विकल्प खड़ा करना था।

महाराष्ट्र के दलित वर्गों ने कांशीराम को स्वीकार नहीं किया लेकिन उत्तर प्रदेश में उन्हें सफलता मिल गयी। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जनपदों में सामन्ती समाज व्यवस्था मौजूद होने की वजह से कांशीराम के दलित आन्दोलन ने पीड़ित दलित वर्गों में आसानी से अपनी जगह बना ली। इधर रिपब्लिकन पार्टी के पतन के बाद आयी राजनैतिक शून्यता को बसपा ने भर दिया। सामाजिक और राजनैतिक दोनों आन्दोलनों की जमीन पहले से तैयार थी। दलित वर्ग के लोग न नीला झण्डा भूले थे और न हाथी के निशान को। बसपा ने इसी का लाभ उठाते हुए न सिर्फ पार्टी के झण्डे का रंग नीला रखा, बल्कि चुनाव निशान भी हाथी रखा।

कांशीराम ने अपने राजनैतिक आन्दोलन को तीन सिद्धांतों पर विकसित किया। पहला जातीय सम्मान, दूसरा भागीदारी और तीसरा वोट को लूटने और बिकने से बचाना। **जाति-उन्मूलन को उन्होंने अपना ध्येय नहीं बनाया, वरन् जाति के उभार को अपनी राजनीति के केंद्र में रखा।** सामाजिक परिवर्तन और नवजागरण के जन नायकों को उन्होंने जातीय सम्मान और स्वाभाविक आन्दोलन से जोड़ने की मुहिम चलायी। शाहू महाराज, महात्मा ज्योतिबा फुले, नारायण स्वामी, पेरियार रामास्वामी नायकर, डॉ. आंबेडकर, भगवान बुद्ध, कबीर, रैदास, झलकारी बाई, बिजली पासी, सावित्री बाई फुले इत्यादि विभूतियों को उन्होंने दलित वर्गों का नायक बना दिया। इसका सकारात्मक परिणाम यह हुआ कि

नवजागरण के ये महानायक, जो राष्ट्रीय चिन्तन में हाशिये पर थे और जिन्हें मुख्यधारा में भी ठीक से नहीं जाना जाता था, उन्हें सारी जनता जान रही थी। यह दलित वर्गों के उदय का इतिहास-संधान भी था और इतिहास का निर्माण भी। पर, इसका नकारात्मक पक्ष यह रहा कि इसे जाति की बुनियाद पर विकसित किया गया इसलिये इस संधान और निर्माण ने नायकों का जातीयकरण करने के सिवा परिवर्तन की कोई क्रांतिकारी भूमिका नहीं निभायी।

भागीदारी आन्दोलन के तहत कांशीराम ने नारा दिया 'वोट हमारा राज तुम्हारा नहीं चलेगा, नहीं चलेगा।' यह कांग्रेस के लिये चेतावनी थी। कांग्रेस दलितों, पिछड़ों के वोट पर राज कर रही थी। इस वोट बैंक को कांग्रेस से अलग करने के लिये उन्होंने **भागीदारी** का सवाल उठाया। उन्होंने यह समझाया कि बहुजन समाज की संख्या 85 प्रतिशत है पर 15 प्रतिशत अल्प आबादी वाला सवर्ण वर्ग उस पर राज कर रहा है। उन्होंने 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उतनी उसकी भागीदारी' का तर्क देते हुए आबादी के अनुपात से बहुजन समाज की भागीदारी की मांग की। पिछड़ी जातियों के लिये **मंडल आयोग** की सिफारिशों को लागू करने की मांग को भी उन्होंने अपने आन्दोलन में शामिल किया और रैलियां की, जिसे लागू करने का श्रेय 1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह को मिला।

भागीदारी आन्दोलन ने एक तरह से जातीय तुष्टिकरण की राजनीति विकसित की। यह नयी तरह का जातीय जागरण था, जिसने दलित जातियों में जातीय ध्रुवीकरण की चेतना पैदा की। इस क्रम में कांशीराम ने **चमार** जाति को छोड़कर, चूंकि उसका ध्रुवीकरण हो चुका था, पासी, वाल्मीकि, धोबी, कोरी आदि अन्य जातियों के अलग-अलग सम्मेलन किये।

तीसरे सिद्धांत के तहत कांशीराम ने दलित वर्गों को वोट की कीमत का बोध कराया। उन्होंने कहा कि लोकतंत्र में वोटों की ताकत से शासक पैदा होता है। उन्होंने कहा कि दलित वर्ग इसलिये शासक नहीं बन सका, क्योंकि उसने अपने वोट की ताकत को नहीं पहचाना। उसने उसका सही इस्तेमाल नहीं किया। उसका वोट खरीदा जाता रहा और लूटा जाता रहा। उन्होंने बताया कि कांग्रेस का लम्बा राज दलित वर्ग के वोट पर ही चलता रहा है। उन्होंने यह अहसास पैदा किया कि यदि दलित वर्ग को शासक वर्ग बनना है, तो उसे अपने वोट को न लुटने देना है, न बेचना है। उसे उसका उपयोग बहुजन समाज पार्टी के उम्मीदवारों को देकर अपनी ताकत बनाना है।

नब्बे का दशक आरम्भ हो गया था। कांशीराम के राजनैतिक आन्दोलन ने उत्तर प्रदेश में दलित वर्गों में नया उत्साह भर दिया था! सत्ता-परिवर्तन की लहर से बसपा की रैलियों को अभूतपूर्व सफलता मिल रही थी। दलित वर्गों का इतना विशाल ध्रुवीकरण इससे पहले नहीं देखा गया। बामसेफ के समय से कांशीराम

के सहयोगी राजबहादुर, दीनानाथ भास्कर, आर.के. चौधरी और मायावती लोकप्रिय नेता बन चुके थे। 1993 में कांशीराम ने समाजवादी पार्टी के मुखिया मुलायम सिंह यादव से राजनैतिक गठबन्धन किया और उसी वर्ष के विधान सभा चुनाव सपा-बसपा-गठबन्धन ने मिलकर लड़ा। इस संघर्ष को दूसरी आजादी की लड़ाई का नाम दिया गया। इस लड़ाई में सपा-बसपा गठबन्धन को आश्चर्यजनक सफलता मिली पर अनेक ग्रामीण अंचलों में इस चुनाव में दलितों पर अत्याचार हुए और वोट देने की कीमत उन्हें अपनी जान देकर चुकानी पड़ी।

1993 में सपा-बसपा-गठबन्धन की उत्तर प्रदेश में पहली सरकार बनी और मुलायम सिंह यादव उसके मुख्यमंत्री बने।

चूंकि यह जातिवाद का विस्फोट था, इसलिये उसकी प्रतिक्रिया में एक अन्य राजनैतिक ध्रुवीकरण भी हुआ। दलित, पिछड़ी जातियां और मुसलमानों के इस राजनैतिक ध्रुवीकरण से सबसे बड़ी चुनौती राजनीति में **द्विज शासक** वर्ग को मिली। ब्राह्मणवाद के तो अस्तित्व पर ही संकट खड़ा हो गया था। इसे ब्राह्मणों ने साफ-साफ देख लिया था। पूंजीवाद इसलिए सुरक्षित था क्योंकि वह जाति का नहीं, शोषण का तन्त्र है लेकिन चूंकि भारतीय पूंजीवाद का सामन्तवाद और ब्राह्मणवाद से गठजोड़ है, इसलिए पूंजीवादी शक्तियां भी अपने लिये खतरा अनुभव करने लगी थीं। इसकी प्रतिक्रिया दलित उभार के विरुद्ध द्विज गठजोड़ के रूप में हुई, जिसके तहत कांग्रेस के **‘द्विज भाजपा’** के साथ लामबन्द हो गये। यही कारण रहा कि 1993 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को सबसे बड़ी पराजय का सामना करना पड़ा और भाजपा को 177 सीटें प्राप्त हो गयीं।

जाति की राजनीति में यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसे रोका नहीं जा सकता। जातीय समाजशास्त्र में उच्च जातियां कभी भी अपने विशेषाधिकार खोना नहीं चाहेंगी, इसलिये राजनीति में दलित-जातियों के उभार ने उच्च जातियों को ध्रुवीकृत होने का अवसर दिया। **इस समाजशास्त्र को तभी तोड़ा जा सकता है जब सामाजिक परिवर्तन और राजनैतिक क्रांति वर्गीय चेतना के आधार पर हो।**

कांशीराम ने बसपा का विकास जाति के उभार, जातीय अस्मिता और जाति की राजनीति पर किया। इस राजनीति का लक्ष्य था, कांग्रेस को कमजोर करना, जिसमें बसपा को सफलता मिली पर इससे कट्टरवादी ताकतों को जो मजबूती मिली, उससे यह कहा जा सकता है कि भाजपा के लिये बसपा का उदय वरदान बन गया। यह एक ऐसी गुथी थी, जो दलित-आन्दोलन के चिन्तक वर्ग में विशेष चिन्ता पैदा कर रही थी। यह उनके लिये उलझन-भरी गुथी थी। वह यह तो चाहता था कि दलित-राजनीति कांग्रेस की पिछलग्गू न बने; वरन् अपनी पृथक ताकत विकसित करे पर यह उसे पसन्द नहीं था कि वह भाजपा जैसे साम्प्रदायिक पार्टी की मजबूती का कारण बने।

लेकिन यह गुल्थी धीरे-धीरे सुलझती गयी। जैसे-जैसे कांशीराम और मायावती की राजनैतिक गतिविधियां बढ़ती गयीं वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता गया कि उनका राजनैतिक मकसद कांग्रेस को कमजोर करने का नहीं, वरन् ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के खिलाफ दलित आन्दोलन के मूल संघर्ष को खत्म करना था।

सरकार बनने के बाद से ही सपा-बसपा गठबन्धन को तोड़ने की कोशिशें शुरू हो गयी थीं। भाजपा ने मायावती को मुख्यमंत्री बनाने का लोभ देकर सत्ता का सूत्र अपने हाथों में रखने में कांशीराम और मायावती ने मुलायम सिंह यादव और उनकी सरकार के प्रति अनर्गल टिप्पणियां करके राजनैतिक तनाव पैदा कर दिया था। परिणामतः गठबन्धन टूटा और जून 1995 में मायावती भाजपा के समर्थन से मुख्यमंत्री बन गयीं। अब कांशीराम और मायावती का राजनैतिक खेल पूरी तरह खुलकर सामने आ गया था। 1932 में पूना-पैक्ट ने जो भूमिका निभायी थी, वहीं भूमिका बसपा और भाजपा के पैक्ट ने 1995 में ब्राह्मणवाद के डूबते जहाज को ऊपर लाने में निभायी।

1995 से अब तक इन दस सालों में कांशीराम और मायावती ने हर राजनैतिक कदम भाजपा की नीतियों के समर्थन में उठाया है। कहीं मौन रहकर और कहीं बोल कर उन्होंने भाजपा का पक्ष लिया। वे संविधान-समीक्षा के मुद्दे पर मौन रहे और गुजरात में हुए नर-संहार का समर्थन किया। मायावती गुजरात में नर-संहार के बाद हुए चुनावों में भाजपा के लिये वोट मांगने गयीं। दूसरी बार 1997 में और तीसरी बार 2002 में मायावती भाजपा के सहयोग और समर्थन से ही मुख्यमंत्री बनीं। उनके पास अपना न कोई राजनैतिक कार्यक्रम था और न आर्थिक दर्शन, सिवाय मनुवाद-मनुवाद चिल्ला कर जातीय संघर्ष का वातावरण पैदा करने के, इसलिये उन्होंने भाजपा के एजेण्डे को ही पूरी तरह लागू किया।

आज भी उत्तर प्रदेश में मायावती पीड़ित और शोषित वर्ग को संगठित करने के बजाय, जो दलित-आन्दोलन और राजनीति का मूल एजेण्डा है, भाजपा और संघ परिवार के सामाजिक-समरसता के कार्यक्रम पर चलते हुए दलित-ब्राह्मण सम्मेलन करा रही हैं। इस सम्मेलन के द्वारा पूंजीवादी और 'ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति' के दलित और ब्राह्मण सत्ता में अपना स्थान बनाने के लिए हाथ मिला रहे हैं।

दिशाहीनता और नकारा नेतृत्व के कारण जो अन्जाम रिपब्लिकन पार्टी का हुआ, वही भविष्य और परिणाम बसपा का दिखायी दे रहा है। 'पूंजीवादी' और 'ब्राह्मणवादी' शक्तियां भी यह अच्छी तरह अनुभव कर रही हैं कि बसपा का जितना उपयोग वे कर सकती थीं, उतना कर चुकी हैं। अब उसका टूटना और बिखरना जरूरी है। उसके रिक्त स्थान को कोई रेडिकल राजनैतिक विकल्प न भर दे, इसलिए पूंजीवादी और ब्राह्मणवादी शक्तियों ने भी दलितों के बीच कई विकल्प खड़े कर उन्हें संरक्षण देना शुरू कर दिया है, जिनमें अनेक दलित चिन्तक-पत्रकार,

सामाजिक और राजनैतिक संगठन काम कर रहे हैं। वे अलग-अलग विचारधारा से अलग-अलग काम कर रहे हैं पर सामान्य रूप से वे नव आर्थिक उदारवाद और नव साम्राज्यवाद के साथ हैं। पूना-पैक्ट के बाद से ही दलित राजनीति ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद से नियंत्रित और संचालित हो रही है। यही उसकी सबसे बड़ी समस्या है।

सन्दर्भ

1. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 16, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, संस्करण अगस्त 2000, पृष्ठ 228
2. वही, पृष्ठ 230
3. सोर्स मेरीरियल आन डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर एण्ड दि मूवमेंट आफ अनटचेबिल्स, वाल्यूम-1, एजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट आफ महाराष्ट्र, बम्बई, पहला संस्करण दिसम्बर 1982, पृष्ठ 165
4. वही, पृष्ठ 166
5. वही, पृष्ठ 271
6. वही, पृष्ठ 253
7. वही, पृष्ठ 425-26
8. कांशीराम के दो चेहरे कंवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रोशन बाग, सिविल लाइन्स, रामपुर, प्रथम संस्करण 1996, पृष्ठ 14
9. वही, पृष्ठ 26 से 30

दासता तथा बंधुआगीरी

मंजीत सिंह

इतिहास में विभिन्न अवसरों पर जनसामान्य को भिन्न-भिन्न सीमाओं तक आशक्त बनाया गया है, जिसके कारण उसकी सामाजिक अभिव्यक्ति उस विशेष काल में विद्यमान नियंत्रक- संस्थाओं और सांस्कृतिक विकास के स्तर के अनुसार भिन्न रही है। एक समय था जब समाज का अभिजात्य वर्ग मनुष्य की खरीद-बिक्री बाजार में इस प्रकार किया करता था कि मानो वे मवेशी हों। धीरे-धीरे दासों को अपने वश में रखने के प्रयोजन में सामंतों द्वारा दासों को दी गई जमीनें उन्हें पालने की तुलना में अधिक युक्तिपूर्ण साधन बन गईं। प्राचीन दास-प्रथा ने अपनी प्रतिष्ठा अपने अमानवीय स्वरूप के कारण नहीं खोई, बल्कि इसलिए कि यह प्रथा अपना लाभकारी स्वरूप खो चुकी थी। यदि दास-प्रथा का अंत मानवतावादी कारणों से हुआ होता तो इसे 16वीं से 17वीं शताब्दी के नए संसार में पुनः आरंभ नहीं किया गया होता। एक बार फिर 1830 के दशक तक बेहद सस्ते मजदूरों की बड़ी संख्या में उपलब्धता ने गुलामी की इस पुनरुज्जीवित प्रथा का, कम से कम कानूनन ही सही, अंत कर दिया परंतु ब्रिटिश उपनिवेशों खास तौर पर बागानों में दास-प्रथा विभिन्न अवशिष्ट रूपों में चलती रही। इसके बावजूद प्राचीन दास-प्रथा और नई दास-प्रथा में एक स्पष्ट अंतर था। प्राचीन दास-प्रथा का उद्देश्य भेदभाव और शोषण था जबकि नव दास-प्रथा मुख्यतः लाभार्जन के उद्देश्य से अभिप्रेरित थी। नव दास-प्रथा के मामले में बाजार ने इसकी पुनर्स्थापना के साथ-साथ इसके उन्मूलन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नव दास-प्रथा की जहां तक बात है, बाजार ने इसके पुनःप्रचलन और इसकी समाप्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

गुलामी क्यों?

इस प्रश्न का कोई सीधा सा जवाब नहीं है कि गुलामी इतिहास में उत्पादन के अन्य विकसित साधनों से मेल खाने के लिए, जैसा कि मार्क्सवादी तर्क करते हैं, एक तकनीकी जरूरत थी या यह आर्थिक शक्तियों पर राजनीति के वर्चस्व, जिसमें

अनुचित दबाव तथा युद्ध के बन्दियों को दास बनाना शामिल था, का परिणाम था। प्रसिद्ध **निबोर-डोमर (Nieboer-Domar)** परिकल्पना इस पहली मान्यता पर टिकी थी हालांकि उसकी तार्किक व्याख्या समान नहीं थी कि विशेष प्रकार के अर्थशास्त्र अपने अनुरूप सामाजिक संबंधों को गढ़ते हैं। यह परिकल्पना कि गुलामी का अस्तित्व कृषि योग्य भूमि की प्रचुर उपलब्धता और श्रम की कम आपूर्ति की स्थिति की वजह से था, अर्थशास्त्र को इतिहास के एक विशेष काल में लोगों के सामाजिक तथा राजनैतिक-जीवन की तुलना में तरजीही स्थिति में रखने के समान है। ‘आधुनिक’ परिस्थितियों, जिसके प्रमाण नई दुनिया (**New World**) से जुटाए जा सकते हैं, के अंतर्गत इस परिकल्पना का बचाव किया जा सकता है पर उसी स्थिति को प्राचीन गुलामी की प्रथा के स्थान पर रखना इस व्याख्या को केवल इस परिकल्पना से ही जोड़ देना है और यह इस परिकल्पना को सामान्यीकृत सिद्धांत कभी बनने नहीं देगा। यदि हम गुलामी के विशेष चारित्रिक लक्षणों को देखते हुए सोचें तो **निबोर-डोमर** परिकल्पना अति सरल व्याख्या सरीखी प्रतीत होती है।

पैटर्सन (1982) गुलामी के चरित्र की व्याख्या करते हुए इसे एक ऐसी स्थिति बताते हैं जिसमें मालिक अनुचित दबाव का प्रयोग कर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है और गुलाम मानवीय संबंधों से उत्सृत सामाजिक सुरक्षा के बिना शोषण की वस्तु भर बन जाते हैं। “*जंगल दास-प्रथा (Chattel slave systems) में गुलाम अपने मालिक की चल संपत्ति की तरह हैं; जिनका बाजार प्रक्रियाओं के अंतर्गत विनिमय होता है।*” (जेम्स एंड हाइलिगर, 2000) गुलामी की इन चारित्रिक विशेषताओं की पुष्टि विर्ज (Wirz) 2001 भी पैटर्सन, जो गुलामों को ‘**सामाजिक रूप से मृत**’ कहता था, से सहमति जताते हुए करते हैं। गुलामी के विशिष्ट लक्षणों से हम यह समझ पाते हैं कि गुलामों द्वारा कराए जाने वाले उत्पादन की परिस्थितियों के अन्तर्गत राजनीति अर्थशास्त्र पर शासन करती थी और इस प्रक्रिया में गुलामों के सामाजिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करती थी। इस प्रकार की व्याख्या को वही आलोचना झेलनी होगी जिसके विरुद्ध यह व्याख्या एक वैकल्पिक तर्क रचना चाहती है। अर्थात् यह मानना कि गुलामों का किसी भी प्रकार का सामाजिक जीवन था ही नहीं, उन्हें दोपाया पशु मानने के समान है। दास-प्रथा के चरित्र की इस प्रकार की व्याख्या इस प्रथा का जीवन बनाए रखने वाली प्रक्रियाओं के निष्पक्ष आकलन की बजाए ईसाई धर्म के मुक्ति समर्थक आग्रह से रंजित प्रतीत होती है। गुलामों पर राजनैतिक नियंत्रण के दृष्टिकोण से भी उन्हें आपस में लेशमात्र सामाजिक संबंध नहीं बनाए रखने देने का कोई लाभ नहीं है। केवल जोर-जबरदस्ती से उत्पादन अत्यंत अल्प अवधि के लिए ही चल सकता है। अंततः दबाव-प्रेरित यह राजनैतिक अर्थव्यवस्था नीचे से उठने वाले सामूहिक प्रतिरोध के विघटनकारी प्रभावों को झेल नहीं पाएगी बशर्ते कि गुलामों को दंबगई की विचारधारा की बेड़ियों में जकड़ कर

दासता की जड़ स्थिति में नहीं ला दिया जाए। यदि पुरानी दास-प्रथा के प्रमाणों से नहीं तो कम से कम नव दास-प्रथा से गुटमान (Gutman), गुलामों को बोलने वाला उपकरण मात्र मानने वाले सिद्धांत को खारिज करते हैं और बताते हैं कि गुलाम लोग आपसी रिश्तेदारी का स्थायी संबंध और स्वावलंबन की स्थिति बनाते हुए अपने परिवार के साथ रहते थे।

इस प्रकार प्राचीन दास-प्रथा राजनैतिक इस्ट सिद्धि के साथ-साथ आर्थिक अनिश्चितता का परिणाम भी थी पर गुलामों के 'सामाजिक रूप से मृत' होने का दावा करना न तो तर्क सम्मत है और न दासों का गिरोह पालने के उद्देश्य विशेष से मेल ही खाती है। विवेच्य विषय के सम्बन्ध में यूनानी तथा रोमन प्राचीन दास-प्रथा की बजाए मध्ययुगीन दास-प्रथा जिसे 'नव दास-प्रथा' की संज्ञा दी जाती है से बहुत कुछ जाना जा सकता है। विर्ज (2001) कहता है कि दास-प्रथा हालांकि पूरे संसार में किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है पर पूर्ण विकसित गुलाम समाज की संख्या केवल पांच थी। दो प्राचीन समाज यानी दूसरी ई.पू. शताब्दी तथा चौथी ईस्वी के मध्य यूनान तथा रोम के गुलाम समाज और तीन एकदम हाल में प्रचलित ब्राजील, कैरिबियाई तथा दक्षिणी यू.एस.ए. के गुलाम समाज। इस बाद वाली दास-प्रथा के विरुद्ध ही यूरोप में दासता उन्मूलनवादियों (Abolitionists) ने आन्दोलन खड़ा कर दिया था। थौर्नटन (1998) का कहना था कि यूरोपवासियों द्वारा अफ्रीकी गुलामों का व्यापार शुरू करने से पूर्व अफ्रीका तथा अरब में दास-प्रथा देशज संस्थागत रूप में सदियों से विद्यमान रही है।

1500 ई. से 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तक पुर्तगाली, ब्रिटिश, डच, फ्रांसीसी, डेनमार्की, स्पेनी और अमेरिकी समुद्री जहाजों पर 12 मिलियन से भी अधिक अफ्रीकियों को अतलांतिक महासागर के पार चीनी, कॉफी, तंबाकू, चावल, नील और कपास के उत्पादन के लिए मुख्यतः खेत मजदूरों के रूप में ले जाया गया। स्पेनी अमेरिकी क्षेत्र में गुलाम का इस्तेमाल चांदी तथा सोने की खानों में भी किया गया (विर्ज, 2001) लगभग उसी काल में 99 मिलियन अफ्रीकी गुलाम केवल अमेरिका ले जाए गए (फागेल, 1989)। समुद्री यात्रा के दौरान गंतव्य तक की दूरी तथा अन्य परिस्थितियों के कारण मृत्यु दर 10 से 20 प्रतिशत थी। संस्थागत नव दास-प्रथा के विरोध में प्रतिध्वनि 19वीं शताब्दी के आरंभिक भाग में सुनी गयी थी। पर दास-प्रथा विभिन्न रूपों में आज तक जारी रही है। यह दक्षिण की कृषि आधारित अर्थव्यवस्थाओं में उत्तर की नागरीय औद्योगिक अर्थव्यवस्था की अपेक्षा अधिक प्रचलित थी। दक्षिणी गोलाद्ध में रोजगार के जो विभिन्न रूप हैं उनमें श्रम सेवक चाकर, चपरासी, बंधक, प्रतिज्ञा-श्रमिक या ठेका मजदूर।

दास-प्रथा को सभी रूपों में उन्मूलित करने के हाल में किए संगठित प्रयासों का इतिहास लीग आफ नेशन्स के समय से आरंभ होता है। लीग आफ नेशन्स द्वारा

प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार गुलामी किसी व्यक्ति की ऐसी सामाजिक स्थिति या अवस्था है जिसमें उस पर स्वामित्व के अधिकार में निहित कुछ अथवा सारी शक्तियों का प्रयोग किया जाता है। अपने संपूरक सम्मेलन (**Supplimentary Convention**) में 1956 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने गुलामी की प्रथा तथा इसके अवशिष्ट रूपों दासता, कृषक-दासता, बच्चों का बंधकीकरण और दासता विवाह के ऊपर नया प्रहार शुरू किया। उस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले सभी राष्ट्रों के पूरे प्रयास के बावजूद सूडान में गुलामों को निजी संपत्ति के रूप में रखने की प्रथा आज भी मौजूद है। (**जेम्स तथा हाइलिंगर, 2000**) दासता के विरुद्ध संघर्षरत प्रारंभिक संगठनों में से एक एंटी स्लेवरी इंटरनेशनल द्वारा प्रस्तुत आकलन के अनुसार 200 मिलियन से भी अधिक मजदूर किसी न किसी स्तर के बंधुआ मजदूर के रूप में काम करते हैं। प्रबुद्ध विचारों की सच्ची भावना के अनुरूप अपने इस संसार को स्वतंत्र घोषित करने के लिए हमें अभी लंबी यात्रा तय करनी है।

बंधुआ गुलामी का भारतीय इतिहास

भारत में बंधुआ गुलामी के ऐतिहासिक विवरणों से बंधुआ-दासता के चरित्र और व्यापकता के अन्तर्संबंध तथा अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति के विकास के स्तर के बीच के संबंधों का स्पष्ट पता चलता है। वैदिक काल के चरवाहा समाज में भी गुलाम थे जो युद्ध के दौरान बंदी बना लिए गए थे। मैके (**1948-49**) ने तो दिखाया है कि मोहन जोदड़ो सभ्यता में भी दास होते थे। भारत में दास-प्रथा के प्रचलन के विवरण ऋग्वेद में भी मिलते हैं (**शर्मा, 1980**)। उस समय मवेशी और दास/दासियों का स्वामित्व संपत्ति के दो प्रमुख स्रोत थे। धीरे-धीरे चरवाहा संस्कृति का स्थान स्थायी कृषि अर्थव्यवस्था ने ले लिया और इस परिवर्तन से दास-प्रथा तथा पराश्रित होने की प्रकृति पर प्रभाव पड़ा। युद्ध के दौरान बनाए गए दासों की संख्या अब ऐसे गुलाम मजदूर, जो शरणग्रस्तता के कारण गुलाम बने, की तुलना में कम पड़ गई। मौर्य साम्राज्य के उत्पादन के सबसे बड़े नियंत्रक के रूप में उभरने से बंधुआ मजदूर और नव दास-प्रथा को उत्पादन के तत्कालीन संबंधों में पुनः बढ़ावा मिला। अर्थशास्त्र जो मौर्यकालीन राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर प्रकाश डालने वाला एक दुर्लभ दस्तावेज है को लिखते हुए कौटिल्य ने दासों को नहीं बल्कि ऋणी बंधुआ मजदूरों को सुरक्षा दी (**चक्रवर्ती, 1985 : 50**)। परिणामतः उपलब्ध प्रमाणों से पता चलता है कि ऋणी बंधुआ दास-प्रथा मौर्य साम्राज्य में व्यापक रूप से प्रचलित थी। मौर्यकाल के बाद 200 ई. पू. से 300 ई. तक की अवधि के मध्य विकसित स्थितियों के सर्वोत्तम विवरण मनु ने प्रस्तुत किए हैं। (**शर्मा, 1980 : 192**) यह वह समय था जब जाति की ब्राह्मणवादी विचारधारा में प्रतिपादित स्थिति तथा श्रमिक आम जन के भोगे यथार्थ में तनाव को शिद्दत से महसूस किया गया। मनु ने ही दासत्व को सामाजिक

रूप से संरचित-व्यवस्था बनाने की बजाए शूद्रों के लिए स्थायी स्वीकृति प्राप्त स्थिति के रूप में व्याख्यायित किया। इसका अर्थ है कि बंधुआ श्रमिकों तथा दासों की दशा को लेकर सामाजिक असंतोष को जाति और धर्म की ब्राह्मणवादी विचारधारा की धौंस के द्वारा शांत कर दिया गया। यह अवधारणा कि शूद्र जन्मजात दास हैं और ब्राह्मणों की सेवा के लिए हैं ने तत्कालीन विषमतामूलक सामाजिक प्रणाली को धार्मिक आयाम दिया। इस मामले में भारत का कोई जोड़ नहीं है कि यहां अधार्मिकता और धार्मिकता के योग से ऐसी सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक श्रेणियों में विभक्त व्यवस्था बनी जिसके परिणामस्वरूप श्रेणीबद्ध नस्लगत संबंधों से बने समाजों से भी निकृष्टतर सामाजिक संरचना अस्तित्व में आई। यही कारण है कि बुद्ध के समय से आज तक जाति बंधनों की बेड़ियों को खोलने के लिए किए गए सारे प्रयत्नों का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला है।

गुप्त काल में दासों को घरेलू कार्य में लगाया गया और कृषक दास मजदूरों के रूप उनकी भूमिका न्यूनतम हो गई। इस परिवर्तन के कारणों में एक कारण जमीन की जोतों का बढ़ता हुआ विखंडीकरण बताया गया है। पूर्व मध्य युग में निम्न जातियों के मजदूरों पर प्रथागत अधिकार सामाजिक तथा भौगोलिक दृष्टि से व्यापक रूप से उपलब्ध था अर्थात् बलपूर्वक मजदूरी कराने का अधिकार समाज में स्थानीय अधीनस्थ कर्मचारियों को मिला हुआ था तथा भौगोलिक दृष्टि से यह गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और कर्नाटक राज्य में फैला हुआ था। (राय, 1976 : 41) शर्मा (1965 : 66) ने पाया है कि ऋणों पर विभिन्न प्रकार के ब्याज लगाने के प्रचलन की शुरुआत 5वीं शताब्दी से हुई और कालांतर में मजदूरों को बंधुआ दासता के चंगुल में फंसाने में सहायक सिद्ध हुई। इस काल में दास मजदूरों की जरूरत को बड़े पैमाने पर बंधुआ-श्रमिकों या पराश्रित मजदूरों के इस्तेमाल के कारण टाला जा सका। (चक्रवर्ती, 1985 : 56) दिलचस्प बात यह है कि जाति-व्यवस्था वाले समाज में ऋणी व्यक्ति की सामाजिक हैसियत के अनुसार ब्याज की दर तय की जाती थी, यानी जितनी नीची जन्मगत सामाजिक स्थिति, उतना ही ऊनी ब्याज दर, कोसाम्बी ने (1975) ने लिखा है कि यूरोप में प्राचीन दास-प्रथा या सामंती कृषक दास-प्रथा के समान भारत में स्थायी ऋण मजदूर के वर्ग को समाज में रखने का प्रचलन था।

ऐसा नहीं था कि केवल पुरुषों को ही गुलाम बनाया जाता था। वस्तुतः वैदिक समाज में दासों की तुलना में दासियों की संख्या अधिक थी। ब्राह्मण पुरोहित बड़ी संख्या में दासियां ही रखता था। वे उनकी दैहिक आवश्यकताओं को पूरा करने के अतिरिक्त अन्य कार्य करती थीं। धनी दुल्हन के दहेज के हिस्से के रूप में भी दासियां कभी-कभी शामिल की जाती थीं। (चक्रवर्ती, 1985)। रोचक तथ्य यह है कि उस समय के दयालुतम विचारक ने भी दास तथा बंधुआ मजदूर प्रथा के उन्मूलन

के लिए स्वर नहीं उठाया। बुद्ध ने भी केवल व्यवस्था के परिष्कार की बात की ताकि मजदूरों में उस समय व्याप्त अलगाव की भावना को स्वामी के प्रति भक्ति भावना में बदला जा सके तथा बल प्रयोग के तत्व को कमजोर किया जा सके। बुद्ध इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के अंत की बजाए सामाजिक एकता को लेकर अधिक चिंतित प्रतीत होते हैं, जिसके लिए ऋणी बंधुआ मजदूर रखने की प्रथा को वैध बनाए जाने का तर्क आज भी दिया जाता है। चूंकि भारत में धार्मिक स्तर पर भी बंधुआ मजदूर और दास-प्रथा को स्वीकृति प्राप्त थी, इसलिए एक सामान्य प्रेक्षक द्वारा इस प्रचलन पर टिप्पणी करने की संभावना नहीं थी। (किदवई, 1985 : 76)

बंधुआ मजदूर रखने की प्रथा को परवर्ती सामाजिक तथा राजनैतिक सिद्धांतकारों द्वारा सामाजिक व्यवस्था में इतना अधिक मिलाया गया कि मध्ययुगीन ग्रामीण भारत का यह एक स्वीकृत अंग ही बन गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है बलात्-श्रम तथा ऋण बंधुआ मजदूर पूर्व मध्ययुग में व्यापक रूप से प्रचलित थे। आठवीं शती के बाद से ऋणों पर ब्याज चुकता करने के लिए शारीरिक काम लेने का प्रचलन था। (शर्मा, 1965 : 68) मध्ययुग में नगरीकरण के फैलाव से मुद्रा तथा बाजार व्यवस्था का महत्व बढ़ा। इससे भी शहरी दास बाजार को बढ़ावा मिला। (किदवई 1985 : 80) फिरोजशाह तुगलक के शाही कारखाने में 12000 गुलाम कार्यरत थे। इस काल में घरेलू गुलाम प्रथा के बढ़ने का भी यही कारण था।

पश्चिमी जगत में जहां दासता और बंधुआ मजदूरी का स्वामी वर्ग से एकदम अलग स्पष्ट अस्तित्व था, भारत में इनकी प्रकृति एक सांब्यतक की सी थी। सरकार (1985) ने उपनिवेशकालीन भारत में प्रचलित तीन प्रकार की दास-प्रथा की पहचान की है। पहले प्रकार में वे शहरी गुलाम हैं, जिन्हें भारतीय राज्य और कुलीन वर्ग के लोग तथा नए महानगरों के गोरे अभिजात लोग अपने घरेलू कार्यों में लगाते थे। ये वे दास थे, जिनकी कलकत्ता, चेन्नई तथा मुंबई के अच्छी तरह से स्थापित दास बाजार में खरीद-बिक्री चलती थी। मालिक तथा गुलाम के बीच सामाजिक संबंध और गुलामों में स्वयं अपनों के बीच के सामाजिक रिश्ते विशुद्ध रूप से बाजार की दृष्टि से नियंत्रित होते थे। अर्थात् गुलाम एक सामाजिक शून्यता की स्थिति में जी रहे थे। दूसरे, वे दास थे जो बड़े शहरों तथा नगरों एवं गांवों में रह रहे बड़े और धनी परिवारों के गुलाम थे। रईस वर्गों में गुलाम रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक था।

“एकदम देसी स्थानीय स्रोतों से अपहरण, जबरन बिक्री, स्वैच्छिक बंधुआ मजदूरी और विवाह अथवा दूसरे दास के साथ यौन संबंधों के द्वारा दास बनाए जाते थे।” (सरकार, 1985 : 101) प्रथम प्रकार में मालिक और गुलाम के बीच के अज्ञात संबंधों के विपरीत दूसरे प्रकार में उनमें संरक्षक तथा आश्रित का संबंध था। यही कारण था कि दास-प्रथा के अंत के बाद भी बहुतेरे गुलामों ने अपने स्वामियों के साथ नौकर के रूप में रहने को तरजीह दी। तीसरा प्रकार ग्रामीण दासों का था, जो ग्रामीण भारत

की एक व्यापक संरचनात्मक विशेषता बना रहा। इन दासों में बंधुआ खेत मजदूर थे, जो उच्च तथा मध्यस्तरीय किसान जातियों द्वारा रखे जाते थे और इन्हें बाजार दर से कम पर बल्कि जीवन निर्वाह भर की मजदूरी, जो प्रायः सेवाओं के रूप में दी जाती थी, पर रखा जाता था। (उपरोक्त, पृष्ठ 102) जातिगत सामाजिक संरचना ने ग्रामीण दास-प्रथा को निश्चित रूप देने तथा उन्हें बनाए रखने में बड़ी भूमिका निभाई। सभी अछूतों को सामूहिक रूप से दास का नाम दिया गया। ग्रामीण दासों को पूरी तरह उनके स्वामियों की संपत्तियों में गिना जाता था। सैद्धांतिक रूप से उन दासों को इच्छानुसार खरीदने, बेचने, बंधक रखने या किराए पर देने का अधिकार उनके स्वामियों को था। दक्षिणी भारत में गुलामों पर सामूहिक रूप से पूरे गांव का तथा व्यक्ति दोनों का अधिकार होता था जबकि पूर्वी बंगाल, बिहार और उड़ीसा में केवल वैयक्तिक स्वामित्व का ही प्रचलन था। कोई मालिक अपने गुलाम का हस्तांतरण तीन प्रकार से कर सकता था - पूर्ण विक्रय, बंधकीकरण या किराए पर देना (उपरोक्त, पृष्ठ 205)। यहां ध्यान देने की बात यह है कि दास बाजार को भेदभाव मूलक सामाजिक श्रेणी व्यवस्था ने संबल दिया। गुलामों की कीमत उनकी जाति की धार्मिक ढांचागत स्थिति के अनुसार प्रायः कम या अधिक होती थी और इस मूल्य निर्धारण में उनके कार्य योग्यता की कोई भूमिका नहीं थी। स्वामी अपने दासों के विवाह तथा अंत्येष्टि पर आने वाले खर्च वहन करता था। साथ ही सेवा के रूप में प्रदत्त निर्वाह मजदूरी तथा खेती के लिए कभी कभी भूमि अनुदान के अतिरिक्त। दासों को स्वामी के घर से कुछ दूर बने सामान्यतः किराया मुक्त घर दिए जाते थे। (कुमार 1965 : 38) यह तर्क भी दिया गया है कि गुलामों और श्रेष्ठ व्यक्तियों, जो दास नहीं थे, में अधिक अंतर नहीं था क्योंकि दोनों ही कई प्रकार से अत्यधिक गरीबी का जीवन जी रहे थे। उचित रोजगार के अभाव, सामाजिक पराधीनता, अछूतों और निकृष्ट जातियों का जमीन रखना लगभग पूरी तरह असंभव होने के कारण जो खेतीहर मजदूर गुलाम नहीं थे, उनकी आजादी बस नाम की ही थी।

इस सर्वव्यापी निर्धनता तथा लाचारी की स्थिति में दासों को अपनी सामाजिक कलंक की भरपाई जीवन निर्वाह की न्यूनतम सुविधा की आश्वस्ति से हो जाती थी। कानून द्वारा इन तीनों प्रकार की गुलामी को 19वीं शताब्दी के मध्य तक समाप्त कर दिया गया था। इसके बावजूद जबरी मजदूरी तथा दास मजदूरी भी चलती रही। आज ऋण बंधुआ मजदूरी की ऐतिहासिक जड़ें इसी प्रकार की गुलामी से निकली हैं। व्यवहार में ऋण बंधुआ मजदूरी का कहां अंत होता था और कहां से दासता की शुरुआत होती थी, इसके बीच की रेखा खींच पाना कठिन था। ऋण ग्रस्त बंधुआ मजदूर कर्ज लेने के बाद काम करना शुरू कर देता था और उस ऋण पर अर्जित होने वाले ब्याज के बदले में उससे काम कराया जाता था। ऋण ग्रस्त होने की स्थिति में मजदूर को बस जीने भर पैसे दिए जाते थे, जिसमें मूलधन चुकाने की उसकी कोई संभावना नहीं बचती थी। परिणामतः, ऋण बंधुआ मजदूरी को आसानी से

पीढ़ीगत बंधुआगिरी जिसकी सामाजिक दशा गुलामों के समान ही थी, में परिणत कर लिया जाता था। ऋण प्रायः विवाह के खर्चे के जुगाड़ के लिए लिए जाते थे। (रिसले, 1891) बंधुआ मजदूरी का कृषि में प्रचलन दक्षिणी राज्यों, पश्चिमी राज्यों तथा पूर्वी राज्यों, यथा बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में पाया जाता है।

छोटानागपुर क्षेत्र में आदिवासी तथा अछूत जाति के लोग या तो स्थायी रूप से दास बने हुए थे या बंधुआ मजदूर थे जो समझौते द्वारा स्वयं को जीवन भर के लिए बेच देते थे। ऐसी ही स्थिति गुजरात के हली लोगों की थी। बंधुआ मजदूरी की प्रथा को सरकारी तौर पर 'वर्कमैन्स बीच आफ कॉन्ट्रैक्ट एक्ट, 1859' से काफी बल मिला। इस अधिनियम ने संविदा शर्तों के उल्लंघन को कानूनन दंडनीय बनाकर पूरा ऋण बिना चुकाए गुलामी से मुक्त हो पाना असंभव बना दिया। (सरकार, 1985 : 110) यह भूमि पर अधिकार रखने वाली जातियों के हित में ही था कि वे बंधुआ मजदूरों को जमीन का मालिक न बनने दें। पर सभी बंधुआ मजदूरों में सामाजिक एका नहीं था। शुद्ध/अशुद्ध जातियों की विचारधाराएं निम्न जातियों को एकजुट नहीं होने देती थीं और वे आपस में भी छुआछूत मानते थे। अटल ईश्वरेच्छा का रूप देकर परोसी गयी प्रभुत्ववादी विचारधारा ने पराधीनता को निम्न जातियों के लिए भी लगभग प्रकृति द्वारा निर्धारित व्यवस्था के रूप में स्थापित कर दिया। प्रभुत्व की स्थिति शुद्धता तथा अपवित्रता के ऊपर से स्थापित शोषणमूलक ढांचे के भीतर विभिन्नताओं को श्रेणीगत क्रम में बांधकर प्राप्त की गई थी। ब्रीमैन (1974) को भी इस बात का विश्वास था कि पारंपरिक भारत में सभी खेतिहर मजदूर किसी न किसी प्रकार की बंधुआगिरी में काम कर रहे थे। सरमा मरला द्वारा 1981 में बंधुआ मजदूरों के किए गए एक सर्वेक्षण से स्पष्ट पता चलता है कि भारत में बंधुआ मजदूरों में से 87 प्रतिशत दलित तथा आदिवासी थे।

ऋण की एक छोटी राशि जो प्रायः सामाजिक समारोहों के लिए ली जाती थी, ऋण बंधुआगिरी को पीढ़ी दर पीढ़ी नैरंतर्य देने के लिए पर्याप्त होती थी सरकार (1985 : 113) ने लिखा है कि रोजगार की अनिश्चितताओं और अभाव या भूख से निबटने के लिए भी किसी न किसी बहाने ऋण लिए जाते थे। बंधुआगिरी का अर्थ काम करने की केवल बाध्यता नहीं बल्कि रोजगार का अधिकार भी था। (कुमार धर्म, 1965) सरकार भी रोजगार गारंटी के इस विचार को मानते हैं क्योंकि ऋण बंधुआगिरी मूलतः एक स्वैच्छिक पराधीनता थी। (पृष्ठ 113-14)

अर्थव्यवस्था के व्यवसायीकरण स्वतः ही उत्पादन के सामंती संबंधों को नहीं तोड़ देते। वस्तुतः कई स्थितियों में यह मामला खराब ही करता है। इसका स्पष्टतम उदाहरण चाय बागानों तथा गन्ना उत्पादन में आधी शताब्दी से भी अधिक समय से कतारबद्ध मजदूरों का नियोजन है जिसे 1915 में कानून बनाकर अंततः समाप्त किया जा सका। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार से भी बंधुआगिरी को सहारा ही मिला।

स्वतंत्र भारत में बंधुआ मजदूरी

द रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इन्डिया (1931) ने बंधुआ मजदूरी की परिभाषा दी थी “जिसमें मजदूर कर्ज के चुकता हो जाने तक काम करने के करारनामे के तहत भूस्वामी से कर्ज लेता है, कर्ज घटने की बजाए बढ़ता ही जाता है और कभी-कभी ऋण लेने के लिए परिवार को भी बंधुआगिरी करनी होती है।” (नेन्ता, 1997 : 2) स्वतंत्र भारत में भूमि सुधार हालांकि प्राथमिकता प्राप्त कार्यक्रम थे, ऋण-बंधुआगिरी के अंतर्गत पीढ़ियों से काम करते आ रहे खेतिहर मजदूरों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। संविधान धारा सं. 23 (1) बेगार या जवरी मजदूरी को निषिद्ध करती है पर सरकारों ने संविधानगत प्रावधानों को उसकी आंतरिक भावना के अनुसार कार्यावित करने पर ध्यान नहीं दिया। ग्रामीण भारत में जमींदारों के लिए ऋण बंधुआगिरी श्रम को उपलब्ध कराने का सबसे सस्ता स्रोत बना रहा। 1970 के दशक के आरंभ में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के आयोग ने अपनी रिपोर्ट (1971-72 तथा 1972-73) में बंधुआ मजदूरी की प्रथा को पुनर्परिभाषित करते हुए कहा कि “इस प्रथा में व्यक्ति ऋण लेने के बदले में स्वयं को या अपने परिवार के किसी सदस्य को बंधक रखता है। बंधक का करार करने वाला या उसके द्वारा नामित व्यक्ति ऋण के चुकता होने पर ही इससे मुक्त होता है। तब तक उस व्यक्ति को स्वयं अथवा उसके परिवार के सदस्य को दैनिक भोजन या अल्प मजदूरी लेकर ऋण दाता के लिए काम करना पड़ता है, चूंकि उसे बहुत कम पैसे मिलते हैं इसलिए उसे ऋण मुक्ति के लिए पैसे जुटाने हेतु अपने परिवार के किसी सदस्य पर निर्भर रहना पड़ता है, पर ऐसा विरले ही हो पाता है। यह संबंध महीनों, कभी-कभी बरसों और कुछ मामलों में आजीवन चलता रहता है फिर प्रायः उसके पुरुष उत्तराधिकारी को भी अपनी लपेट में ले लेता है।”

इस रिपोर्ट के प्रकाशन ने बंधुआगिरी की व्यापकता तथा इसके विभिन्न स्वरूपों का सर्वेक्षण करने के लिए पर्याप्त औचित्य उपलब्ध करा दिया। ‘वी.वी गिरि नेशनल लेबर इन्स्टीट्यूट’ ने बिहार, उड़ीसा तथा आसपास के क्षेत्रों में सर्वेक्षण पूरा किया। (1970 के दशक के मध्य तक बुलेटिन के विभिन्न अंक) इसका परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार को न केवल कृषि क्षेत्र में बंधुआ मजदूरों के अस्तित्व को स्वीकार करने को विवश होना पड़ा बल्कि उसे इस प्रथा के उन्मूलन के लिए संसद में एक अधिनियम भी पारित करना पड़ा। बंधुआगिरी को इस बॉन्डिड लेबर सिस्टम (एबॉलिशन) एक्ट, 1976 में पूर्ण रूप से परिभाषित किया गया है। यह अधिनियम न केवल यह कि बंधुआ मजदूरी को समाप्त घोषित करता है बल्कि सभी ऋणों को भी समाप्त करता है, बंधुआ मजदूर की संपत्ति को मुक्त करता है तथा मुक्त मजदूरों को अपने घरों से निष्कासित किए

जाने से संरक्षण प्रदान करता है और अधिनियम द्वारा समाप्त घोषित ऋण के बदले में ऋणदाता को अदायगी स्वीकार करने को आपराधिक जुर्म की संज्ञा देता है। यह अधिनियम जिलाधीश को अपने अधिकार क्षेत्र में बंधुआगिरी के उन्मूलन के लिए स्पष्ट रूप से उत्तरदायी मानता है, जिसमें असफल होने पर उसके विरुद्ध अनुशासनिक कार्रवाई शुरू की जा सकती है। जिलाधीश के लिए जिला तथा सब डिवीजन दोनों स्तर पर सतर्कता समिति गठित करना भी अनिवार्य है। यह अधिनियम मुक्त बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए तथा उन्हें पुनः बंधुआ मजदूरी करने की विवशता से बचाने लिए ढांचागत सुविधाएं प्रदान करने के लिए उत्तरदायी बनाया है। 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में राजनैतिक दृश्य काफी अस्थिर था और इस कारण इस पर लोगों का ज्यादा ध्यान नहीं गया। बंधुआ मजदूरी पर सरमा मारला की रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद कृषि क्षेत्र में बंधुआ मजदूरी का मुद्दा एक प्रमुख मुद्दे के रूप में उभरा। तीन विभिन्न स्रोतों से बंधुआ मजदूरी पर ये आंकड़े प्रस्तुत किए गए

राज्य सरकारों द्वारा दिया गया आंकड़ा	नेशनल सैम्पल सर्वे 1979	गांधी शांति फाउंडेशन 1981 (12 राज्य)
1,20,561	3,45,000	26,17,000

स्रोत : नेशनल सेन्टर फॉर ह्यूमन सेट्टलमेन्ट एंड एनवायरनमेंट की रिपोर्ट, 1987 खंड 1 तथा 2

इन आंकड़ों में व्यापक अंतर बंधुआ मजदूरी की व्याख्या में भिन्नता के कारण है। यदि हम नेशनल सैम्पल सर्वे के आंकड़ों से भी देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बड़ी संख्या में बंधुआ मजदूर स्वतंत्र भारत में बचे रहे जिन्हें ग्रामों में रह रहे धनी लोगों ने इस्तेमाल किया। बाद में विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों, शोध संस्थानों तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा भी बड़ी मात्रा में साहित्य तैयार किया गया। (हौलप, 1994; सिंह, 1994 तथा प्रकाश, 1990) इसका नतीजा यह हुआ कि केंद्रीय सरकार ने देश के विभिन्न भागों में बंधुआ मजदूरी की समस्या से निबटने के लिए एक पूरा विभागीय ढांचा ही स्थापित कर दिया। महानिदेशक श्रम कल्याण, श्रम मंत्रालय, भारत सरकार पर बंधुआ मजदूरों की पहचान, मुक्ति और पुनर्वास को नियमित रूप से मानीटर करने की जिम्मेदारी होती है। उसी प्रकार राज्य सरकारों से अपनी मानीटर एवं पुनरीक्षण समितियां बनाने की अपेक्षा की जाती है जो सतर्कता समितियों को जिला स्तर तथा निचले सबडिवीजन स्तर पर क्रियाशील बना सकें। योजना आयोग के प्रोग्राम रवैलुएशन आर्गनाइजेशन द्वारा किए गए एक अध्ययन के अनुसार सतर्कता समितियां, जो अनिवार्य हैं, बहुत से राज्यों में या तो गठित ही नहीं की गईं या फिर निष्क्रिय हैं। यद्यपि श्रम मंत्रालय बंधुआ मजदूरों के संबंध में

आंकड़े नियमित रूप से प्रकाशित करता रहता है, परंतु इस बंधुआ मजदूरी की प्रथा के उन्मूलन में बाधक वास्तविक-समस्याओं का पूरी तरह निवारण नहीं कर पाया है।

भारत सरकार द्वारा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को भेजी गयी रिपोर्ट के अनुसार हमारी सतर्कता समितियों ने 31 मार्च 2000 तक 288411 बंधुआ मजदूरों की पहचान की थी। इनमें से 251569 मजदूरों का पुनर्वास कर दिया गया था, 19,962 मुक्त बंधुआ मजदूर या तो मर गए या फिर देश के अन्य भागों में चले गए तथा दूसरे 8,880 बंधुआ मजदूर पुनर्वास की प्रक्रिया में है।

1999 ई. में यू.एस.ए. के डिपार्टमेंट ऑफ स्टेट्स ने दास मजदूरों के निम्नलिखित रूप भारत में पाए बंधुआ मजदूर, जबरी मजदूर, करारबद्ध तथा बाल बंधुआ मजदूर, बलात् वेश्यावृत्ति जेल मजदूर से निजी नियोक्ताओं तथा वेश्यालयों के लिए ठेके पर काम कराना, काम करने वालों की अधिक संख्या असंगठित क्षेत्र में लगी है तथा उनमें से कुछ घरेलू नौकर के रूप में भी खटते हैं। अनुमान है कि भारत में लगभग 50 लाख बंधुआ मजदूर हैं। कुछ दरिद्र माता-पिता अपने बच्चों को भी विवश है। (जेम्स तथा हाइलिंगर, 2000)

बंधुआ मजदूरी प्रथा काम लेने के पूंजीवाद पूर्व प्रणाली का एक लक्षण मात्र नहीं है। यह अल्पविकसित राज्यों में प्रचलित तो है ही, हमारे विकसित राज्यों, जैसे पंजाब, हरियाणा में भी उसी हद तक प्रचलन में है। कारण यह है कि बंधुआ मजदूरी से न सिर्फ श्रम की नियमित आपूर्ति सुनिश्चित होती है, बल्कि यह श्रम बाजार में उच्च लागत क्षमता भी सुनिश्चित करती है। यही कारण है कि पंजाब के कृषि उत्पादन में सबसे उन्नत राज्य होने के बावजूद यहां के किसान बंधुआ-मजदूर रखना बेहद पसंद करते हैं।

अनुवाद : अकील क़ैस

अंबेडकर युग में दलित चेतना की छटाएं, परिवर्तन, सुधार या प्रतिक्रिया की ओर

सुभाष गाताडे

नए सहस्राब्द की शुरुआत व्यापक सामाजिक परिवर्तन की सम्भावनाओं से परिपूर्ण दलित चेतना के वाहक आंदोलन के सामने नई किस्म की चुनौतियों के साथ उपस्थित हुई है। निश्चित ही वह दौर बीत गया जब एक स्वाभिमानी तथा स्वायत्त किस्म के दलित- आंदोलन ने अपने पहले डग भरे थे। औपनिवेशिक सत्ता के वर्चस्व के कालखण्ड में उठ खड़े राष्ट्रीय आन्दोलन तथा वर्गविहीन समाज रचना के लिए प्रतिबद्ध कम्युनिस्ट आंदोलन के साथ टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुजरता वह कारवां आज एक नए मुकाम पर पहुंचा है। इसमें कोई दो राय नहीं कि अपनी एक नई भाषा गढ़ते हुए, अपनी एक अलग पहचान कायम करते हुए और सभी स्थापित मानदण्डों पर प्रश्नचिह्न खड़े करते हुए प्रचण्ड स्वाभिमान के साथ खड़े इस आंदोलन ने न केवल भारत की सियासत में नया मुहावरा जोड़ा है बल्कि ऊंच-नीच के अनुक्रम पर टिकी भारत की मनुवादी समाज व्यवस्था के व्यापक लोकतांत्रिकरण की प्रक्रिया को एजेण्डे पर लाने में भी वह सफल हुआ है।

यह दलित चेतना की स्वीकृति का ही प्रतीक है कि दक्षिण से लेकर उग्रवाम तक, उदारवादी सियासदानों से लेकर तमाम किस्म के सामाजिक-सांस्कृतिक जमातों तक सभी को इसकी सशक्त उपस्थिति पर न केवल गौर करना पड़ा है बल्कि भारत के राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य में आई इस 'नई बयार' के सामने सिजदा करना पड़ा है। यह दलित चेतना की ताकत का ही परिचायक है कि हमारी भाषा-बोली, हमारा रहन-सहन, हमारी प्राचीन 'गौरवशाली' संस्कृति में अन्तर्निहित वर्ण-मानसिकता तथा ब्राह्मणी मूल्य, शुद्धता तथा प्रदूषण पर टिकी जाति-व्यवस्था द्वारा सदियों से तराशी जा रही हमारी समाज-व्यवस्था सभी पर सवाल खड़े हुए हैं।

लेकिन आज जबकि उसकी उपलब्धियों की चर्चा जोरों पर है, यहां तक कि

दुनिया के विभिन्न मंचों पर भी भारत में आज भी जारी इस 'विशिष्ट किस्म के रंगभेद' के खिलाफ आवाज़ बुलन्द करने में दलित चेतना के वाहक सफल हुए हैं, उसी समय भारतीय समाज में उठे इस आलोड़न की भविष्य की यात्रा को लेकर नए सवाल खड़े हुए हैं।

प्रस्तुत नोट में दलित चेतना के वर्तमान परिदृश्य की तथा भविष्य की चुनौतियों की पड़ताल करने की कोशिश की गई है। लेकिन उसकी पृष्ठभूमि के तौर पर इतिहास में भी झांकने की कोशिश की गई है ताकि जाना जा सके कि दलित चेतना की यात्रा कहां से कहां तक पहुंची।

2.

हिन्दुओं को चाहिए थे वेद,
इसलिए उन्होंने व्यास को बुलाया
जो सवर्ण नहीं थे।
हिन्दुओं को चाहिए था एक महाकाव्य,
इसलिए उन्होंने
वाल्मीकि को बुलाया जो खुद अद्वैत थे।
हिन्दुओं को चाहिए था एक संविधान
और उन्होंने मुझे बुला भेजा।

बाबासाहेब अंबेडकर की मराठी कविता की चन्द पंक्तियों,
इलिएनर जिलिएट के लेख में उद्धृत

(एन एन्थालाजी आफ दलित लिटरेचर, दिल्ली, ज्ञान 1992)

सबसे पहले हम यह देखना चाहेंगे कि दलित चेतना आखिर किसे कहा जाए? इसे स्पष्ट करना इस मुकाम पर इसलिए जरूरी है क्योंकि भारतीय सियासत में जब से सांप्रदायिक फासीवादी ताकतों का बोलबाला बढ़ा है, तब से दलित-चेतना की सर्वमान्य समझदारी को 'हिन्दुत्व की चेतना' से प्रतिस्थापित (Substitute) करने की जोरदार कोशिशें हो रही हैं। सूबा गुजरात का उदाहरण सबके सामने है, जहां हिन्दुत्व ब्रिगेड के सिपहसालारों ने मुसलमानों के व्यापक जनसंहार का जो (बकौल अशोक सिंघल) 'सफल प्रयोग' किया तथा जिसमें दलितों के एक हिस्से को भी शामिल कराया गया, उसने इस सवाल को जरूरी बना दिया है।

अगर सर्वस्वीकृत या सर्वमान्य समझदारी के हिसाब से देखें तो दलित-चेतना वह चेतना है जो शुद्धता तथा प्रदूषण पर आधारित, ऊंच-नीच अनुक्रम पर टिकी ब्राह्मणवादी विचारधारा के बरअक्स एक समतामूलक समाज के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध है। निश्चित ही वह मनु द्वारा रचे गए संविधान को नकारती है, मनुष्य के जन्मप्रदत्त श्रेणीक्रम को अस्वीकार करती है। यह विचारधारा श्रम को हेय मानने की प्रवृत्ति को चुनौती देती है और उसके स्थान पर समग्र मानवजाति की मुक्ति की बात

करती है। उल्लेखनीय बात है कि दलित-चेतना की अवधारणा में एक अन्तर्निहित गतिशीलता है। इसे जड़ रूप में कतई नहीं समझा जा सकता। इसकी बानगी हम दलित-विद्रोह के कारवां को यहां तक पहुंचाने वाले विभिन्न सामाजिक विद्रोहियों के लेखन तथा कार्य में देख सकते हैं। यदि भक्ति-आंदोलन के दलित सन्त चोखामेला, जिन्हें तत्कालीन मान्यताओं के तहत ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करने से भी वंचित किया गया था, इसी बात में संतोष प्रकट करते हैं कि वे मंदिर की सीढ़ी तक ही अपने को सीमित रखेंगे तो उसके बाद आने वाले विद्रोही अपनी बगावत को दुनिया के पैमाने पर चलने वाले मुक्ति आंदोलनों से जोड़ते हैं। 19वीं सदी में अपने सत्यशोधक समाज के जरिए शूद्रों, अतिशूद्रों, स्त्रियों के विशाल उत्पीड़ित तबके में परिवर्तन की नई चेतना का संचार करने वाले महात्मा फुले अपनी किताब 'गुलामगिरी' तत्कालीन अमेरिका में दासप्रथा की समाप्ति के लिए चल रहे संघर्ष के योद्धाओं को समर्पित करते हैं। पेरियार रामस्वामी नायकर ब्राह्मणवाद के खिलाफ उनके संघर्ष के दौरान सोवियत रूस के इंकलाब से प्रेरणा लेकर 'समधर्म' की बात करते हैं, तो ऐतिहासिक मनुस्मृति दहन के कार्यक्रम (जिसके 75 साल हाल ही में पूरे हुए) के अवसर पर दिया गया डॉ. बाबा साहेब का वक्तव्य दलितों तथा उनके अन्य हिमायतियों द्वारा उठाए गए इस कदम को फ्रांसीसी क्रांति द्वारा 5 मई 1789 को की गई मानवाधिकारों की घोषणा के समकक्ष रखता है। अपने व्यापक परिप्रेक्ष्य को बाबा साहेब अपनी किताब 'अछूतों का विद्रोह' में स्पष्ट करते हैं, जो उन्होंने महाड़ सत्याग्रह के दोनों चरणों के सम्पन्न होने के बाद लिखी थी। इसमें डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर 'मनुस्मृति दहन' के साथ घोषित उन संकल्पों का भी जिक्र करते हैं, जिन्होंने बकौल डॉ. बाबा साहेब "....अछूतों के आंदोलन के इतिहास में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।" बाबा साहेब को इन संकल्पों में 'वाल्टेयर की उस निंदा की प्रतिध्वनि' सुनाई देती है, जो उन्होंने अपने समय में कैथोलिक चर्च के संदर्भ में की थी। उनके मुताबिक पहली बार हिन्दू समाज-व्यवस्था के विरोध में इस तरह आवाज उठी कि वह 'कुत्सित वस्तु' के रूप में दयनीय है।'

अगर गौर से देखें तो प्रस्तुत संकल्प अम्बेडकर-युगीन दलित चेतना का एक शुरुआती मसविदा घोषणापत्र है। कुछ लोग दलित-मुक्ति के विशाल परिप्रेक्ष्य के बरअक्स इसमें की गई हिन्दू समाज की चर्चा से आश्चर्यचकित हो सकते हैं और यह सवाल भी उठा सकते हैं कि क्या दलित चेतना की हुंकार हिन्दू धर्म तक ही सीमित मानी जानी चाहिए? इसके 'हां' और 'ना' दोनों उत्तर हो सकते हैं। 'हां' इस मामले में कि जातिप्रथा आधारित शोषण, उत्पीड़न और श्रेणीबद्धता शेष दुनिया को हिन्दू धर्म की ही 'देन' समझी जाएगी, जिसने उसे 'पवित्र' तथा 'वैध' घोषित किया। दूसरे धर्मों में कम से कम ईश्वर के सामने तो सबके एक होने की बात कही गई। वैसे यह सच है कि भारतीय उपमहाद्वीप में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराए विभिन्न मजहब या

उनके अनुयायी खुद जातिप्रथा के असर से बच नहीं पाए, फिर भी मानवता के एक हिस्से को धर्म की स्वीकृति के नाम पर अमानवीय बंधनों में जकड़े रखने में, वर्णाश्रम पद्धति के नाम पर उनके अवमानना के विशिष्ट तरीके इजाद करने में, हिन्दू धर्म को मानने वाले ही 'अग्रणी' समझे जाएंगे। हिन्दू धर्म पर फोकस अम्बेडकर के जीवन के आखिरी समय तक बना रहा और ऐसा नहीं होता तो वे तीस के दशक में की गई अपनी घोषणा 'मैं हिन्दू के तौर पर पैदा भले हुआ हूँ लेकिन हिन्दू के तौर पर मरूंगा नहीं' को 1956 में साकार नहीं करते।

उसी प्रश्न का 'ना' के तौर पर उत्तर इस मायने में सही है कि दलित चेतना अम्बेडकर काल में ही अपनी 'सीमाओं' को लांघती भी दिखती है, जो उसके नाम से अभिप्रेत हो सकती है। मसलन कम्युनिस्टों से लेकर गैर-ब्राह्मणवादियों के साथ एकता कायम करने में, लोहिया से लेकर कांग्रेस तक के साथ कामकाजी रिश्ते बनाने में अम्बेडकर ने संकोच नहीं किया। 20 के दशक में बने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' जैसे सामाजिक सांस्कृतिक संगठन के बाद बाबा साहेब जिस पार्टी का सबसे पहले निर्माण करते हैं उसका नाम वे 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी' रखते हैं। महाड़ में दलित रेल मजदूरों के कन्वेंशन को सम्बोधित करते हुए वे साफ-साफ 'ब्राह्मणवाद' और 'पूँजीवाद' से लड़ने के लिए मजदूरों का आह्वान भी करते हैं। इस तरह के कई सारे उदाहरण गिनाए जा सकते हैं।

प्रख्यात रैडिकल विचारक गेल ओमवेट ठीक ही कहती हैं कि औपनिवेशिक काल में स्वायत्त दलित-आंदोलन के सहयात्री के तौर पर हमें तीन किस्म की ताकतें दिखती हैं, जिनके साथ चली अन्तक्रिया के दौरान उस दलित-चेतना ने आकार ग्रहण किया जो उत्तर अम्बेडकर काल में आंदोलन की थाती बनी। उनके मुताबिक एक तो उसे सामाजिक तथा सांस्कृतिक तौर पर सर्वव्यापी और ऐतिहासिक तौर पर गहराई में जड़ जमाए ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म के वर्चस्व के विरोध में अपने रास्ते को तलाशना पड़ा, दूसरे उसे राष्ट्रीय आंदोलन के वर्चस्व से भी एक हद तक टकराना पड़ा जहां कांग्रेस के स्थापित नेतृत्व ने निम्न तबके के तमाम आंदोलनों की जनतांत्रिक तथा बहुवचनी संभावनाओं को सीमित करते हुए उनके एजेण्डा को अपने में समेटना चाहा। तीसरे उसे कम्युनिस्ट आंदोलन के साथ भी एक मुश्किल सम्बन्ध से गुजरना पड़ा जो उसका स्वाभाविक सहयोगी होना चाहिए था। (संदर्भ : Quoted in "Theorising Dalit Movement" Anant Teltumbde) उल्लेखनीय है कि यहां गेल ओमवेट, सावरकर-हेडगेवार जैसों की अगुवाई में मुसोलिनी-हिटलर के प्रयोगों से प्रेरणा ग्रहण करती हिन्दुत्व की सियासत के प्रयोग का जिक्र तक नहीं करती हैं। जाहिर है भारतीय समाज में काल्पनिक दुश्मनों की तलाश करने वाली यह सियासत स्वतंत्रता आंदोलन से अपनी दूरी या सावरकर सरीखे उसके अगुआओं द्वारा दिए गए माफीनामे आदि के चलते इस पूरे दौर में

लगभग हाशिये पर ही पड़ी थी।

स्पष्ट है कि इसी औपनिवेशिक काल में दलित-चेतना को उन आधुनिक प्रयत्नों से भी रू-ब-रू होना पड़ा, जिनके प्रति रुख उसके अंदर एक महत्वपूर्ण बहस का सबब बना हुआ है। मसलन राष्ट्र, राज्य, पूंजीवाद-साम्राज्यवाद आदि। यह भी उल्लेखनीय है कि मामले की जटिलता को देखते हुए उसने इनके बारे में कोई सरलीकृत समझदारी पेश नहीं की। गौरतलब है कि दलित नजरिए से देखने पर इन सभी के बारे में जैसे भी कोई फार्मूलाबन्द आकलन रखा नहीं जा सकता।

जानने योग्य है कि अपने शासन की दीर्घजीविता के लिए तत्कालीन बर्तानवी हुक्मरान शूद्र-अतिशूद्र तबकों के उद्धार के लिए थोड़े बहुत कदम बढ़ाते रहे हैं और यह बात भी उतनी ही सच है कि ब्रिटिशों के विरोध में खड़े राजनीतिक आंदोलन में इन तमाम मुद्दों को लेकर उस स्तर की संवेदनशीलता नहीं रही। अक्सर यह भी हुआ है कि औपनिवेशिक ताकतों के खिलाफ व्यापक एकता बनाए रखने के नाम पर भारतीय समाज की अपनी बुराइयों को एजेण्डे पर लाने का काम मुलतवी रखने में या उसे आगे के लिए टालने का ही रास्ता अख्तियार किया जाता रहा है।

राजनीतिक तथा सामाजिक धारा के बीच खड़ी कर दी गई इस कृत्रिम दीवार के चलते कई बार यह स्थितियां भी बनी हैं कि सामाजिक धारा की प्रतिनिधि ताकतें राजनीतिक विरोध द्वारा परिभाषित होती मुख्यधारा में उपस्थित भी नहीं हो सकीं। जहां राजनीतिक आंदोलन के नेताओं द्वारा इनकी अनुपस्थिति और इन आंदोलनों की छवि को 'ब्रिटिशपरस्त', यहां तक कि 'राष्ट्रद्रोही' के रूप में पेश किया जाता रहा, वहीं इन नेताओं द्वारा भारतीय समाज की आंतरिक बुराइयों को उठाने में बरती गई कोताही सामाजिक धारा के प्रतिनिधियों में, नेताओं के असली मन्तव्य के बारे में लगातार गहरी शंकाएं पैदा करती रही हैं। उन पर राजनीतिक आंदोलन की प्रतिनिधि-शक्तियों के 'ब्राह्मणवादी' मूल्यों के वाहक होने के आरोप ऐसे ही बेबुनियाद नहीं लगते रहे। सामाजिक धारा की वाहक शक्तियों, संगठनों को कभी-कभी यह भी लगता रहा है कि बर्तानवी ताकतों के हटने का मतलब होगा पुराने ब्राह्मणवादी शासन की वापसी, दलितों, शूद्रों, स्त्रियों के लिए मिले सीमित अधिकारों का फिर एक बार हनन।

मिसाल के तौर पर अंग्रेजों के आगमन के बारे में रुख का सवाल ही लें। यह सही है कि बर्तानवियों के खिलाफ यहां व्यापक संघर्ष चले, जिसकी परिणति उनकी विदाई में हुई। यह भी सही है कि बकौल दादाभाई नौरोजी 'भारत की लूट' के लिए जिम्मेदार इन ताकतों ने भारत की जनता पर प्रचण्ड जुल्म ढाये लेकिन क्या यह सही नहीं है कि अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए ही इन्हीं बर्तानवी जालिम हुक्मरानों ने एक ऐसा काम किया, जिसने मनु के संविधान को पलीता लगाने की जमीन तैयार की? अपने स्वार्थों के लिए ही सही बर्तानवी शासकों ने शूद्रों, अतिशूद्रों, स्त्रियों को पहली

बार पढ़ने के रास्ते सुगम कराए। इसमें कोई दो राय नहीं कि इस काम को उन्होंने बहुत सीमित पैमाने पर किया और यह भी सही है कि ब्राह्मणों या अन्य उच्च जातियों द्वारा दबाव पड़ने पर वे इससे पीछे भी हटे। जो भी हो, यह अकारण ही नहीं था कि 1857 के सिपाहियों के विद्रोह में जब अंग्रेजों की जीत हुई तब महात्मा फुले ने कहा था कि 'अच्छा हुआ कि पेशवा हार गए वर्ना पेशवाई (पेशवाओं का शासन) लौट आती।' सभी जानते हैं कि इसी पेशवाई में दलितों को अपने गले में छोटा घड़ा बांध कर घूमने का आदेश था ताकि उनका थूक इधर-उधर न गिरे। एक तरफ फुले अंग्रेजों की जीत पर खुशी प्रकट करते हैं, वहीं दूसरी तरफ यही महात्मा फुले, तिलक आगरकर के पहली बार जेल से छूट आने पर उनका नागरिक अभिनन्दन करने में पहल लेते दिखते हैं। (1881) फुले-अम्बेडकर से लेकर पेरियार तक में हम अंग्रेजों के प्रति रुख में अपनाई गई दुविधाग्रस्त स्थिति को देख सकते हैं।

दलित-चेतना के निर्माण में तीसरा महत्वपूर्ण पहलू है वामपंथी आंदोलन के साथ उसकी अन्तक्रिया का। वांछनीय यही होता कि कम्युनिस्टों तथा जातिप्रथा के उन्मूलन तथा ब्राह्मणवाद की जकड़ के खिलाफ संघर्षरत सामाजिक विद्रोह की धारा के बीच एक रणनीतिक गठजोड़ कायम होता। ऐसे अवसर भी इतिहास ने प्रदान किए। फौरी तौर पर गठबंधन बने भी लेकिन यह सिलसिला दूर तक चल नहीं सका। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कम्युनिस्टों के अंदर इसके बारे में उहापोह नहीं चल रही थी। 1930 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रस्तुत **प्लेटफॉर्म ऑफ एक्शन** के जरिए 'जातिप्रथा के निर्मम उन्मूलन' के प्रस्ताव की तथा 'सभी तरह की गुलामी से मुक्ति, जातिप्रथा की समाप्ति और सभी रूपों में जाति असमानता के खिलाफ संघर्ष' करने की बात भी कही गई थी। इसी प्रस्ताव में यह भी नोट किया गया था कि "बीसवीं सदी में आज भी इन दलितों-वंचितों के पास साझा कुओं से पानी भरने, साझा स्कूलों में पढ़ने का अधिकार नहीं है" (संदर्भ : पेज 7, 'कास्ट क्लास एंड प्रापर्टी रिलेशन', बी.टी. रणदिवे, प्रकाशक : नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता, 1982)

लेकिन व्यवहार के धरातल पर देखें तो हम पाते हैं कि पार्टी के स्तर पर इसे कभी कोई कार्यक्रम के तौर पर हाथ में नहीं लिया गया। इसकी बजाय कभी-कभी ऐसे मसले भी देखने में आए जब दलितों के साथ हो रहे भेदभाव के मुद्दे को शामिल नहीं किया गया। नतीजतन, 'अछूत' मजदूरों ने काम पर वापस जाने का फैसला किया। साफ है तत्कालीन कम्युनिस्ट नेतृत्व को ये मांगे **भटकावकारी** लगती थीं।

माक्सवाद के मानवमुक्ति के दर्शन की इस **यांत्रिक-व्याख्या (Interpretation)** के बावजूद बाबा साहेब ने वैचारिक तथा सांगठनिक तौर पर वामपंथी आंदोलन से सामंजस्य बिठाने की लगातार कोशिश की। (इस संदर्भ में विस्तार

से जानने के लिए देखें 'तद्भव' अक्टूबर 2002 के अंक में श्री कंवल भारती का आलेख) उन्होंने न केवल कम्युनिस्ट दर्शन के सौंदर्य का उल्लेख किया बल्कि यह भी कहा कि वह उनके अपने चिन्तन के करीब है। उनका यह भी कहना था कि अगर कम्युनिस्ट व्यवहार पर उचित जोर दें तो उनके लिए जीत हासिल करना रूस से भी आसान होगा (जनता, 15 जनवरी, 1938)। मिल मजदूरों की हड़ताल पर सामने आये मतभेदों के बावजूद 30 के दशक में जोत प्रथा के सवाल पर बम्बई में कम्युनिस्टों के साथ किसानों के मुद्दे को उठाने में उन्होंने कोताही नहीं बरती।

कुल मिलाकर देखें तो यही समझ में आता है कि अम्बेडकरयुगीन दलित-चेतना अपनी अन्तर्वस्तु में रैडीकल परिवर्तन की हिमायती थी, जातिभेद तथा जेण्डर (स्त्री-पुरुष भेद), गैर बराबरी के उन्मूलन के लिए प्रतिबद्ध तथा प्रयासरत थी और उग्र सामाजिक बदलाव की हामी वामपंथी तथा अन्य ताकतों के साथ अपने मतभेदों को साफ करते हुए रणकौशलतात्मक रिश्ता बनाए रखने के लिए प्रेरित थी। सोचने का सवाल बनता है कि क्या उत्तर-अम्बेडकर काल में दलित-चेतना अपनी वही धार बनाए रख सकी या नहीं?

...इन चारों में अपने अतीत को जान-बूझ कर विस्मृत करने की प्रवृत्ति दिखती है। इनके बाद पांचवे अभ्यर्थी 'पंचम' का प्रवेश होता है और सारा परिदृश्य पूरी तरह बदल जाता है। एक विलक्षण सौंदर्य का जन्म होता है। हसबदन राव ने अपने पूरे जीवन में 'पंचम' जैसे लोग कभी नहीं देखे थे। पंचम अपने अतीत को विस्मृत करने से न केवल इंकार करता है बल्कि उसे जान-बूझ कर याद करता है। दैवी आक्रोश का आभामंडल उसके इर्दगिर्द व्याप्त रहता है। नाटक के अंत में पंचम अपने समुदाय से आत्मसम्मानपूर्ण जीवन आरंभ करने का भावुकता भरा आह्वान करता है।

(‘आधुनिकता के आईने में दलित’ (सम्पादक : अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन) में डी.आर. नागराज के प्रकाशित आलेख में एक खास संदर्भ में कन्नड़ के प्रसिद्ध दलित लेखक डॉ. सिद्धलिंगैया के नाटक 'पंचम' के बारे में की गई चर्चा का अंश)

यह जानने योग्य है कि हिन्दू धर्म की कथित महानता के पुनरुत्थानवादी दावों के छद्म को भेदते हुए अम्बेडकरयुगीन दलित चेतना ने इस बात को रेखांकित किया कि भारतीय समाज जाति के नाम पर अलग-अलग तथा परत-दर-परत कई सोपानमय (Hierarchical) समूहों में विभक्त है, जिनके बीच विशाल सामाजिक अवरोध खड़े किए गए हैं। इन एकान्तिक (Exclusive) समूहों के बीच परस्पर अन्तक्रिया की वर्जनाएं रही हैं और इस देश की संस्कृति के रोम-रोम में इन वर्जनाओं,

आडम्बरों और पाखण्डों को वैधता मिली हुई है। अपने ऐतिहासिक निबन्ध 'जातिभेद का विनाश' में बाबा साहेब ठीक ही कहते हैं कि "...जातिव्यवस्था श्रम का विभाजन नहीं है, दरअसल यह श्रमिकों का विभाजन है" और यह भी स्वतःस्फूर्त नहीं है, न स्वाभाविक गुणों पर टिका है बल्कि यह माता-पिता के सामाजिक ओहदे पर टिका है।

दूसरे शब्दों में कहा जाए तो भारतीय समाज में न केवल सामाजिक गतिशीलता का सदियों से अभाव रहा है बल्कि आज भी इस गतिशीलता को रोकने वाले मूल्यों, मान्यताओं, रीतिरिवाजों, मिथकों के प्रति मोह व्याप्त है। इसकी धमनियों में आज भी **ब्राह्मणी** मूल्यों का विनाशकारी, विघटनकारी रक्त प्रवाहित हो रहा है। काम करने वाले लोगों को सबसे नीचा देखने, यहां तक कि उन्हें दस्यु का दर्जा देकर उन्हें दास बनाने की प्रवृत्ति आज भी इस समाज में रची-बसी है। यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि ब्राह्मणवाद की विचारधारा का वाहक जातिप्रथा के इस **सामाजिक कोड** का प्रभाव केवल दलितों पर ही नहीं पड़ा। इसका प्रभाव पूरे समाज की सामाजिक संरचना पर पड़ा है। आम जनसाधारण को जातियों, उपजातियों में बांटने में इस भेदभावपूर्ण सामाजिक औजार का प्रयोग हुआ है। जन्म के कारण आपसी अन्तर्सम्बन्धों को रोकने वाली, एक-दूसरे पर श्रेष्ठता का दावा करने वाली और उसके लिए साम, दाम, दण्ड, भेद का सहारा लेने वाली तथा एक बड़े हिस्से पर वंचनाओं की विवशता थोपने वाली संस्कृति, पूरे समाज पर हावी रही है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में दलित-मुक्ति का प्रश्न केवल 16% लोगों के सुधार का प्रश्न नहीं, उन्हें मानवी हक और गरिमा प्रदान करने का ही प्रश्न नहीं बल्कि पूरे भारतीय समाज के सामाजिक **पुनर्निर्माण** तथा **पुनर्गठन** से जुड़ा प्रश्न बन जाता है।

उत्तर अम्बेडकर काल में दलित-चेतना की यात्रा को उस आंदोलन के अलग-अलग पड़ावों पर नज़र डाल कर समझा जा सकता है जो उनसे प्रेरणा ग्रहण करने का दावा करता है या उन वैचारिक अभिव्यक्तियों में पढ़ा जा सकता है जो उस यात्रा का प्रतिबिम्बन करती हैं या उसकी सैद्धांतिकी पेश करती हैं।

बाबा साहेब अम्बेडकर के निधन के बाद विकसित, दलित राजनीति या दलित-आंदोलन की **क्या विशिष्टताएं चिह्नित की जा सकती हैं?** यह मानना ही पड़ेगा कि बाबा साहेब अम्बेडकर के आकस्मिक निधन ने दलित-आंदोलन की दिशा को काफी प्रभावित किया। **शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन** को विसर्जित करके **रिपब्लिकन पार्टी** की स्थापना के पीछे बाबा साहेब की एक निश्चित सोच थी, जहां वे महज खास जातिविरोध या तबका विशेष की पार्टी की सीमाओं को लांघना चाहते थे। बाबा साहेब की मृत्यु के बाद **रिपब्लिकन पार्टी** मुख्यतः दलितों का और उनमें भी खास जातिविशेषों का संगठन बन कर रह गई। महाराष्ट्र में अगर इसके साथ महार या नवबौद्ध आकर जुड़े तो उत्तर प्रदेश में चमार और जाटव। दलित जिनका बहुलांश भूमिहीन था, उसके जमीन

से जुड़े आर्थिक प्रश्नों को लेकर 50 के दशक के अंत में **दादा साहेब गायकवाड** की अगुवाई में जमीन कब्जा के लिए सत्याग्रह चला लेकिन इसके बाद शायद ही ऐसा कोई मौका आया जब दलितों के ऐसे **मूलभूत आर्थिक प्रश्नों** को लेकर रिपब्लिकन पार्टी किन्हीं हलचलों की अगुवाई करती दिखी हो। कुल मिलाकर रिपब्लिकन पार्टी दलितों की शिक्षा या नौकरियों में आरक्षण या अपने नेताओं के लिए मंत्रीपद या स्पीकर पद जैसे मुद्दों को उठाने तक ही सीमित रही।

कुल मिलाकर बाबा साहेब अम्बेडकर के देहांत के बाद की दलित राजनीति जिन उतार-चढ़ावों से होकर गुजरी है उसे स्थूल रूप में तीन चरणों में बांटा जा सकता है। **रिपब्लिकन पार्टी का उत्थान और पतन, दलित पेंथर का उभार तथा तीसरे चरण के रूप में दलितों की राजनीतिक सत्ता पर दावेदारी की मांग की बढ़ती स्वीकार्यता।** कांशीराम के नेतृत्व वाली **बसपा** का राष्ट्रीय राजनीति में सशक्त हस्तक्षेप इसी चरण को रेखांकित करने वाला पहलू है। यह दलित-चेतना की गतिशीलता का ही परिचायक है कि बाबा साहेब द्वारा स्थापित रिपब्लिकन पार्टी का नेतृत्व जब सत्ता की राजनीति में ही जुट गया, तब नवशिक्षित दलित युवाओं के बीच से दलित पेंथर ने अपनी हुंकार भरी।

दलित राजनीति के इस **नए चरण के भिजाज** का कांशीराम या मायावती बखूबी प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन वही इसके एकमात्र प्रतिनिधि नहीं हैं। तमिलनाडु के डॉक्टर कृष्णास्वामी, जिन्होंने दलितों की अपनी अलग पार्टी **पुथिया तमिलगाम (Puthiya Tamilagam)** बना दी है, भी इसी श्रेणी में गिने जाएंगे या इसके जैसे अन्य छोटे-मोटे समूह संगठन सब जगह नजर आएंगे। इस तरह दलित अस्मिता का प्रश्न समूचे देश के पैमाने पर **समरूपीकरण (Homogenisation)** की दिशा में, सत्ता पर दावेदारी का पैतरा लेते हुए आगे बढ़ता दिख रहा है। दलितों की दावेदारी की इस परिघटना में विराट संभावनाएं छिपी हुई हैं, इस बात की हमें ताईद करनी ही पड़ेगी। हजारों-हजार साल से ब्राह्मणवादी शासन के तहत सत्ता या संपत्ति के साधनों से वंचित किए गए इस विशाल बहुमत में आ रहा यह नया जागरण भारत की जाति आधारित सामाजिक संरचना के **जनतांत्रिकीकरण** की दिशा में एक अहम कदम है, यह हमें समझना ही पड़ेगा।

यह भी काबिलेगौर है कि इस चरण में दलितान्तर्गत विभिन्न जातियों में भी एक उभार जैसी स्थिति दिखी है, जिसके चलते वे भी अपने हकों की पूर्ति के लिए अपने-अपने जाति, उपजाति के बैनर तले आगे आए हैं। इसमें उनके निशाने पर वर्णव्यवस्था के साथ-साथ दलितों के अंदर की वे **'सम्पन्न'** जातियां भी हैं जिन्होंने इनके हिसाब से आरक्षित किए गए स्थानों के एक बड़े हिस्से, चाहे वे स्थान शिक्षा से संबंधित हों या किसी किस्म के रोजगार के अवसरों से जुड़े हों, पर नियंत्रण कर लिया है।

महाराष्ट्र में महार/नवबौद्धों के बरअक्स मातंग, चर्मकार या आंध्र प्रदेश में

मालाओं के बरअक्स मादिगा की परिघटना इसी प्रक्रिया को चिह्नित करती दिखती हैं। इसमें मुख्य विवाद का मुद्दा **आरक्षण का लाभ बना है**। मांग यह की जा रही है कि अनुसूचित जातियों के लिए जो आरक्षण मिला है, उसमें **ए, बी, सी** आदि श्रेणियां बनाई जाएं ताकि अब तक विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से आरक्षण का लाभ उठाने से वंचित अति दलित जातियों को भी उसका लाभ मिल जाए।

यह विडम्बना ही है कि दलित-अस्मिता का सवाल जहां 90 के दशक में जोर-शोर से सामने आया है, वहीं उसके विखण्डित होने की प्रक्रिया भी दिखी। दलितों की व्यापक एकजुटता के छाने के तले उसके अन्तर्गत आने वाली सैकड़ों जातियों की जाति आधारित आपसी एकता भी एक मसला बन गई है। अब सिर्फ दलित कहकर बात अधूरी रह जाने का खतरा है। यह भी साथ-साथ बताना पड़ेगा कि वह **माला** है या **मादिगा**, **मातंग** या **चर्मकार**। इस विखण्डित पहचान के साथ नए-नए नायक (**Icon**) भी सामने आ रहे हैं और इस प्रक्रिया में पुराने **नायक 'अपनी'** जातिविशेष तक सीमित होते जाने की संभावना देख रहे हैं। उत्तर प्रदेश की सियासत में **अवंतिकाबाई** पासी का आगमन या महाराष्ट्र की दलित सियासत में **अण्णाभाउ साठे** नामक एक मशहूर उपन्यासकार का मातंगों के एक नए नायक के तौर के पर आगमन इसी हकीकत को रेखांकित करता है। वैसे ताउम्र कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता रहे, **'इप्टा'** तथा **'प्रगतिशील लेखक संघ'** की मुहिम से नजदीक से जुड़े **अण्णाभाउ साठे** ने कभी सपने में भी नहीं सोचा होगा कि मातंगों के नए नायक के तौर पर उनकी आदमकद प्रतिमा बम्बई में, भाजपा शिवसेना शासन में खड़ी कर दी जाएगी।

दलित-चेतना के एक हिस्से के **'संघ परिवारी हिन्दी चेतना'** में समाहित होने की परिघटना भी नए सहस्त्राब्द में सामने आई है, इस मायने में ईस्वी 2002 का बीता साल काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ है। **हिन्दुत्व ब्रिगेड** की ताकतों द्वारा गुजरात में अंजाम दिए गए व्यापक जनसंहार में दलितों के अलबत्ता एक छोटे से हिस्से की भागीदारी का प्रश्न हो या 90 के दशक में दलित-चेतना की दावेदारी की प्रधान वाहक के तौर पर उपस्थित हुई **बहुजन पार्टी** द्वारा प्रदेश स्तर पर सत्ता हासिल करने के लिए उत्तर प्रदेश में भाजपा जैसी ब्राह्मणवादी- साम्प्रदायिक फासीवादी पार्टी के साथ गठजोड़ बनाने का सवाल हो या गुजरात के पौने दो साल पहले सम्पन्न चुनावों में **नरेन्द्र मोदी** की हिमायत में पहुंची **बहन मायावती** का मामला, ये सभी इसी परिघटना को रेखांकित करते हैं।

दलित अस्मिता के द्वंद्व की जब भी चर्चा चलती है तब साम्प्रदायिक फासीवाद के खतरे के बरअक्स **सामाजिक फासीवाद** के मसले को उठाया जाता है। जहां संघ कबीले की जनद्रोही सियासत के संदर्भ में साम्प्रदायिक फासीवाद का जिक्र किया जाता है, वहीं **सामाजिक फासीवाद** की परिघटना की चर्चा ग्रामीण इलाकों के पिछड़ी जातियों से आने वाले कुलकों की आक्रामकता के संदर्भ में की जाती है, जिनमें से

कई विभिन्न स्थानों पर दलितों पर हमला बोलने की घटनाओं के आयोजक भी रहे हैं। चन्द दलित विचारक इस बिना पर **बसपा-भाजपा** गठजोड़ के हिमायती बन जाते हैं, जिसके तहत उनका कहना होता है कि भारतीय संदर्भ में **‘साम्प्रदायिक फासीवाद’** पतनशील है और **‘आक्रामक सामाजिक फासीवाद’** दलितों के लिए ज्यादा खतरनाक है।

हमें लगता है कि साम्प्रदायिक फासीवाद बरअक्स सामाजिक फासीवाद की चर्चा में दलितों की स्वतंत्र पहलकदमी तथा मेहनतकशों के वास्तविक अन्य हितैषियों के साथ उनकी एकता के बिन्दु से सोचना चाहिए तभी हम सही नतीजों पर पहुँच सकते हैं। हमें यह जानना ही पड़ेगा कि **वर्णाश्रम का समर्थक संघ-परिवार**, किस तरह जातिप्रथा के उन्मूलन के लक्ष्य को और दूर तक ढकेलेगा और **सामाजिक फासीवाद** की प्रतिनिधि पिछड़ी राजनीति के करीब जाना, कितने लक्ष्मणपुर बाधे को जन्म देगा।

दलित-अस्मिता की चर्चा के संदर्भ में एक और मसले की साथ-साथ चर्चा करना जरूरी है। वह है **दलित-आंदोलन** और **‘लिंग’ (जेण्डर)** का सवाल। इसके दो पक्ष हैं एक **बाह्य पक्ष** जिसके तहत दलित महिलाओं के साथ होने वाले अत्याचारों से हम रू-ब-रू होते हैं, यौन उत्पीड़न की घटनाओं से हम परिचित होते हैं। इसका एक **आन्तरिक पक्ष** भी है दलित-आंदोलन के अंदर जेण्डर प्रश्न की क्या स्थिति है? एक बात तो साफ दिख रही है कि बाहरी सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ विद्रोह में उठा दलित-आंदोलन, अपनी आंतरिक गैर जनतांत्रिक परम्पराओं व संस्थाओं के बारे में विशेष सचेत या सक्रिय नहीं दिखता। फिर वह चाहे पितृसत्ता का सवाल हो या समुदाय/कम्युनिटी के हक के नाम पर व्यक्तिगत अधिकारों का होने वाला सम्भावित हनन हो। यह अकारण ही नहीं कि दलित-आंदोलन के अंदर से एक नारी आंदोलन की आवाज़ पिछले दशक में बुलन्द हुई है, जिसने दलित-आंदोलन के अंदर मौजूद पितृसत्ता तथा व्यापक नारी-आंदोलन के जाति-प्रश्न की अपेक्षा, दोनों मुद्दों को उठाया है।

अम्बेडकरयुगीन दलित-चेतना को अपनी थाती बनाकर उत्तर अम्बेडकर-काल में दलित-चेतना का जो कारवां आगे बढ़ा उस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए तथा दलित-आंदोलन के अंदर निर्मम आत्मालोचना की हिमायत करते हुए जनाब **आनंद तेलतुंबडे** ठीक ही कहते हैं कि *“...इस आंदोलन ने... न केवल समूचे दलित-समुदाय में आजादी, समानता और बन्धुता के सकारात्मक मूल्य स्थापित किए बल्कि शोषण और अन्याय के खिलाफ संघर्ष के लिए राजनीतिक चेतना को भी बढ़ावा दिया। उसने न केवल वैज्ञानिक तर्कबुद्धि की पक्षधरता जाहिर की बल्कि किसी भी किस्म की बकवास का विरोध किया।”* जहां तक दलित-आंदोलन की उपलब्धियों का सवाल है तो वे साफ कहते हैं कि *“उसने शिक्षा, सांगठनिक अनुभव और अपने दुश्मन*

के उपकरण में काम करने का अनुभव हासिल किया है। जाहिर-सी बात है कि इतने छोटे से समय में इतना काम करना कोई मामूली उपलब्धि नहीं है।” ‘थियराईजिंग दलित मूवमेंट’ नामक अपने इस आलेख के अंत में वे इस बात की हिमायत जरूर करते हैं कि “यह आंदोलन उस पर कायम निम्न पूंजीवादी वर्चस्व से जितना जल्दी हो सके मुक्ति पा ले तभी वह सही मायनों में दलित जन की सेवा कर सकेगा।” उनके मुताबिक “भौजूदा स्थितियों में दलित आंदोलन को राज्य, संस्कृति और शोषण के अन्य रूपों के बारे में अपने रुख को साफ करना होगा तथा अपने उद्देश्य को साफ शब्दों में रखना होगा कि क्या वह वाकई में समानता, समता पर आधारित समाज बनाना चाहता है या शोषण के समीकरण में महज पक्ष बदलने का हामी है? वह यह भी कहते हैं कि दलित-आंदोलन को अपने वास्तविक दोस्त तथा दुश्मन शक्तियों के बारे में नए सिरे से सोचना होगा।”

साफ है 21वीं सदी की इन पैड़ियों पर दलित चेतना के कर्णधार इस समूचे परिवेश से परिचित हुए बिना आगे का रास्ता तय नहीं कर सकते। उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती यही है कि वे अपनी मजबूरी तथा कमजोरियों पर निष्पक्ष तरीके से निगाह डालें और आगे बढ़ें। इस विश्लेषण के दो स्तर हो सकते हैं, एक तो फौरी स्तर दूसरा दूरगामी स्तर।

फौरी हिसाब से देखें तो क्या अम्बेडकरकालीन दलित-चेतना तथा उत्तर-अम्बेडकर काल में दलित-चेतना की स्थिति में कोई फरक नज़र आता है? इसमें कोई दो राय नहीं कि सारतः दोनों में कोई विशेष फर्क नहीं है। औपचारिक तौर पर देखें तो उत्तर अम्बेडकर काल में सामने आए तमाम दलित संगठनों ने बाबा साहेब के विचारों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता लगातार जाहिर की है। वे निरंतर उनके जीवन से सीखने की बात करते रहते हैं लेकिन बारीकी से पड़ताल करने की कोशिश करें तो चन्द ऐसे तथ्य सामने आते हैं जो बताते हैं कि दलित-चेतना उस मुकाम से आगे बढ़ गई है, जहां तक बाबा साहेब ने उसे पहुंचाया था। सबसे उल्लेखनीय बात है कि औपनिवेशिक काल की तुलना में समूचे दलित समुदाय में राजनीतिक रैडिकलिज्म/दावेदारी बढ़ी है और वह चुनावी राजनीति के तकाज़ों के तहत अपनी संख्या की अहमियत को देखते हुए सत्ता पर दावेदारी करने की स्थिति में पहुंची है। इतना ही नहीं समूची दलित आबादी ज्यादा स्वाभिमान से भरी, अपने हितों के लिए ज्यादा सचेत नज़र आती है। यह भी दिखता है कि समूचे दलित समुदाय के अंदर एक पढ़ा-लिखा तबका तैयार हो गया है और वह अपने स्तर पर स्वतंत्र विचारक भी बना है। इस आधी सदी के दौरान उसने एक हद तक सत्ता के उन उपकरणों को भी संचालित करना सीख लिया है लेकिन यह बात चिंताजनक है कि आर्थिक सवालों को उठाने, नारी प्रश्न को पर्याप्त अहमियत देने के मामले में उत्तर अम्बेडकर काल में सावधानी नहीं बरती जा सकी है। न ही दलित समाज के अंदर के विभिन्न विभेदों

को लेकर कुछ हलचलें हो सकी हैं। दलित चेतना के अन्तर्य को ठीक से समझे बिना ही दलितों के एक हिस्से में हिन्दू बनने या दिखने की चाह बढ़ी है, जिसका हिन्दुत्व ब्रिगेड की फासीवादी ताकतों ने पूरा फायदा उठाया है। यह भी देखने में आया है कि अम्बेडकर काल में वामपंथी आंदोलन के साथ बना दलित-आंदोलन का कामकाजी रिश्ता अब लगभग टूट सा गया है और दोनों आन्दोलनों में एक-दूसरे के प्रति गहरा अविश्वास बना हुआ है।

वैसे उत्तर अम्बेडकर काल में उभरे कई सारे दलित नेताओं की यह बात बिल्कुल पचने वाली नहीं लगती कि कम्युनिस्टों की तुलना में अन्य कोई भी पार्टी से हाथ मिलाया जा सकता है। कांशीराम तो इस संदर्भ में कहते भी हैं कि 'बाकी पार्टियां हरे घास के सफेद सांप हैं तो कम्युनिस्ट हरे घास के हरे सांप हैं।' इस संदर्भ में दो तीन बातें अवश्य कही जानी चाहिए। एक, जातिप्रश्न के बारे में उनकी समझदारी की सीमाएं एक हद तक भले ही रही हों लेकिन इस बात से उनके दुश्मन भी इन्कार नहीं करेंगे कि देश के करोड़ों मेहनतकशों के बीच पिछले लगभग अस्सी साल से बुनियादी किस्म का संगठन का काम करने में ये जमातें लगी हुई हैं। दूरदराज के पहाड़ों और जंगलों में दबे कुचलों की आवाज़ को बुलंद करने में वे हमेशा अग्रणी रहे हैं। तेलंगाणा, तेभागा से लेकर नक्सलवाड़ी, श्रीकाकुलम या आज की तारीख में बिहार, मध्य प्रदेश या आंध्र प्रदेश के मध्ययुगीन उत्पीड़न के इलाकों में शोषित-उत्पीड़ितों के बीच अपना आधार कायम करने में वे, इसी के चलते सफल हो सके हैं। दूसरे यह तो सच है कि कम्युनिस्टों ने जातिप्रथा की विशिष्टता को समझने में भूल की थी लेकिन यह भी रेखांकित करने वाली बात है कि पिछले कुछ समय से स्थिति बदल रही है। कई सारी कम्युनिस्ट जमातों ने इसको लेकर गंभीर आत्मालोचना की है तथा अपने तरीके में तब्दीली लाने की कोशिश शुरू की है। तीसरे, यह भी दिखता है कि कम्युनिस्टों से दूरी बना कर दलित-आंदोलन का अवसरवादी हिस्सा आमूलचूल परिवर्तन के सवालों से बचे भी रहना चाहता है।

अपने एक चर्चित आलेख 'ए क्रिटिकल लुक एट दलित एक्टिविज़्म' में प्रख्यात सामाजिक चिन्तक प्रोफेसर गोपाल गुरु उत्तर अम्बेडकर काल के दलित-विमर्श की सीमाओं पर अपनी पैनी नज़र डालते हैं। गौरतलब है कि अम्बेडकरकाल के साथ मौजूदा परिदृश्य की तुलना करते हुए वे कहते हैं कि जहां तक मुमकिन है उस दौर में हम पाते हैं कि आंदोलन में अपनी आंतरिक समीक्षा/ आलोचना का तत्व लगातार मौजूद था, जबकि वर्तमान दौर में उसका घोर अभाव दिखता है। वे कहते हैं कि " ..हमें यह पूछना पड़ेगा कि दलित नेतृत्व आंतरिक आलोचना के प्रश्न को संबोधित क्यों नहीं करता है? दलितों के इस विसंगतपूर्ण व्यवहार को कैसे समझा जाए? दूसरे शब्दों में कहें तो यह कैसी विचित्र चेतना है कि जो उनके बौद्धिक संकट को पुरातन तथा रैडिकल अंदाजों (Mode) के बीच भटकती देखती है।" दलित-आंदोलन में

राजनैतिक उग्रता/ रैडिकलिज्म को महत्वपूर्ण मानते हुए वे कहते हैं कि दलित परिस्थिति के अंदर मौजूद उत्पीड़न और विभेद की संरचनाओं को चिह्नित किए बगैर यह समूची राजनीतिक उग्रता/रैडिकलिज्म बेहद अमानवीय हो जाती है। वर्तमान दलित समाज में सर उठाए, शुद्धता प्रदूषण पर टिके विभेदों, आज भी जड़मूल पितृसत्ता की संस्था और जोर-शोर से उपस्थित हुई दहेज प्रथा आदि की चर्चा करते हुए वे कहते हैं “...दलित नेतृत्व ने आम दलित के निजी दायरे को सार्वजनिक आलोचना से सचेतन तौर पर दूर रखा है, ताकि वे आम दलित चेतना को भावनाओं से भर सकें और समूचे समुदाय/ कम्युनिटी को अपने हिसाब से मोड़ सकें।” उनके मुताबिक “... दलितों के निजी या सामाजिक और राजनीतिक जीवन में दलित नेतृत्व के इस भेद को बनाए रखने की कोशिश, आम दलित चेतना को उस आलोचनात्मक तर्कबुद्धि से वंचित करती है, जिसके आधार पर वह चालबाजी की आन्तरिक संरचनाओं और वर्चस्व के बाहरी ढांचे पर प्रश्न उठा सके। यही वह मजबूरी बनती है कि आम दलित के लिए एक नया राजनीतिक विकल्प ढूँढना असंभव जान पड़ता है और वह अपने उन्हीं अड़ियल नेताओं का अनुगमन करने के लिए मजबूर होता है।”

दूरगामी तौर पर देखें तो हम पाएंगे कि दलित-आंदोलन को अपनी भविष्यदृष्टि का सवाल हल करना है अर्थात् उसे यह तय करना है कि वह अन्य उत्पीड़ित तबकों तक कैसे पहुंचेगा और एक सार्वभौमिक चरित्र कैसे हासिल करेगा? जानने योग्य है कि हर सामाजिक आंदोलन का एक सांस्कृतिक पक्ष होता है और वह संस्कृति के क्षेत्र में अपना योगदान करता है। जो आंदोलन उत्पीड़न और अन्याय के विशिष्ट रूपों से पैदा होते हैं वे उन रूपों से संबंधित संस्कृति रूपों के विरुद्ध एक प्रतिरोध की संस्कृति को जन्म देते हैं। सांस्कृतिक योगदान का यह प्रथम चरण होता है। दलित-आंदोलन और दलित सामाजिक यथार्थ ने भी प्रतिरोध की एक सशक्त संस्कृति को जन्म दिया है। यह संस्कृति दलित अस्मिता और पहचान पर आधारित है तथा इसके प्रतिरोध की धार ब्राह्मणवादी संस्कृति के विरुद्ध है। दलित-अस्मिता और पहचान दलित सामाजिक यथार्थ पर आधारित है और इस तरह जाति आधारित उत्पीड़न से इसका गहरा संबंध है। यह अस्मिता और पहचान, दूसरी तरफ दलित-आंदोलन के एक महत्वपूर्ण संगठक की भूमिका अदा करती है अर्थात् उत्पीड़न पर आधारित पहचान उत्पीड़न से लड़ने का एक कारगर हथियार बनती है। इसके खात्मे के साथ दलित की वह अलग पहचान भी खत्म होगी जो इस उत्पीड़न पर आधारित है। दलित समाज का हर तरह से बराबर का सदस्य होगा और इस तरह दलित नहीं रह जाएगा। इस प्रकार पूरे समाज का कायाकल्प होगा और उसकी पुनर्संरचना होगी। प्रश्न ये उठता है कि पुनर्रचित समाज में दलित-आंदोलन के सांस्कृतिक योगदान को कैसे पहचाना जाएगा?

महज दो साल पहले दलित-मुक्ति के प्रश्न पर चंडीगढ़ में आयोजित राष्ट्रीय

सेमिनार में दलित चेतना की भावी सम्भावित यात्रा पर अपनी निगाह से देखने की हम लोगों ने कोशिश की थी। उसमें प्रस्तुत आलेख में लिखा गया था कि “यह प्रश्न केवल दलित-आंदोलन के लिए ही नहीं खड़ा होता है। सामाजिक आंदोलन प्रतिरोध की संस्कृति को तो आसानी से जन्म देते हैं लेकिन बुनियादी सामाजिक बदलाव के लिए वैकल्पिक संस्कृति के समग्र रूप को गढ़ना होता है। प्रतिरोध की संस्कृति इसका प्रथम सोपान होती है।” दलित-आंदोलन किस प्रकार की समग्र वैकल्पिक संस्कृति की प्रस्तावना करता है? समग्र वैकल्पिक संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस संस्कृति से है जो दलित-उत्पीड़न और उस पर आधारित पहचान के मुक्त पुनर्रचित समाज में सभी की संस्कृति बनेगा और पहले की संस्कृति को पूरी तरह विस्थापित करेगा। ऐसी संस्कृति के कौन से प्रमुख अवयव होंगे?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना पर्याप्त नहीं होगा कि “वह ब्राह्मणवादी संस्कृति का विकल्प होगी जो ब्राह्मणवाद के नाश के बाद स्थापित होगी। यह कथन उस समग्र वैकल्पिक संस्कृति को धनात्मक रूप में उद्घाटित नहीं करता है। इसके लिए उसकी रूपरेखा नए सिरे से तय करना जरूरी होगा। यह प्रश्न दलित-मुक्ति के दर्शन से जुड़ा हुआ है। क्या यह मुक्ति का एक सर्वथा अलग दर्शन है जो दलित जीवनदशा से नाभिनालबद्ध है? या यह सभी शोषित उत्पीड़ित लोगों के मुक्ति के दर्शन से जुड़ा हुआ है और उसका हिस्सा है? प्रश्न चाहे कितना भी अतिप्रयुक्त और घिसा हुआ लगे, इससे छुटकारा नहीं है। इसी प्रश्न में समग्र वैकल्पिक संस्कृति का प्रश्न भी छुपा हुआ है। इस संस्कृति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, श्रम की गरिमा, सर्वांगीण सामाजिक बराबरी तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न जैव रूपों के लक्ष्य का प्रश्न समाहित है। दलित-आंदोलन को इन पर विचार करना है और प्रतिरोध की संस्कृति से आगे समूचे समाज के पुनर्रचित भविष्य रूप के लिए समग्र वैकल्पिक संस्कृति की रूपरेखा तय करने में अपना धनात्मक योगदान करना है।”³

यह बात इतिहास के गर्भ में फिलवक्त छिपी है कि औपनिवेशिक काल में अपने शुरुआती डग भरती दलित-चेतना तथा आजादी के इन पचास वर्षों में आगे आकार ग्रहण की चेतना इस नई सदी में किस दिशा में बढ़ेगी। सोचना यह है कि क्या दलित-चेतना इसी गति से आगे बढ़ती जाएगी, अन्य शोषित उत्पीड़ित तबकों, समुदायों के साथ अपने रिश्ते कायम करते हुए बेहतर, मानवीय, न्यायपूर्ण समाज बनाकर ही दम लेगी या वह फुले-अम्बेडकर-पेरियार की गौरवशाली परम्परा के क्रांतिकारी अन्तर्य से तौबा करते हुए संघ काबिले द्वारा गढ़े गए अल्पसंख्यक-विरोधी हिन्दू में तब्दील होगी? क्या दलित आंदोलन एक नई भविष्यदृष्टि विकसित करने में सफल होगा ताकि विभिन्न सामाजिक विद्रोहियों

ने अपनी मेधा, अपने त्याग, अपनी दूरदेशी के बलबूते जिस रास्ते को रोशन किया है, वह कारवां बेरोक-टोक आगे बढ़ता जाए या वह साम्प्रदायिक फासीवाद के रूप में ब्राह्मणवाद की नए रूप में वापसी के रास्ते को सुगम करेगा?

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. 'हिन्दू के अधिकारों की घोषणा' करते हुए घोषित किया गया संकल्प इस प्रकार है। मानव के जन्मसिद्ध अधिकारों के प्रति प्रतिबद्धता घोषित करते हुए संकल्प संख्या 1 कहती है कि
- क. सभी हिन्दुओं की सामाजिक हैसियत जन्म से एक जैसी होती है। सामाजिक हैसियत की यह समता एक ऐसा गुण है, जो मृत्यु के बाद भी बना रहता है। हो सकता है कि समाज में उनके कामों की दृष्टि से उनमें विभेद और अंतर हो, लेकिन उनके कारण उनकी हैसियत में कोई अंतर नहीं होने चाहिए। अतः यह सम्मेलन ऐसे किसी भी कार्य का विरोध करता है, भले ही वह जीवन के राजनीतिक आर्थिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में हो, जिसके कारण सामाजिक हैसियत में अंतर पैदा होता है।
- ख. सभी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक परिवर्तनों का अंतिम लक्ष्य यही होना चाहिए कि सभी हिन्दुओं की समान हैसियत ज्यों की त्यों बनी रहे। सम्मेलन का यह नज़रिया है। अतः वह हिन्दुओं के ऐसे **समूचे साहित्य का**, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, घोर विरोध करता है, जो हिन्दू समाज व्यवस्था में व्याप्त असमानता के घृणित सिद्धांत का किसी भी प्रकार समर्थन करता है।
- ग. समस्त सत्ता का स्रोत है, जनता। किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का विशेषाधिकारों का दावा तब तक वैध नहीं होता, जब तक जनता उसे मान्यता न दे। अतः यह सम्मेलन हिन्दुओं के कुछ वर्गों को प्राप्त **सामाजिक तथा धार्मिक विशेषाधिकारों** का खंडन करता है, क्योंकि वे वेदों, स्मृतियों और पुराणों पर आधारित हैं, न कि स्वतंत्र लोकमत पर।
- घ. हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे काम करने और बोलने की आजादी हो। इस आजादी पर केवल इसलिए अंकुश लगाया जा सकता है कि उसकी आजादी किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में रुकावट न डाले। इसके अलावा यह अंकुश केवल जनादेश से लगाया जा सकता है। हिन्दू शास्त्रों की किसी निषेधाज्ञा से नहीं। अतः सम्मेलन धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक आजादी संबंधी उन सभी प्रतिबंधों का खण्डन करता है, जो हिन्दुओं के विचार और कर्म पर लगाए गए हैं, क्योंकि उन्हें शास्त्रों ने लगाया है, जनता ने नहीं।
- ड. हिन्दुओं को जन्मसिद्ध अधिकारों के अलावा उनके अन्य अधिकारों से केवल कानून द्वारा ही वंचित किया जा सकता है। कानून जिसका निषेध

करता है उसे करने की पूरी छूट हिन्दू को होनी चाहिए और कानून जिस बात पर मजबूर नहीं करता, उसे करने के लिए हिन्दू को मजबूर नहीं करना चाहिए। इस कारण व्यक्तियों के लिए ऐसी कोई रोक नहीं चाहिए कि वे सार्वजनिक मंदिरों तथा अन्य सार्वजनिक सुविधाओं का उपयोग नहीं कर सकते। जिन मामलों पर कानून ने रोक नहीं लगाई है, उनमें जो रोक लगाते हैं, वे सम्मेलन की राय में **जनशत्रु** हैं।

- च. कानून किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का आदेश नहीं है। **कानून तो परिवर्तन के लिए जनादेश है।** ऐसी स्थिति में श्रद्धारूपद कानून को सबकी सहमति से ही बनाया जाए और निश्चय ही उसे बिना किसी भेदभाव के सब पर लागू किया जाए। जरूरी होने पर सामाजिक विभाजन समाज के हित में किए जा सकते हैं, लेकिन उसका एकमात्र आधार योग्यता (**कर्म**) हो न कि जन्म। यह सम्मेलन हिन्दू समाज व्यवस्था का खंडन एक तो इस आधार पर करता है कि वह समाज का अहित करती है। दूसरा आधार यह है कि वह जन्म पर आधारित है। तीसरा यह कि उसे कोई जनादेश प्राप्त नहीं है।
2. फुले-पेरियार अम्बेडकर द्वारा प्रणित आंदोलन की जो विकास यात्रा रही है उसमें पहले से अन्तर्निहित नारीमुक्ति के प्रश्न की हमेशा ही उपेक्षा हुई है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि आंदोलन के बहुलांश में या तो इसे लेकर अनभिज्ञता है या **ज्योतिबा फुले-सावित्रीबाई** से लेकर बाबासाहब ने नारी-मुक्ति के प्रश्न को आगे बढ़ाने के लिए जो कोशिशें की उन्हें नए मुकाम पर **ले जाने की इच्छाशक्ति का गहरा अभाव है।** हमें यह नहीं भूलना चाहिए इसी आंदोलन की प्रणेता सावित्रीबाई जिन्हें प्रथम भारतीय शिक्षिता कहा जाता है या सूबा महाराष्ट्र में नारी-आंदोलन के बीच आज भी यह नारा प्रचलित है पहिल नमन ज्योतिबाला, ज्याने स्त्रीमुक्ति का जन्म दिला (**पहला प्रणाम ज्योतिबा को जिसने स्त्रीमुक्ति को जन्म दिया**) या 'सत्यशोधक समाज' की कवयित्री ताराबाई शिन्दे (जिन्होंने '**स्त्री-पुरुष तुलना**' नामक ऐतिहासिक पुस्तिका लिखी) को प्रथम भारतीय नारीवादी विचारक कहा जाता है।
3. दलित मुक्ति का प्रश्न : सुभाष गाताडे, उमाशंकर चण्डीगढ़ में '**पंजाब लोकसभ्याचार मंच**' द्वारा नवम्बर 2000 में आयोजित राष्ट्रीय सेमीनार में प्रस्तुत पर्व से, सन्धान 1, अप्रैल 2001।

□□□